जमनालाल बजाज सेवा-ट्रस्ट-माला—२

स्मरणांजलि

गुरुजनों, मित्रों, संबंधियों तथा प्रशंसकों द्वारा

स्वर्गीय जमनालाल बजाज के

संस्मरण

●

संपादक-मंडल

काकासाहब कालेलकर,

हरिभाऊ उपाध्याय, शिवाजी भावे,

श्रीमन्नारायण, मार्तण्ड उपाध्याय

प्राक्कथन

बनारसीदास चतुर्वेदी

●

१९५७

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

जमनालाल बजाज सेवा ट्रस्ट, बंबई
की ओर से
मार्तण्ड उपाध्याय द्वारा
प्रकाशित

पहली बार : १९५७
मूल्य
सजिल्द : अढ़ाई रुपये
अजिल्द : डेढ़ रुपया

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली

प्रकाशकीय

स्व. जमनालालजी बजाज के इष्टजनों का परिवार बड़ा विशाल था। उनकी इच्छा थी कि जमनालालजी के संस्मरणों का एक संग्रह प्रकाशित हो, जिसमें उन व्यक्तियों की भावनाएं समाविष्ट हों, जिन्हें उनके निकट संपर्क में आने का अवसर मिला था। वैसे जमनलालजी की विस्तृत जीवनी प्रकाशित हुई है, लेकिन उसमें वे सब प्रसंग और घटनाएं नहीं आ सकती थीं, जो विभिन्न व्यक्तियों के पास संचित थीं और जो जमनालालजी के जीवन के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डालती थीं। इष्टजनों की इच्छा को ध्यान में रख कर यह संग्रह प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें भारत के नेताओं, कांग्रेसी तथा रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं, मित्रों तथा कुटुंबी जनों के संस्मरण एकत्र किये गए हैं। सारे संस्मरण बड़ी हार्दिकता के साथ लिखे गये हैं और उनमें कुछ तो इतने भावपूर्ण हैं कि पढ़कर आंखें डबडबा आती हैं। कुछ बड़े ही शिक्षाप्रद हैं और कुछ उनके अनुशासन, वात्सल्य, परदुख-कातरता, सेवा-परायणता, निर्भीकता आदि गुणों की मधुर झांकी प्रस्तुत करते हैं। कुल मिला कर पुस्तक उपयोगी बन पड़ी है।

यह प्रकाशन बहुत पहले पाठकों को सुलभ हो जाना चाहिए था, लेकिन देर से भले ही निकल रहा हो, हमें इस बात का संतोष है कि इसके लिए बहुत-से सुंदर संस्मरण प्राप्त हो गये।

पुस्तक का प्रकाशन 'जमनालाल बजाज, सेवा ट्रस्ट, बंबई' की ओर से हो रहा है। लेकिन इसका प्रमुख विक्रेता 'सस्ता साहित्य मंडल' है, 'सर्व सेवा संघ', प्रकाशन-विभाग, वाराणसी से भी इसकी प्रतियां मिल सकती हैं।

हमें खेद है कि स्थानाभाव के कारण बहुत-से संस्मरण हम प्रकाशित नहीं कर सके। आशा है, उनके लेखक क्षमा करेंगे।

हम उन लेखकों के आभारी हैं, जिन्होंने हमारे अनुरोध पर अपने संस्मरण लिख भेजने की कृपा की। पुस्तक का सुंदर प्राक्कथन लिख देने के लिए हम श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी के आभारी हैं।

इस ग्रंथ की तैयारी तथा संपादन आदि में जिन सज्जनों से सहायता मिली है, विशेष करके श्री यशपाल जैन तथा श्री राजबहादुरसिंहजी से, उनके हम विशेष अनुगृहीत हैं।

यह स्मरणांजलि पाठकों को पसंद आई और उनके लिए प्रेरणा का छोटा सा भी स्रोत बनी तो प्रकाशकों को संतोष होगा।

—मार्तण्ड उपाध्याय

दो शब्द

चि. रामकृष्ण ने फिर से एक बार जमनालालजी के मेरे कुछ संस्मरण मैं लिखूं ऐसा आग्रह किया। स्थूल स्मरण तो दिन-ब-दिन भूलता ही जा रहा हूं। सूक्ष्म स्मरण सदैव मेरे मन में रहा है और भूदान-यज्ञ, संपत्तिदान-यज्ञ के रूप में वह प्रगट हो रहा है। जमनालालजी का स्मरण इन कामों में मुझे बल देता है, और मेरा विश्वास है, वह दुनिया के जिस किसी कोने में हों, इस काम के लिए शुभ कामना करते होंगे।

पुस्तक तो, खैर, प्रकाशित होगी, फिर अप्रकाश में जायगी; लेकिन सद्भावना अनंत काल काम करती रहेगी। स्थूल स्मृति के साधन मैंने अपने पास रखे नहीं। पत्र-टिप्पणियां आदि जो समय-समय पर लिखी गईं, अग्नि-नारायण को अर्पित की गईं। अब मेरे साथी मानों उसका प्रतिशोध ले रहे हैं और मेरे पत्रों का व्यर्थ संग्रह कर रहे हैं। मुझे आशा है, भगवान उनको सद्-बुद्धि देगा और सार लेकर असार मिटाने की शक्ति उनमें आयगी। सार जीवन में प्रगट होता है। वह स्वयमेव प्रकाशित है।

—विनोबा

पड़ाव : उकड़ाई
(तंजावर)
२५-१-५७

प्राक्कथन

"आज का-सा अवसर मेरे जीवन में इससे पहले कभी नहीं आया था, और जहांतक मैं सोच पाता हूं, आगे भी कभी नहीं आवेगा। . . .

"जमनालालजी की आंख बंद होते ही मैंने उनके बोझ का बँटवारा शुरू कर दिया है। आप देखेंगे कि जमनालालजी के कामों की जो फेहरिस्त आपको भेजी गई है, उसमें उनके आखिरी काम[1] को पहला स्थान मिला है। यह काम स्वराज्य-प्राप्ति के काम से भी कठिन है। स्वराज्य मिलने से यह अपने-आप नहीं हो जायगा। यह सिर्फ पैसे से होनेवाला काम नहीं। मैं इस बात का साक्षी हूं कि आजीवन अलौकिक निष्ठा से काम करनेवाले उस व्यक्ति ने किस अपूर्व निष्ठा से इस काम को शुरू किया था। उन्हें इस तरह काम करते देखकर एक दिन सहज ही मेरे मुंह से निकल गया था कि जिस वेग से वह काम कर रहे हैं, उसे उनका शरीर सह सकेगा या नहीं? कहीं बीच ही में वह धोखा तो न दे जायगा! आज मेरा यह कथन भविष्य-वाणी साबित हुआ है—मानो उस समय भगवान ही मेरे मुंह से बोल रहे थे। सारांश यह कि यह काम पैसे से नहीं, एकनिष्ठा से ही होने वाला है।"

—महात्मा गांधी

दूसरे दिन की सभा में महात्माजी ने फिर कहा था:

"अगर जमनालालजी की मृत्यु से हम फायदा उठाना चाहते हैं तो हमें बहुत ज्यादा सावधान बनना होगा, बहुत ज्यादा संयम और त्याग सीखना होगा। . . .

"मैं अक्सर सोचता हूं कि अगर हममें से हरएक को एक साल के फौजी अनुशासन का तजरबा रहता तो आज हमारी हालत कुछ और होती। जमनालालजी किसी फौजी विद्यालय में तालीम लेने नहीं गये थे। मगर उन्होंने खुद अपनी कोशिश से अपने अंदर फौजी अनुशासन के गुण-

---

[1] गोसेवा

पैदा कर लिये थे। वैसी ही तालीम हममें से हरएक को खुद लेनी होगी।

"इसलिए कल मैंने अपने से यह तय कर लिया था कि अगर इस मौके पर पैसा इकट्ठा करने के बजाय मैं आपको सावधान कर पाऊं तो वही मेरा सच्चा व्यापार होगा। मैं फिर आपसे कहता हूं कि आप अपने दिल को खूब टटोलकर देखिए और जहां कहीं जड़ता नजर आये, उसे उखाड़ फेंकिए और भविष्य के लिए यही संकल्प करके उठिए कि जो अच्छी सलाह आपको मिलेगी या अंतर से जो प्रेरणा उठेगी उसके अनुसार आप तुरंत काम में जुट जाया करेंगे। जमनालालजी के स्मारक की सच्ची स्थापना का इससे अच्छा या महत्वपूर्ण आरंभ और क्या हो सकता है?"

अगर इस पुस्तक 'स्मरणांजलि' की भूमिका के तौर पर केवल महात्माजी के उपर्युक्त वाक्य ही उद्धृत कर दिये जाते, तो इससे बढ़िया कोई चीज हो नहीं सकती थी। पर अच्छे-से-अच्छे प्रकाशकों से भी कभी-कभी भूल हो जाती है और भाई मार्तण्डजी का यह आग्रह कि पुस्तक के लिए कुछ प्रारंभिक शब्द मैं लिख दूं, इस भूल का साक्षात प्रमाण है।

इस महत्वपूर्ण पुस्तक को मैंने कई दिनतक उषाकाल में स्वाध्याय के तौर पर पढ़ा और जितना मैं आगे बढ़ता गया, उतनी ही मेरी श्रद्धा भी उस स्वर्गीय महापुरुष के प्रति बढ़ती गई। देश के अन्य सैकड़ों कार्यकर्ताओं की भांति मैं भी निजीतौर पर स्वर्गीय जमनालालजी का ऋणी और कृतज्ञ हूं। जब महात्माजी ने मुझे शांतिनिकेतन से बुलाकर बंबई में रखा था, तो उसका खर्च डेढ़ सौ रुपये महीने श्री जमनालालजी ने ही दिया था और तत्पश्चात् कई वर्षतक साबरमती-आश्रम में मेरे प्रवासी भारतीय संबंधी कार्य के लिए उन्हींकी बंबईवाली दुकान से ढाई सौ रुपये महीने आते थे। उन्हींकी दुकान से एक सौ रुपया उधार लेकर मैंने पूर्व अफ्रिका की यात्रा की थी और अपनी बंबई-यात्राओं में तो मैं उनके आदेशानुसार सदैव उन्हींकी दुकान पर ठहरा करता था।

इस ग्रन्थ को पढ़ते हुए यह ज्ञात हुआ कि बड़े-से-बड़े आदमियों से लेकर छोटे-से-छोटे कार्यकर्ताओंतक को किस प्रकार उन्होंने अपना ऋणी बना लिया

था; बल्कि पूज्य काकासाहब के शब्दों में यों कहिए कि किस तरह वे उन सबके स्वजन बन गये थे ।

श्रद्धेय राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है :

"जब हम लोग इस कष्ट-निवारण (भूकम्प-संबंधी कार्य) में लगे हुए थे, मेरे बड़े भाई बाबू महेन्द्रप्रसाद की मृत्यु से मैं व्यक्तिगत रूप से बड़ी विपत्ति में पड़ गया। उस समय जमनालालजी हमारे गांव में कई बार गये और केवल शब्दों द्वारा और साथ रहकर ही हमें सांत्वना नहीं दी, अपितु मेरे सारे कारोबार को सम्भालने का भार भी उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। तब मैं कांग्रेस के अध्यक्ष-पद को स्वीकार कर सका। हमारा कारबार संभालना उस समय कोई सहज काम नहीं था, क्योंकि हम लोगों के ऊपर भारी ऋण का बोझ था। उससे हमको उस समय छुटकारा मिल गया और पीछे चलकर हम उनसे भी ऋण-मुक्त हो गये।"

बंधुवर सीतारामजी सेकसरिया ने जमनालालजी के जीवन की एक बड़ी हृदयस्पर्शी झाँकी अपने लेख में दिखलाई है।

"१९३१ के गांधी-अर्विन-समझौते के बाद जबकि देश में चारों तरफ एक तरह से उल्लास, उत्साह और जोश की लहर-सी उठ रही थी, जमनालालजी को यह फिक्र थी कि आंदोलन की वजह से कितने कार्यकर्ता बीमार हो गये हैं? सरकार की दमन-नीति के प्रहार से कितनी संस्थाएं नष्ट हो गई हैं? मारपीट और गोलाबारी की बदौलत कितने आदमी अपंग और अपाहिज हो गये हैं? उन सबसे मिलना चाहिए और उन्हें दिलासा देकर उनकी मदद करनी चाहिए। गुजरात, बंबई और वर्धा के आसपास के कार्यकर्ताओं से मिलने के बाद उन्होंने बंगाल जाने का विचार किया। मुझे पत्र लिखा कि फलानी तारीख को पहुंच रहा हूं। डाक्टर सुरेश बनर्जी और डाक्टर प्रफुल्लचंद्र घोष से मिलना है। सुरेशबाबू को जेल में टी. बी. हो गई है। दूसरे कार्यकर्ताओं से भी मिलना है। तुम्हें साथ चलना होगा।"

इसके बाद सेकसरियाजी ने सुरेशबाबू और जमनालालजी के मिलने का बड़ा ही हृदय-द्रावक चित्र खींचा है। उसे पाठक इस ग्रन्थ में यथास्थान देखेंगे ही। सेकसरियाजी ने लिखा है :

"जमनालालजी की निगाह में कार्यकर्ताओं का स्थान बहुत ऊंचा था। वह उनको अपने घर के लोगों से ज्यादा प्रेम करते थे। अपने साथ काम करने-वाले देश-सेवकों के दिल में अपने बर्ताव से, अपनी भावना से और अपनी कृतियों से उन्होंने यह विश्वास पैदा कर दिया था कि यदि किसी कार्यकर्ता को कोई शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक या सामाजिक तकलीफ हो तो वह उसकी हर तरह से मदद करेंगे। यही कारण है कि जमनालालजी के चले जाने से आज हज़ारों लोग यह अनुभव करते हैं कि उनका एक जबरदस्त सहारा जाता रहा!"

लगभग चारसौ पृष्ठों का यह ग्रंथ जमनालालजी के जीवन-चित्रों का एक ऐलबम है, जो निस्संदेह अत्यंत मनोहर है और जिसे देखते-देखते तबीयत नहीं ऊबती। इस ग्रंथ को पढ़कर हमारे मन में यह धारणा उत्पन्न होगई कि किसी महापुरुष के जीवन-चरित की अपेक्षा उसके विषय में संस्मरण-ग्रन्थ कहीं अधिक प्रभावशाली बन सकता है।

स्व. जमनालालजी की पुत्री सौ० चि० मदालसा का लेख हमें अच्छा लगा है। वैसे उनकी पूज्य माताजी तथा भाइयों और बहनों के लेख भी काफी अच्छे बन पड़े हैं और उनसे सेठजी के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन लेखों के अच्छे अंशों पर हमने लाल स्याही से इसलिए निशान लगा दिये थे कि उन्हें भूमिका में उद्धृत किया जाय, पर पीछे गिनने पर वे स्थल इतने अधिक निकले कि उनको उद्धृत करने से एक छोटी-मोटी पुस्तिका ही बन जाती!

सेठजी निस्संदेह कुशल व्यापारी थे—केवल आर्थिक जगत् के ही नहीं आध्यात्मिक क्षेत्र के भी, बल्कि यों कहना चाहिए कि उनका आर्थिक व्यापार भी मुख्यतया आध्यात्मिक क्षेत्र की सेवा के लिए ही अर्पित था। उनका रुपया किन-किन व्यापारों में लगा हुआ था, उसके जानने की इच्छा भी हमारे मन में कभी उत्पन्न नहीं हुई, पर इतना हम जानते हैं कि महात्माजी के कार्यों पर उनका जितना भी पैसा लगा, वही इस लोक और परलोक में भी सबसे अधिक मुनाफे का सौदा सिद्ध होगा, क्योंकि वह क्षेत्र ऐसा है, जहां का घाटा भी मुनाफा ही माना जाता है।

बापू ने लिखा था :

"यह मैं कैसे कहूं कि मुझे उनके जाने का दुःख नहीं हुआ ? दुःख होना तो स्वाभाविक था, क्योंकि मेरे लिए तो वही मेरी कामधेनु थे। आफत-मुसीबत हो तो बुलाओ जमनालालजी को, कुछ काम करना हो, कोई जरूरत आ पड़ी हो तो बुलाओ जमनालालजी को, और जमनालालजी भी ऐसे कि बुलाया नहीं और वह आये नहीं। ऐसे जमनालाल का दुःख कैसे न हो ?"

"मेरे लिए तो वही मेरी कामधेनु थे।" स्व. जमनालालजी को किसी प्रमाण-पत्र की आवश्यकता नहीं थी, उनके कार्य ही उनके सबसे बड़े प्रमाण-पत्र थे, फिर भी महात्मा गांधीजी का यह एक वाक्य उनके समाधिस्थल या स्मृति-मंदिर पर लिखे जाने के लिए सर्वोत्तम सिद्ध होगा।

जितने विभिन्न क्षेत्रों के और तरह-तरह के छोटे-बड़े आदमियों की श्रद्धांजलियाँ इस ग्रंथ में इकट्ठी होगई हैं, उतनी शायद ही किसी अन्य व्यक्ति के लिए अर्पित होतीं। किसीका रेखाचित्र चित्रित करने अथवा संस्मरण लिखने में श्री श्रीप्रकाशजी को कमाल हासिल है। वह कोरमकोर प्रशंसा न करके चरित्र का विश्लेषण भी करते हैं—मँजे हुए शब्दों में, तुली हुई भाषा में और अपनी स्वाभाविक शालीनता के साथ। अत्युक्तिमय प्रशंसा या बेशुमार निंदा करना आसान है, पर तूलिका को इस खूबी के साथ चलाना कि छाया तथा प्रकाश का यथोचित सम्मिश्रण होता चले, किसी सिद्धहस्त चित्रकार का ही काम है और इस ग्रंथ में दिये हुए श्रीप्रकाशजी के लेख में उनकी लेखनी का कौशल विद्यमान है।

श्री घनश्यामदासजी बिड़ला ने इस ग्रंथ के ५९वें व ६०वें पृष्ठ पर जमनालालजी के जीवन की सूक्ष्म रूप में जो कहानी सुनाई है वह थोड़े में बहुत कह देने की कला का नमूना है। जिस ग्रंथ में सर्वश्री जवाहरलालजी, काकासाहब कालेलकर, दादा धर्माधिकारी, हरिभाऊ उपाध्याय प्रभृति लेखकों तथा सत्यनारायण, आबिदअली, मार्तण्ड उपाध्याय तथा शोभालाल गुप्त जैसे विभिन्न क्षेत्रों के प्रसिद्ध कार्यकर्त्ताओं की श्रद्धांजलियां एकत्र हों, उसकी भूमिका भला कोई क्या लिखेगा !

इस संग्रह के लेखों को लोग अपनी-अपनी रुचि और मनोवृत्ति के

अनुसार पसन्द करेंगे। मुझे जो लेख सबसे अधिक पसन्द आये हैं, वे हैं १. श्री दामोदर दास मूंदड़ा का 'उनके वे शब्द' और २. श्री रिषभदास राँका का 'गो-सेवक'। सेठजी के निम्नलिखित शब्द हम सबके लिए एक सन्देश रखते हैं :

"एक व्यापारी के नाते मैं प्रतिवर्ष अपने जन्मदिन के अवसर पर अपना पूरा हिसाब जाँच लेता हूँ। अबतक की अपनी कमजोरियों में से मैं किन-किन को दूर कर सकता हूँ और अपनी मानसिक उन्नति के मार्ग में अब भी क्या-क्या रुकावटें हैं—इनका विचार करके, उनका इलाज ढूंढ़ने की आदत मैंने डाल रक्खी है।" सेठजी का यह रूप मेरे सामने पहले कभी नहीं आया था। अमितगति आचार्य के 'सामायिक सार' में एक श्लोक आता है :

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं मनः वचः काय कषाय निर्मितं।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं भिषग्विषं मंत्रगुणैरिवाखिलम् ॥

यानी—"मैं निन्दा, आलोचना और घोर निन्दा द्वारा अपने सांसारिक दुःखों के कारण मन, वचन और शरीर द्वारा किये गए पापों का विनाश करता हूँ, उसी तरह जैसे कोई वैद्य मंत्र-बल से विष का निवारण करता है।"

जैन लोगों द्वारा नित्यप्रति पढ़ी जानेवाली इस पुस्तिका का नाम श्री जमनालालजी ने चाहे सुना हो या न सुना हो, पर इसके अनुसार कार्य अवश्य करते थे। आत्मचिन्तन तथा आत्मशुद्धि के अभ्यासी मनुष्यों के लिए सेठजी का यह उदाहरण अनुकरणीय है।

'गो-सेवक' नामक लेख में सेठजी का जो रूप सामने आता है, उसके सामने हमें नतमस्तक होना पड़ता है। धनी-मानी आदमियों के प्रति साधन-हीन व्यक्तियों के हृदय में एक प्रकार की घृणा होती है और ईर्ष्या भी; और आश्चर्य की बात यह है कि जो आदमी उन धनियों द्वारा उपकृत होते हैं, उनमें यह भावना और भी प्रबल हो उठती है! स्वयं मुझमें इस प्रकार की अशोभनीय भावनाएँ थीं, यह बात मुझे ईमानदारी और लज्जा के साथ स्वीकार करनी पड़ेगी। अब भी मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि वह व्यवस्था ही शीघ्र-से-शीघ्र जड़-मूल से बदल देनी चाहिए, जिसमें दो-चार दानवीर बन सकें और लाखों दान-पात्र। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि

वर्तमान परिस्थिति में उन साधन-सम्पन्न दानशील व्यक्तियों का यथोचित सम्मान होना चाहिए, जो केवल धन से नहीं, तन और मन से भी समाज-सेवा के कार्यों में अपनेको खपा देते हैं। 'गो-सेवक' लेख को पढ़कर यह प्रतीत होता है कि जमनालालजी जीवन के कलाकार थे। जिस कौशल के साथ उन्होंने अपने अंतिम दिन बिताये और जीवन को समाप्त कर दिया, वह लाखों में एकाध को ही प्राप्त होता है। सेठजी को मैंने भिन्न-भिन्न रूपों में देखा था—आतिथ्य करनेवाले यजमान के रूप में, सहृदय दानी के रूप में और राजनैतिक नेता के रूप में; पर वे सब रूप उनके अंतिम दर्शन के सामने नगण्य हैं। अपने अंतिम दिनों में एकाग्र-भाव से कपिला गाय की सेवा करनेवाले जमनालालजी का चित्र निस्संदेह उनका सबसे अधिक आकर्षक चित्र है। वह राजा दिलीप की गो-सेवा की याद दिलाता है, जिसका अत्यन्त मनोहर वर्णन महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में किया है। महात्मा गांधीजी ने कहा था—"आज तो गाय कगार पर खड़ी है। यदि वह डूबी तो हम भी—यानी हमारी संस्कृति भी—उसके साथ डूब जावेंगे।" यदि भारत में गो-माता और ग्रामीण संस्कृति की रक्षा हो सकी तो स्वर्गीय जमनालालजी की आत्मा निस्संदेह गो-लोक में असीम आनन्द का अनुभव करेगी।

जैसाकि मैं ऊपर कह चुका हूं, मैं व्यक्तिगत रूप में सेठजी का ऋणी था। उनकी उदारता का क्या कहना! मैंने कई बार उनकी कठोर आलोचना की थी, पर उन्होंने कभी बुरा नहीं माना। जब वह मद्रास में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति होनेवाले थे, तो निजी तौर पर मैंने उन्हें एक पत्र भेजकर इसका विरोध किया था। मेरा अनुरोध यही था कि उस वर्ष श्री काशीप्रसादजी जायसवाल-जैसे अंतर्राष्ट्रीय कीर्ति प्राप्त इतिहास-लेखक को इस पद पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। श्री जमनालालजी ने अपने विनम्रतापूर्ण पत्र में लिखा, "आपका पत्र बहुत देर से मिला, तबतक गुरुजनों का आदेश मुझे मिल चुका था। अगर यह चिट्ठी पहले मिल गई होती तो जरूर इसपर विचार करता। फिर भी यह आशा तो रखता हूं कि आपका सहयोग मिलेगा ही।" एकाध बार 'विशाल भारत' में भी उनकी आलोचना मुझे करनी पड़ी थी और इस ग्रंथ को पढ़ने के बाद मुझे विश्वास होगया कि मेरी आलोचना सर्वथा निराधार थी। शायद सेठजी के हृदय को क्षण भर

के लिए कुछ बुरा मालूम हुआ होगा, पर उन्होंने मिलने पर कभी उसका जिक्र तक नहीं किया। इस प्रकार की निराधार आलोचनाओं को हँसी में उड़ा देने का उनका स्वभाव ही बन गया था।

पहली बार जब मैं बंबई गया था तो श्री नाथूरामजी प्रेमी के यहां ठहरा। इससे सेठजी नाराज हुए और मेरा सामान उठवाकर अपनी दुकान पर ले गये। इसके बाद तो उन्होंने मुझे अन्यत्र कहीं ठहरने नहीं दिया।

एक दिन की बात तो मुझे विशेष रूप से याद आ रही है। गुजरात विद्यापीठ में मैं पढ़ा रहा था। न मालूम क्यों, मैं उस दिन बड़ा अन्यमनस्क बैठा हुआ था कि इतने में बाहर से किसीने आकर कहा, "सेठ जमनालालजी आपको बुला रहे हैं।" वह विद्यापीठ में पधारे थे। मैंने समझा शायद कोई आवश्यक कार्य होगा। ज्योंही मैं पहुंचा, सेठजी ने कहा :

"कहो चौबेजी ! लड्डू-पेड़े का ठीक प्रबंध तो है, या नहीं ?" मुझे हँसी आगई। मैंने कहा, "क्या इसीलिए मुझे बुलाया था ?" वह बोले—

"अरे भाई ! चौबे लोगों को और क्या चाहिए ?" ऐसा कहकर वे हँसने लगे। मुझे भी खूब हँसी आई।

सेठजी के चले जाने से सैकड़ों ही कार्यकर्ताओं का सहारा चला गया और चौबे लोगों की भाषा में यदि कहा जाय तो हमारे तो एक श्रेष्ठ जिजमान ही उठ गये। आश्रम में प्रवासी भारतीयों की जो थोड़ी-बहुत सेवा मुझसे बन पड़ी, उसमें सेठजी का जबरदस्त हाथ था और तदर्थ मैं उनका जीवन भर ऋणी रहूंगा।

इस ग्रंथ के प्राक्कथन के रूप में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने का जो अवसर मुझे मिला, उसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूं।

१९, नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली
दीपावली, **—बनारसीदास चतुर्वेदी**
२२ अक्तूबर, १९५७

विषय-सूची

परिशिष्ट

स्मरणांजलि

: १ :

वह मेरी कामधेनु थे

मो. क. गांधी

कहा जा सकता है कि मेरे साथ जमनालालजी का सम्बन्ध करीब-करीब तभी से शुरू हुआ, जब से मैंने हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। उन्होंने मेरे सभी कामों को पूरी तरह अपना लिया था, यहांतक कि मुझे कुछ करना ही नहीं पड़ता था। ज्योंही मैं किसी नये काम को शुरू करता, वे उसका बोझ खुद उठा लेते। इस तरह मुझे निश्चिन्त कर देना मानो उनका जीवन-कार्य ही बन गया था।

बाईस वर्ष पहले की बात है। तीस साल का एक नवयुवक मेरे पास आया और बोला, "मैं आपसे कुछ मांगना चाहता हूं।"

मैंने आश्चर्य के साथ कहा, "मांगो। चीज मेरे बस की होगी तो मैं दूंगा।"

नवयुवक ने कहा, "आप मुझे अपने देवदास की तरह मानिये।"

मैंने कहा, "मान लिया! लेकिन इसमें तुमने मांगा क्या? दरअसल तो तुमने दिया और मैंने कमाया।"

यह नवयुवक जमनालाल थे।

वह किस तरह मेरे पुत्र बन कर रहे, सो तो हिन्दुस्तान-वालों ने कुछ-कुछ अपनी आंखों देखा है। जहांतक मैं जानता हूं, मैं कह सकता हूं कि ऐसा पुत्र आजतक शायद किसीको नहीं मिला।

यों तो मेरे अनेक पुत्र और पुत्रियां हैं; क्योंकि सब पुत्रवत् कुछ-न-कुछ काम करते हैं, लेकिन जमनालाल तो अपनी इच्छा से पुत्र बने थे और

उन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया था। मेरी ऐसी एक भी प्रवृत्ति नहीं थी, जिसमें उन्होंने दिल से पूरी-पूरी सहायता न की हो। और वे सभी कीमती साबित हुईं, क्योंकि उनके पास बुद्धि की तीव्रता और व्यवहार की चतुरता, दोनों का सुन्दर सुमेल था। धन तो कुबेर के भण्डार-सा था। मेरे सब काम अच्छी तरह चलते हैं या नहीं, मेरा समय कोई नष्ट तो नहीं करता, मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहता है या नहीं, मुझे आर्थिक सहायता बराबर मिलती है या नहीं, इसकी फिक्र उनको बराबर रहा करती थी। कार्यकर्त्ताओं को लाना भी उन्हींका काम था। अब ऐसा दूसरा पुत्र मैं कहां से लाऊं?

अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए मैं आसानी से उनपर भरोसा कर सकता था, कारण कि जितना उन्होंने मेरे काम को अपना लिया था उतना शायद ही और कोई अपना पाया होगा।

उनकी बुद्धि कुशाग्र थी। वह सेठ थे। उन्होंने अपनी पर्याप्त संपत्ति मेरे हवाले कर दी थी। वह मेरे समय और स्वास्थ्य के संरक्षक बन गए। और यह सब उन्होंने सार्वजनिक हित की खातिर किया।

उनका सबसे बड़ा काम गोसेवा का था। वैसे तो यह काम पहले भी चलता था, लेकिन धीमी चाल से। इससे उन्हें संतोष न था। उन्होंने इसे तीव्र गति से चलाना चाहा, और इतनी तीव्रता से चलाया कि खुद ही चल बसे!

दूसरी चीज लीजिए। खादी के काम में उनकी दिलचस्पी मुझसे कम न थी। खादी के लिए जितना समय मैंने दिया, उतना ही उन्होंने भी दिया। उन्होंने इस काम के पीछे मुझसे कम बुद्धि खर्च नहीं की थी। इसके लिए कार्यकर्त्ता भी वे ही ढूंढ़-ढूंढ़कर मेरे पास लाया करते थे। थोड़े में यह कह लीजिए कि अगर मैंने खादी का मंत्र दिया तो जमनालालजी ने उसको मूर्तरूप दिया। खादी का काम शुरू होने के बाद मैं तो जेल में जा बैठा। मगर वे जानते थे कि मेरे नजदीक खादी ही में स्वराज है। अगर उन्होंने तुरन्त ही उसमें रत होकर उसे संगठित रूप न दिया होता तो मेरी गैरहाजिरी में सारा काम तीन-तेरह हो जाता।

यही बात ग्रामोद्योग की थी। उन्होंने इसके लिए मगनवाड़ी तो दी ही थी, साथ ही उसके सामने की कुछ जमीन भी वे मगनवाड़ी के लिए खरीदने का संकल्प कर चुके थे।

जमनालालजी के दूसरे काम सामने ही हैं। 'महिला-आश्रम' को ही लीजिए। यह उनकी अपनी एक विशेष कृति है। उन्हींकी कल्पना के अनुसार यह अबतक काम करता रहा है। जमनालालजी के सामने सवाल यह था कि जो लोग देश के काम में जुटकर भिखारी बन जाते हैं, उनके बाल-बच्चों की शिक्षा का क्या प्रबन्ध है? उन्होंने कहा कि कम-से-कम उनकी लड़कियों को तो यहां सरकारी मदरसों के मुकाबले अच्छी ही तालीम मिल सकेगी बस, इसी ख्याल से 'महिला-आश्रम' की स्थापना हुई।

बुनियादी तालीम और 'हरिजन-सेवक-संघ' के काम का भी यही हाल है। हिंदू-मुसलिम-एकता के लिए उनके दिल में खास लगन थी। उनके अन्दर साम्प्रदायिक भेद की बू तक न थी।

छुआछूत को हटाने, सांप्रदायिकता से दूर रहने और सब धर्मों के प्रति समान आदर-भाव रखने की जो उनमें उत्कृष्ट वृत्ति थी वह उन्हें मुझसे नहीं मिली थी। कोई भी व्यक्ति अपने विश्वास दूसरों को नहीं सौंप सकता। यह हो सकता है कि जो विश्वास दूसरों में पहले से मौजूद हों, उन्हें प्रकट करने में कोई सहायक हो सके, किन्तु जमनालालजी के उदाहरण में तो मैं यह श्रेय भी नहीं ले सकता कि मैंने उन्हें इन विश्वासों को प्राप्त करने या उन्हें प्रदर्शित करने में सहायता पहुंचाई। मेरे संपर्क में आने से बहुत पहले ही उनके ये विश्वास बन चुके थे और उन्होंने इनका अनुकरण करना शुरू कर दिया था। उनके इन आंतरिक विश्वासों की बदौलत ही हम एक-दूसरे के सम्पर्क में आये और हमारे लिए इतने सालों तक घनिष्ठ सहयोग के साथ काम करना सम्भव हुआ।

जिसको राजकाज कहते हैं वह न मेरा शौक था, न उनका। वे उसमें पड़े, क्योंकि मैं उसमें था; लेकिन मेरा सच्चा राजकाज तो था रचनात्मक कार्य और उनका भी राजकाज यही था।

जहांतक मुझे मालूम है, मैं दावे से कह सकता हूं कि उन्होंने अनीति से एक पाई भी नहीं कमाई, और जो कुछ कमाया उसे उन्होंने जनता-जनार्दन के हित में ही खर्च किया।

जबसे वे पुत्र बने तब से वे अपनी समस्त प्रवृत्तियों की चर्चा मुझसे करने लगे थे। अंत में जब उन्होंने गोसेवा के लिए फकीर बनने का निश्चय किया तो वह भी मेरे साथ पूरी तरह सलाह-मशविरा करके ही किया।

जमनालालजी को छीनकर काल ने हमारे बीच से एक शक्तिशाली व्यक्ति को छीन लिया है। जब-जब मैंने धनवानों के लिए यह लिखा कि वे लोक-कल्याण की दृष्टि से अपने धन के ट्रस्टी बन जायं, तब-तब मेरे सामने सदा ही इस वणिक-शिरोमणि का उदाहरण मुख्य रहा। अगर वह अपनी सम्पत्ति के आदर्श ट्रस्टी नहीं बन पाये तो इसमें दोष उनका नहीं था। मैंने जान-बूझकर उनको रोका। मैं नहीं चाहता था कि वे उत्साह में आकर ऐसा कोई काम कर लें, जिसके लिए बाद में शान्त मन से सोचने पर उन्हें पछताना पड़े। उनकी सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। अपने लिए उन्होंने जितने भी घर बनाये, वे उनके घर नहीं रहे, धर्मशाला बन गये। सत्याग्रही के नाते उनका दान सर्वोत्तम रहा। राजनैतिक प्रश्नों की चर्चा में वह अपनी राय दृढ़तापूर्वक व्यक्त करते थे। उनके निर्णय पुख्ता हुआ करते थे। त्याग की दृष्टि से उनका अन्तिम कार्य सर्वश्रेष्ठ रहा। वे किसी ऐसे रचनात्मक काम में लग जाना चाहते थे, जिसमें वे अपनी पूरी योग्यता के साथ अपने जीवन का शेष भाग तन्मय होकर बिता सकें। देश के पशु-धन की रक्षा का काम उन्होंने अपने लिए चुना था, और गाय को उसका प्रतीक माना था। इस काम में वह इतनी एकाग्रता और लगन के साथ जुट गये थे कि जिसकी कोई मिसाल नहीं। उनकी उदारता में जाति, धर्म या वर्ण की संकुचितता को कोई स्थान न था। वे एक ऐसी साधना में लगे हुए थे, जो कामकाजी आदमी के लिए विरली है। विचार-संयम उनकी एक बड़ी साधना थी। वे सदा ही अपनेको तस्कर विचारों से बचाने की कोशिश में रहते थे।

उनके अवसान से वसुन्धरा का एक रत्न कम होगया है। उनको खोकर देश ने अपना एक वीर-से-वीर सेवक खोया है।

जिस रोज मरे, उसी रोज जानकीदेवी के साथ वे मेरे पास आनेवाले थे। कई बातों का निर्णय करना था, लेकिन भगवान् को कुछ और ही मंजूर रहा। ऐसे पुत्र के उठ जाने से बाप पंगु बनता ही है। यही हाल आज मेरा है।

यह मैं कैसे कहूं कि मुझे उनके जाने का दुःख नहीं हुआ ? दुःख होना तो स्वाभाविक था, क्योंकि मेरेलिए तो वही मेरी कामधेनु थे। आफत-मुसीबत हो तो बुलाओ जमनालालजी को; कुछ काम करना हो, कोई जरूरत आ पड़ी तो बुलाओ जमनालालजी को, और जमनालालजी भी ऐसे कि बुलाया नहीं, और वे आये नहीं। ऐसे जमनालाल का दुःख कैसे न हो ? लेकिन जब उनके किये कामों को याद करता हूं और हमारे लिए वे जो सन्देश छोड़ गए हैं, उसका विचार करता हूं तो अपना दुःख भूल जाता हूं।

जमनालालजी का स्मृति-स्तंभ खड़ा करके हम उनकी याद को चिरस्थायी नहीं बना सकते। स्तम्भ पर खुदे हुए शिलालेख को तो लोग पढ़कर थोड़े ही समय में भूल जायंगे, परन्तु जिस आदमी ने दुनिया के लिए इतना कुछ किया है, उसके काम को चिरस्थायी रखने का संकल्प कोई कर ले, तो वह उसका सच्चा स्मारक होगा।

●

जमनालालजी के बारे में लिखना बड़ा मुश्किल है। किसीका बाप मरे, किसीका भाई मरे तो उसपर कोई लेख कैसे लिखा जा सकता है ? कोई दूर का सम्बन्ध होता तो बहुत अच्छा लिख देता। पर उनके बारे में लिखना बड़ा कठिन है।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

: २ :

जिनके हम सदा ऋणी रहेंगे

राजेन्द्रप्रसाद

मुझे यह ठीक याद नहीं है कि पहले-पहल सेठ जमनालालजी से मेरी मुलाकात कब हुई, पर उनके सुखद आतिथ्य का मुझे जो पहले-पहल आस्वादन मिला, वह अच्छी तरह से याद है। १९१७ के दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। महात्मा गांधी जब चम्पारन से कलकत्ता-कांग्रेस में पधारे (चम्पारन में उनके साथ काम करने का मुझे सुअवसर मिला था) उसी समय से हम एक प्रकार से अपनेको उनके कुटुम्ब का एक सदस्य मानने लगे थे। कलकत्ता-कांग्रेस के समय महात्मा गांधी के आतिथ्य का भार जमनालालजी ने लिया था। गांधीजी के साथ केवल मैं ही नहीं, बल्कि कतिपय और बिहारी-भाई भी कलकत्ते गये और जमनालालजी के अतिथि बनकर रहे। जिस प्रेम और प्रसन्नता के साथ उन्होंने हम लोगों को पाहुना बनाकर रक्खा, उसका सुखद अनुभव, जहां हम दोनों एक साथ हुए, हमें बराबर मिलता रहा और उनके बाद भी उनकी सहधर्मिणी और उनके पुत्रों द्वारा हमें अब भी मिलता है। मैंने उस वक्त देख लिया कि उनको अतिथि-सत्कार में कितना सच्चा आनन्द मिलता था। यह अनुभव भारत के अनेकानेक राजनैतिक और सामाजिक सेवकों का रहा है और जबसे महात्माजी वर्धा, सेवाग्राम में जाकर रहने लगे तब से बहुतेरी कांग्रेस की कार्यकारिणी बैठकें वहीं होती रहीं। जब भी वहां जाता, उनका अतिथि होकर रहता, यहांतक कि उनके अतिथि-भवन में हम लोगों के कमरे बन गये थे, जिनमें जाकर हम बराबर रहा करते थे और जो हम लोगों के नाम से मशहूर होगये थे। इसमें वे केवल आनन्द ही नहीं पाते थे, बल्कि एक कर्त्तव्य-पूर्ति भी अनुभव करते थे।

पर यह समझना गलत होगा कि उन्होंने बड़े नेताओं के आतिथ्य को ही अपना एक बड़ा काम मान लिया था। उनके नजदीक बड़े और छोटे सबकी बराबर पहुंच थी और कितने ही सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अपने दुःख-सुख की बात लेकर उनके पास पहुंचते और वे प्रसन्नतापूर्वक सलाह से और जहां जरूरत होती धन से, सहायता करते। उन बड़ी रकमों के अलावा, जो उन्होंने प्रकाश रूप से सार्वजनिक कामों और संस्थाओं को दीं, कई तरह के गुप्तदान, जिनको पानेवाले के अलावा शायद ही दूसरा कोई जानता हो, अनगिनत थे। उन्होंने धन होते हुए भी अपने जीवन को इतना सादा बना लिया था और खर्च पर इतना नियंत्रण रखते थे कि पैसे-पैसे का खयाल करते थे। इसका एक सादा उदाहरण यह है कि जब कभी उनको सफर करना होता (बराबर ही करते थे), तो कभी तीसरे दरजे से ऊपर के दरजे में नहीं जाते थे। इतना ही नहीं, जहां कहीं भी पोस्टकार्ड से काम चलता हो, वहां लिफाफा डाक से नहीं भेजते थे, तार की बात ही कौन कहे! हम लोग भी कभी उनके पास अपने पहुंचने की सूचन तार द्वारा देते तो वे टोक देते थे और कह देते थे कि जब आने की तिथि निश्चित ही थी तो पत्र द्वारा सूचना दी जा सकती थी और तार का खर्च बचाया जा सकता था। इस तरह की मितव्ययिता सार्वजनिक कामों के लिए और भी सख्ती के साथ बरती जाती क्योंकि जमा किये हुए पैसों को वे अपनी कमाई से अधिक मूल्यवान समझते थे और उसको खर्च करने में बड़ी सख्ती किया करते थे। इसलिए केवल कांग्रेसी लोगों को ही नहीं, बल्कि सब आदमियों को उनपर बहुत विश्वास था और कांग्रेसी अपने किसी भी काम के लिए, चाहे वह कांग्रेस के अधिवेशन के लिए हो, चाहे किसी भी रचनात्मक कार्य के लिए हो, पैसे जमा करने का भार व्यापारियों से, चाहे वे बम्बई में रहते हों अथवा कलकत्ते में, नागपुर या कानपुर में, उनपर ही रहता था। और कांग्रेस का कोई भी काम रुपयों की कमी की वजह से रुकने नहीं पाता था। इस तरह की व्यापार-बुद्धि उन्होंने कम उम्र से अपने निजी व्यापार में लगे रहने के कारण तीव्र कर ली थी और इसी वजह से व्यापार में जबतक वे लगे रहे वैसी सफलता और

ख्याति प्राप्त करते रहे जैसी व्यापार छोड़कर सार्वजनिक कामों में वे लगे, उसमें उन्होंने पाई ।

जबसे वे सार्वजनिक काम में आये, उन्होंने व्यापार के काम से अपने को आहिस्ता-आहिस्ता अलग किया और इसका भार अपने दूसरे लोगों पर छोड़ा । इतना जरूर रहा कि महत्वपूर्ण बातों के संबंध में उनके कर्मचारी उनसे सलाह कर लिया करते थे । यद्यपि उन्होंने अपने कारबार को सिकोड़ने का प्रयत्न किया और आदेश दिया, पर वह बहुत कम नहीं हुआ और सम्पन्नता बढ़ती ही गई, जिसका लाभ देश को और देश के सेवकों को अनेक रूपों में मिलता गया । जमनालालजी की बड़ी खूबी यह थी कि जिससे उनका परिचय-प्रेम हो जाता, उसको वे अपने परिवार का ही बना लेते और उसके सुख-दुःख की सभी बातें जानने की इच्छा रखते और कोशिश करते रहते, साथ ही जहां आवश्यकता होती, केवल सलाह-मशविरे से ही नहीं दूसरे तरीकों से भी खुले दिल और खुले हाथ सहायता करते । न मालूम कितने ऐसे लोग होंगे, जिनकी उन्होंने तंगी के समय में पैसे से मदद की होगी, चाहे वह दान के रूप में हो, चाहे कर्ज के ।

ये गुण अक्सर नहीं पाये जाते । दूसरे बहुतेरे दानी हैं, पर कुछ दान पूंजी के रूप में लगाये जाते हैं, कुछ अहसान जताने के लिए दिये जाते हैं, कुछ दया की भावना से प्रेरित होकर । ऐसे विरले ही मिलेंगे, जो दान को दान नहीं समझते हों और लेनेवाले पर अहसान नहीं रखना चाहते हों । जमनालालजी उन विरले लोगों में से थे, जो इसको अपना सद्भाग्य समझते थे कि उनको पैसे-जैसे तुच्छ साधन द्वारा सेवा करने का सुअवसर मिला ।

इससे भी बढ़कर उनका यह गुण था कि जिस काम को वह लेते, उसमें इतने तन्मय हो जाते कि दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते उसको सोचा करते और उसको आगे करने के प्रयत्न में मनसा, वाचा, कर्मणा लगे रहते ।

उनकी रुचि विशेषरूप से रचनात्मक काम में थी, पर राजनीति से वह बिल्कुल अलग नहीं रहते थे । उनका विश्वास था कि भारत की परिस्थिति में बड़ी-से-बड़ी सेवा भी रचनात्मक कार्य द्वारा ही की जा सकती है और

इसलिए महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम में उनको पूर्ण और अटल विश्वास था। उसके अनेकानेक अंगों की पूर्ति में वह बराबर लगे रहे। रचनात्मक कार्यक्रम में उन्होंने सबसे पहले खादी का काम हाथ में लिया। महात्माजी के जेल चले जाने के बाद खादी का काम चलाने के लिए खादी-बोर्ड की स्थापना हुई और उसको 'तिलक-स्वराज्य-फण्ड' से खादी का काम चलाने के लिए पैसे दिये गए। उन पैसों से और कुछ ऊपर से जमा करके उन्होंने संगठित रूप से खादी के काम का संगठन किया। इसके पहले भी कुछ काम हो रहा था और बोर्ड की स्थापना के बाद वह संगठित रूप से सारे देश में जहां-कहीं काम हो सकता था और कार्यकर्त्ता मिल सकते थे, आरम्भ हुआ। इसलिए जब 'अखिल भारतीय चर्खा-संघ' का जन्म कई बरसों बाद हुआ तो उसे एक संगठित खादी-संस्था मिली, जिसका परिवर्द्धन और प्रसार इसका मुख्य कर्त्तव्य हुआ। जमनालालजी चर्खा-संघ की कार्य-कारिणी के आजीवन सदस्यों में थे और उसमें उन्होंने व्यवहार-बुद्धि, मितव्ययता और संगठन-शक्ति का पूरा परिचय दिया।

जबसे अछूतोद्धार और हरिजन-सेवा पर विशेष जोर दिया जाने लगा, उसमें कार्यरूप से तत्पर और तल्लीन होकर वह काम करने लगे। उनका यह काम केवल परोपदेश में सीमित नहीं रहा, अपने जीवन में, अपने परिवार के जीवन में, उन्होंने इसे इतनी सफलतापूर्वक उतारा कि उनके यहां किसी प्रकार की भी कोई कमी महसूस नहीं कर सकता था। केवल हरिजनों के घरों तक आने-जाने के काम तक ही सीमित न रखकर, स्वयं उनके बीच में वह रहे भी और यह बात एक स्थान पर ही नहीं, बल्कि जहां-जहां वह गये, अपने आचरण से और हरिजनों के साथ मिल-जुलकर कांग्रेस और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के लिए एक उदाहरण और आदर्श उपस्थित किया।

हिन्दी-प्रचार में उनकी दिलचस्पी आरंभ से ही रही और इसके लिए पैसे से, शरीर से और प्रचार से उन्होंने काफी मदद दी।

जब महात्मा गांधी ने गोसेवा का व्रत निर्धारित किया तो वह उसमें

सबसे पहले आगे बढ़े। यह काम उनके जीवन का अंतिम महत्वपूर्ण काम था, जिसमें उन्होंने दिल से जी-तोड़ परिश्रम किया। इस प्रकार और कामों के संगठित प्रसार में उनकी कुशाग्र बुद्धि और व्यापारिक अनुभव उपयोगी सिद्ध होते, पर अभाग्यवश उनका देहावसान होगया।

ऊपर मैंने रचनात्मक कार्य के साथ उनका घनिष्ठ संबंध बताया है पर ठेठ राजनैतिक क्षेत्र में, अंग्रेजी उन्होंने कम पढ़ी थी, इसलिए अंग्रेजी में व्याख्यान देना अथवा कुछ स्वयं लिख लेना वह उचित नहीं समझते थे, पर अपने विचारों को बताकर दूसरों से प्रस्तावों तथा स्मरण-पत्रों और लेखों को भी लिखवा लेते थे और अंग्रेजी के प्रारूपों के प्रत्येक शब्द को बहुत बारीकी से समझने और जानने की कोशिश करते थे। कहीं-कहीं तो दूसरों द्वारा तैयार प्रारूपों में बारीक-से-बारीक अर्थ निकाल लेते व अच्छे-से-अच्छा सुझाव भी दे देते। इस तरह १९२१ से ही, जब से वह वर्किंग कमिटी के सदस्य हुए, उसके सभी निश्चयों में उनका पूरा सहयोग रहा।

असहयोग का प्रस्ताव स्वीकृत होते ही उन्होंने देख लिया कि बहुतेरे लोग अपनी वकालत इत्यादि छोड़ेंगे और उनमें ऐसे लोग भी होंगे, जिनके निर्वाह-व्यय का किसी-न-किसी प्रकार से बन्दोबस्त करना होगा, इसलिए उन्होंने अपनी ओर से बड़ी रकम इस काम में लगाने के लिए घोषित कर दी। यह उन्होंने 'तिलक स्वराज्य फंड' के लिए पैसे जमा करने के निश्चय के बहुत पहले ही कर दिया था और इसमें सन्देह नहीं कि सारे देश में बहुतेरे लोगों को इस कोष से निर्वाह-व्यय मिला और वे निश्चिंत होकर काम कर सके।

वह गांधीजी के अनन्य भक्त थे और इसलिए उनके द्वारा निर्धारित कार्यक्रम में उनका अटल विश्वास था। इस कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग यह था कि उस समय के संविधान के अनुसार जो विधान-सभाएं बनें उनकी सदस्यता के लिए किसीको न तो उम्मीदवार होना चाहिए और न मत देना चाहिए। जब महात्माजी के जेल चले जाने के बाद विधान-सभाओं में जाने या न जाने के प्रश्न पर जोरों का वाद-विवाद उठा तो वह बहुत

जोरों से निषेध का समर्थन करते रहे। जब यह देखा कि कांग्रेस के अन्दर दो मत होगये और कुछ लोगों का रचनात्मक काम में इतना जबरदस्त विश्वास नहीं था, जितना वह जरूरी समझते थे, तब उन्होंने 'गांधी-सेवा-संघ' नामक संस्था की स्थापना की, जिसमें विशेष करके वे लोग लिये गए, जो रचनात्मक कार्य करना चाहते थे। हालांकि इस संस्था को विशेष करके रचनात्मक काम के लिए बनाया गया था और उसको ठेठ राजनीति से अलग रखा गया था, तो भी जब 'स्वराज्य पार्टी' की स्थापना हुई तो उसपर आक्षेप किया गया कि यह एक राजनैतिक दल है। यह आक्षेप बिल्कुल निराधार था। यह संस्था रचनात्मक काम में ही लगी रही, यद्यपि उसके सदस्य व्यक्तिगत रूप से राजनीति से बिल्कुल अलग नहीं रहे। उदाहरणार्थ, सरदार वल्लभभाई पटेल और मैं बराबर इस संस्था में रहे, कांग्रेस का काम भी किया और रचनात्मक काम भी, पर इस संस्था का उपयोग कभी कांग्रेस से हमने अपने विचारों के समर्थन के लिए नहीं किया। १९२३ में जबलपुर में राष्ट्रीय झंडे को लेकर सरकार से अनबन होगई और नागपुर में सत्याग्रह भी आरंभ किया गया। इसका नेतृत्व जमनालालजी जबतक बाहर रहे, करते रहे, और उनके जेल चले जाने के बाद श्री विट्ठलभाई पटेल और सरदार वल्लभभाई पटेल ने नेतृत्व किया और सफलतापूर्वक समाप्त किया।

जब-जब कांग्रेस ने सत्याग्रह छेड़ा, वह उसमें शरीक हुए और जेल की सजा भी उन्होंने भोगी। उनकी बड़ी उत्कट इच्छा थी कि महात्मा गांधी वर्धा में जाकर रहें। १९३० के सत्याग्रह के पहले वहांपर जो आश्रम कायम किया गया था उसमें महात्माजी जाकर कभी-कभी कुछ दिनों के लिय ठहरा करते थे। पर उनका मुख्य स्थान साबरमती का सत्याग्रह-आश्रम ही था। जब १९३० के सत्याग्रह के समय नमक-सत्याग्रह के लिए साबरमती से महात्माजी अपने अनुयायियों के साथ पैदल-यात्रा के लिए निकले थे, उन्होंने घोषणा की थी कि या तो वह स्वराज्य लेकर ही आश्रम में लौटेंगे, नहीं तो नहीं, और जब उस आन्दोलन के फलस्वरूप स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हुई तो फिर वह साबरमती-आश्रम में नहीं गये और वर्धा में

जाकर रहने लगे, जहां जमनालालजी ने अपने बगीचे के एक मकान में उनको ठहराया, जो पीछे चलकर 'मगनवाड़ी' के नाम से मशहूर होगया और कुछ दिनों के बाद सेवाग्राम में जाकर, जो उस समय 'सेगांव' के नाम से मशहूर था, नया आश्रम कायम किया और गांव का नाम भी बदलकर सेवाग्राम कर दिया गया। कुछ दिनों तक महात्माजी महिला-आश्रम में ठहरे थे, जिसकी स्थापना जमनालालजी ने ही की थी। उसके बाद से अन्त तक सेवाग्राम का आश्रम ही महात्माजी का निवास-स्थान बना रहा, यद्यपि उनके अंतिम कई महीने वहां से बाहर ही बीते और दिल्ली में उनका स्वर्गवास हुआ। इस तरह जमनालालजी की यह इच्छा पूरी हुई और वर्धा बापू का निवास-स्थान बना।

मैं स्वयं वर्किंग कमेटी की बैठकों के अलावा भी वर्धा बहुत जाया करता था और वहां अपने स्वास्थ्य के कारण महीनों रहा करता था, क्योंकि वहां का जलवायु मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल पड़ता था और जमनालालजी का प्रेम मुझे वहां खींच ले जाता था। सभी चीजों का उन्होंने प्रबंध कर रखा था, साथ ही महात्माजी और जमनालालजी के सहवास का अवसर भी मिलता था।

जिस समय सेवाग्राम-आश्रम बना, वहां सड़क नहीं थी। मुश्किल से हम लोग बैलगाड़ी से वहां आया-जाया करते थे। आहिस्ता-आहिस्ता पक्की सड़क बन गई। जमनालालजी के उत्साह और आग्रह से सेवाग्राम रचनात्मक संस्थाओं का केन्द्र बन गया। जमनालालजी की यह आदत थी कि सभी चीजों को बहुत बारीकी से देखा करते थे और जिन संस्थाओं के साथ उनका संबंध हो जाता था, उनकी सभी बातों की देख-रेख किया करते थे।

जब सन् १९३४ की जनवरी में बिहार में भयंकर भूकम्प आया तो वहां बड़े पैमाने पर सेवा और सहायता का काम आरंभ किया गया। महात्मा गांधी वहां गये। जमनालालजी भी पहुंचे और कई महीनों तक रह कर इस काम में बहुत ही परिश्रम से उन्होंने मदद की। काम फैला हुआ था और इस बात का हमेशा खयाल रखा जाता था कि कहीं किसी बात में

फिजूलखर्ची न होने पाये। उसकी जिम्मेदारी बाहर से आये हुए तीन आदमियों ने अपने ऊपर ले ली—सेठ जमनालाल बजाज, आचार्य कृपालानी, और जे. सी. कुमारप्पा। जमनालालजी की प्रेरणा से कई अनुभवी कार्यकर्त्ता भी गये, जो गांव में बहुत दिनों तक रहकर सेवा करते रहे। सेठजी की कार्यकुशलता का अनुभव तो हम लोगों को पहले से ही था, उस विपत्ति-काल में हम और भी देख सके।

जब हम लोग इस कष्ट-निवारण के काम में लगे हुए थे, मेरे बड़े भाई बाबू महेन्द्रप्रसाद की मृत्यु से मैं व्यक्तिगत रूप से बड़ी विपत्ति में पड़ गया। उस समय जमनालालजी हमारे गांव में कई बार गये और केवल शब्दों और साथ रहकर ही हमें सान्त्वना नहीं दी, अपितु मेरे सारे कारोबार को संभालने का भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। तब मैं कांग्रेस के अध्यक्ष-पद को स्वीकार कर सका। हमारा कारबार संभालना उस समय कोई सहज काम नहीं था, क्योंकि हम लोगों के ऊपर भारी ऋण का बोझ था। उससे हमको उस समय छुटकारा मिल गया और पीछे चलकर हम उनसे भी ऋण-मुक्त होगये।

जमनालालजी बहुतेरे सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के साथ घनिष्ठ संबंध रखा करते थे और जिससे उनका सम्पर्क हो जाता था, उसके दु:ख-सुख, उसकी समस्याओं और उसकी दिक्कतों से अपनेको परिचित कर लेते थे और यथासाध्य सहायता करते थे। इस प्रकार बहुतेरे घरों में उन्होंने लड़के-लड़कियों की शादी ठीक कर देने और करा देने में बहुत सहायता की। सरदार वल्लभभाई ने, जो अत्यन्त विनोदी थे और लोगों को अक्सर ऐसे नाम दिया करते थे, जिनको सुनकर लोग हँसा करते थे, जमनालालजी को 'शादीलाल' का नाम दे दिया था।

मेरे एक मित्र स्व० मथुराबाबू बराबर मेरे साथ आया-जाया करते थे। वर्धा भी वह बराबर मेरे साथ रहा करते थे। उनको शतरंज खेलने का शौक था और जमनालालजी को भी। मैं भी कुछ शतरंज खेल लेता हूं, पर मथुराबाबू जैसा मुझे उसका चाव नहीं था। वर्धा में अक्सर

सेठजी से उनकी शतरंज की बाजी होती। जमनालालजी चतुर शतरंज खेलनेवाले थे और अक्सर वही जीता करते थे। मैं स्वयं नहीं खेलता था, पर तटस्थ निरीक्षक की तरह खेल देखा करता था और कभी बीच-बीच में जिधर जी चाहा, कुछ चालें सुझा दिया करता था। इसका फल यह होता कि चाहे कोई जीते या हारे, मैं न जीतता था, न हारता था।

खाने के समय जब सब लोग बैठते थे तो हमेशा इस बात का मजाक हुआ करता था कि यद्यपि जमनालालजी सबको खूब खिलाते-पिलाते हैं और आराम से रखते हैं, पर कंजूसी बहुत करते हैं। इस मजाक में भी बहुत करके सरदार ही हिस्सा लिया करते थे।

आज जमनालालजी के गुणों के साथ ये विनोदपूर्ण संस्मरण भी याद आते हैं और उनकी याद करके कभी हँसी आती है और कभी उनका अभाव महसूस करके हृदय भारी हो जाता है।

: ३ :

सगे भाई

वल्लभभाई पटेल

जमनालालजी ने प्रतिज्ञा की थी कि वे रेल या मोटरगाड़ी में नहीं बैठेंगे। उनकी प्रतिज्ञा १५ तारीख को समाप्त होनेवाली थी। उसके बाद उन्होंने हजीरा में आकर मेरे साथ विश्राम लेने का वादा किया था। इसके बदले वे अपने अनन्त विश्राम में चले गए। इससे अच्छी मौत हो नहीं सकती। परन्तु कहावत है—'सैकड़ों को मरने दो, पर सैकड़ों के पालक को नहीं।' देश के विभिन्न भागों के हमारे सैकड़ों कार्यकर्त्ता अपनी झोंपड़ियों में बैठे मूक आँसू बहा रहे होंगे। बापू ने सच्चा बेटा खोया। जानकीदेवी और परिवार ने सच्चा शरणदाता, देश ने सच्चा सेवक, कांग्रेस ने एक शाही स्तम्भ, गौ ने अपना सच्चा मित्र, कितनी ही संस्थाओं ने अपना संरक्षक और हम सबने तो प्यारा सगा भाई खो दिया। मैं बड़ी शून्यता और एकाकीपन अनुभव करता हूं।

: ४ :

उनकी जगह लेनेवाला कोई नहीं

जवाहरलाल नेहरू

सन १९१९ में भारत के लंबे इतिहास में एक नये युग की शुरुआत हुई। इससे पहले भारत में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी गांधीजी काफी प्रख्यात हो चुके थे। पर सन् १९१९ में तो वे एक तेज सितारे की तरह भारत के विशाल रंगमंच पर चमक उठे। लाखों लोगों की श्रद्धा के केन्द्र तो वे बन ही चुके थे। साथ ही इस समय तक जुदा-जुदा प्रवृत्तियोंवाले श्रद्धालु लोगों का एक बड़ा मजमा भी उनके आसपास आ जुटा था।

हमारा यह जमघट बड़ा अजीबोगरीब था। हम लोग एक-दूसरे से बिल्कुल अलग थे। हमारी पृष्ठ-भूमियां अलग थीं, जीवन-प्रणालियां अलग थीं, विचार-धाराएं भी अलग थीं। लेकिन इसके बावजूद हममें कुछ-न-कुछ समानता जरूर रही होगी, जो हमें उस अद्भुत विभूति की ओर बरबस खींचती थी।

उस समय गांधीजी के नजदीक आने और उनके गिने-चुने आत्मीय जनों में निकट का स्थान पानेवालों में जमनालाल बजाज एक थे। जहांतक मेरा खयाल है, उनसे मेरी पहली मुलाकात सन् १९२० के कांग्रेस-अधिवेशन में हुई थी। गांधीजी के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोगियों के तौर पर काम करते हुए हम अकसर मिलते रहे और हमारा परिचय काफी घनिष्ठ होता गया। स्वभावतः हम एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे और मुमकिन है कि दूसरी परिस्थितियों में यह घनिष्ठता पैदा होने का मौका ही न आता। मेरे खयाल से हमने एक-दूसरे की कीमत समझी और हमारा आपसी प्रेम और आदर आहिस्ते-आहिस्ते बढ़ता ही गया। जमनालालजी के प्रति निश्चय ही मेरा आदर बढ़ गया और प्रेमवश मैं उनको एक निकट का पारिवारिक व्यक्ति समझने लगा। हमारी विचार-प्रणालियां भिन्न होने के बावजूद मैं अपने घरेलू तथा सार्वजनिक मामलों में सलाह लेने अक्सर उनके

पास जाया करता था, क्योंकि मैंने यह देख लिया था कि वह बड़े ध्येय-निष्ठ और व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे।

हम दोनों अपने-अपने दृष्टिकोण से गांधीजी को श्रेष्ठ तथा महान व्यक्ति मानते थे। उनके नेतृत्व में उनके साथ ही हम दोनों भी एक ही ध्येय की साधना में बढ़ते गये। जिस महान आन्दोलन में हमने हिस्सा लिया उसके कई पहलू थे, और सभी ढंग के लोग उसकी ओर आकर्षित हुए। उसमें भारत की अनगिनत जनता थी। बुद्धिजीवी और समाजवादी, जमींदार और किसान, पूंजीपति और मजदूर, व्यापारी और कारीगर, सभी थे। एक अजीब मेला था। सबका समावेश करनेवाले उस आन्दोलन में हम सबने अपना-अपना छोटा-बड़ा हिस्सा अदा किया। यह कहना मुनासिब होगा कि जमनालालजी इस आन्दोलन में एक विशेष और अनोखी प्रतिभा लेकर आये। हममें से लगभग सभी लोग औरों की तरह ही थे। हमारे बिना शायद काम चल भी जाता, पर जमनालालजी तो अपने ढंग के एक ही थे। उनके-जैसे और लोग इस आन्दोलन में उनकी-सी निष्ठा के साथ शरीक नहीं हुए थे। इस वजह से वे हमारे लिए और भी कीमती थे। सत्य के प्रति निष्ठा और कर्तव्य-परायणता के कारण वे हमारे प्रिय बन गये थे।

.. .. ..

ज्योंही मैं सभामंच पर चढ़ा, मुझे जमनालालजी की मृत्यु की खबर सुनाई गई। मुझे बिल्कुल विश्वास नहीं हुआ। मैंने सोचा—कुछ ही दिन हुए तब तो मैं उनसे मिला था और उन्हें जीवन और शक्ति से परिपूर्ण पाया था। उनके दिल में सार्वजनिक कार्य की कई समस्याएं थीं। वह कैसे मर गये? पर मेरा विश्वास टिक न सका, क्योंकि इस दु:संवाद का समर्थन जगह-जगह से होता गया। तब तो मुझे अचानक जो आघात पहुंचा, उसका पार नहीं रहा। रह-रहकर मन दूर वर्धा में पहुंच जाता था, जो जमनालालजी से अभिन्न बन गया था। २२ बरस से सार्वजनिक जीवन में, मित्रता में और घरेलू मामलों में भी मेरा उनका घनिष्ठ संपर्क था।[१]

---

[१] १८ दिसम्बर १९३३ को नेहरूजी ने जमनालालजी को जो पत्र

इस बात को महसूस करते हुए तकलीफ होती है कि अपने उस प्यारे दोस्त की सलाह अब मुझे न मिला करेगी। यों तो हमारे यहां कई राजनीतिज्ञ हैं और प्रसिद्ध हैं, जिनकी सेवा और सार्वजनिक कार्य का लेखा अच्छा है, लेकिन जमनालालजी उनमें एक ही थे और उनकी जगह भर सकनेवाला दूसरा कोई न रहा। इस भयंकर संकट-काल में उनको खो बैठना तो एक ऐसा प्रहार है, जिसे भूला नहीं जा सकता।

लिखा था, उससे पारस्परिक घनिष्टता की बड़ी सुखद झांकी मिलती है। वह पत्र इस प्रकार है :

"आप हमारे लिए जो कुछ कर रहे हैं उसके बारे में यदि मैं अपनी कृतज्ञता आपके प्रति प्रदर्शित करूं तो, आशा है, आप उसे अनुचित समझेंगे। आप कहेंगे कि दोस्तों और भाइयों के बीच ऐसी जाहिरदारी नहीं होनी चाहिए। कुछ हद तक यह सही है, मगर फिर भी कमला और मैं, दोनों महसूस करते हैं कि इसमें कोई जाहिरदारी की बात नहीं है और हमें आपके प्रति उस तमाम प्रेम, चिन्ता और ध्यान के लिए, जो आप हमारी सहायता के लिए और हमें अपने कुछ चिन्ता-भार से छुड़ाने के लिए, काम में ला रहे हैं, आपके प्रति अपनी कृतज्ञता दिखानी ही चाहिए। आपके आने से और जो कुछ कार्रवाई आपने यहां की है, उससे हमारा दिल बहुत हल्का हो गया है।"

: ५ :

बापू के पांचवें पुत्र

महादेव देसाई

श्री जमनालालजी के एक जीवन-चरित-लेखक ने जब गांधीजी से पूछा कि उनका जीवन-चरित लिख सकते हैं कि नहीं, तब गांधीजी ने उत्तर दिया, "सामान्य नियम तो यही है कि जीवित मनुष्यों की जीवनी लिखना उचित नहीं समझा जाता है, परन्तु मुमुक्षु की जीवनी तो लिख सकते हैं, क्योंकि उसमें से कुछ-न-कुछ नीति की शिक्षा मिलती है और श्री जमनालालजी को मैं मुमुक्षु या आत्मार्थी मानता हूं।"

जमनालालजी को ईश्वर ने धर्मवृत्ति जन्म से ही दी थी। इस धर्मवृत्ति का दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक विकास होता गया। जो दैवी सम्पत्ति मोक्ष देने वाली होती है उस दैवी सम्पत्ति के बहुत-से लक्षण उनमें थोड़े-बहुत अंश में सदा ही से दिखाई देते थे। अवसर आने पर और भी अधिक प्रकट होने लगे और वे उनमें विशेष रूप से दृढ़ होने लगे।

गरीब मां-बाप के यहां सीकर नाम की रियासत में एक बगैर कुएंवाले निर्जल गांव में बचपन गुजारा। बड़ी मुश्किल से बच्छराज सेठ ने उनको गोद लिया। लड़का गोद देने पर उनके माता-पिता ने जन-कल्याण के लिए यह सौदा किया और बच्छराज सेठ ने यह बालक लेने के बदले में गांव में एक बड़ा पक्का कुआं बनवा दिया। तबसे यह बालक बच्छराज सेठ का हुआ और वर्धा चला गया। बचपन में रोज इनको एक रुपया दुकान से मिलता था। इसीमें से बचा-बचाकर इन्होंने जो धन इकट्ठा किया उसमें से सौ रुपये का सोलह वर्ष की छोटी उम्र में ही एक छापेखाने को दान दिया।[1] उन्होंने एक दफा कहा था कि यह सौ देने में मेरी छाती ऐसी फूली कि

---

[1] यह दान १९०६ में लोकमान्य तिलक के 'केसरी' पत्र का हिन्दी-

वैसी कभी लाख देने में भी नहीं फूली। इस समय भी भोग-विलास में इनकी रुचि न थी। सतरह वर्ष की छोटी उम्र में किये हुए उनके एक और कार्य में दैवी सम्पत्ति के करीब-करीब सब लक्षण---अभय, अहिंसा, सत्य, शांति, तेज, क्षमा और धृति---मौजूद थे। भावी जमनालालजी का उसी एक प्रसंग में पूरा-पूरा दर्शन होता है। उनके यह नये पिता बड़े क्रोधी थे। जरा-जरा-सी बात में उनका मिजाज बिगड़ जाता था और हर किसी आदमी का अपमान कर बैठते थे। एक दिन इन्होंने जमनालालजी का भी वैसा ही अपमान किया और अपनी दी हुई धन-दौलत के छीन लेने की धमकी दी और बड़े कठोर वचन कहे। १७ वर्ष के जमनालालजी ने उस समय दृढ़ता, किन्तु नम्रता के साथ बच्छराजजी को एक पत्र[१] लिखा। सारी सम्पत्ति पर से अपना अधिकार उठा लेने का यह त्याग-पत्र-सा था।

पितामह का क्रोध पिघल गया, वे गद्गद् कण्ठ से अपने पौत्र को मनाने गये, उसे समझाया। जमनालालजी माने। वे बच्छराजजी के होकर रहे, किन्तु अर्थ को अनर्थ मानकर रहे (अर्थमनर्थ-भावय नित्यं)। यह धन अपना नहीं, पराया है---लोकहित के लिए है---उनको इस भावना का पहला पाठ सिखानेवाले उनके ये पितामह थे, जिन्होंने उन्हें गोद लिया था। इसका सम्पूर्ण रहस्य उन्होंने बाद में अपने उस पिता से समझा, जिसे उन्होंने गोद लिया था।

.. .. ..

बच्छराजजी सवा चार लाख रुपये छोड़ गये थे, परन्तु जमनालालजी ने अपनी व्यापार-दक्षता से, जो उन्होंने किसी विद्यालय में पढ़कर नहीं, वरन् अनुभव से प्राप्त की थी, चार से चौबीस लाख कमाये। और इन चौबीस लाख कमाने में असत्य से जितने दूर वह रहे, उतना कदाचित ही कोई दूर रहा होगा।

संस्करण नागपुर से निकालने का तय हुआ, तब उसे दिया गया था।

[१] यह पत्र 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद' नामक पुस्तक के ५१९ पृष्ठ पर देखिए।

जिस विवेक से उन्होंने धन कमाया, उसी विवेक से उन्होंने अपने धन का दान दिया। लाखों रुपया देकर 'सर' हो सकते थे। प्रवाह के अनुसार युनिवर्सिटी स्कॉलरशिप देकर और सरकार को सरकारी संस्थाओं के स्थापनार्थ धन देकर वे मान पा सकते थे, परन्तु असहयोगी होने के पहले से उनमें सच्ची विवेक-बुद्धि से व्यवहार चलाने का स्वभाव था। हां, यह बात ठीक है कि असहयोग ने उनका क्षेत्र बढ़ा दिया। वे अपने ११ लाख रुपये का दान देने में बहुत विवेकपूर्ण रहे। सर जगदीशचंद्र बोस की विज्ञान-शाला के लिए ३५,०००) दिया और काशी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के लिए ५१,०००) का दान दिया। इसीसे उनके विवेक और दूरदर्शिता का पता लग जाता है। ११ लाख पये के दान में से केवल दो लाख के करीब उन्होंने अपने समाज के लिए दिया। मुसलमानों को भी २१ हजार का दान दिया।

.. .. ..

असहयोगी होने से पहले से ही वह बड़ी निर्भयता का व्यवहार करते रहे। गवर्नर ने एक बार उन्हें दरबार में बुलाया और इस अवसर पर एक विशेष पोशाक पहनकर जाने की उनको सूचना मिली। उन्होंने वह पोशाक पहनने से इंकार कर दिया। आखिरकार उनसे कहा गया कि वह जिस तरह चाहें, आवें। गवर्नर को पार्टी देने के समय भी उन्होंने कलक्टर को साफ कहला भेजा कि अंडे, मांस या शराब न दिया जायगा। भारत-सचिव मिस्टर मांटेग्यु जिस समय भारतवर्ष में आये थे, दरभंगा के महाराजा सनातन-धर्मियों का एक शिष्ट-मंडल उनके पास ले जाना चाहते थे। जमनालालजी ने उनको लिखा कि यदि आप लोग भारत-सचिव के सामने यह मांग रक्खें कि लश्कर के लिए जो गोवध होता है वह बन्द हो जाय तो मैं शिष्ट-मंडल में शामिल हो सकता हूं। महाराजा दरभंगा ने यह बात स्वीकार नहीं की और इसलिए जमनालालजी उस शिष्ट-मंडल में सम्मिलित नहीं हुए। बर्दवान के महाराजा ने जमींदारों के शिष्ट-मंडल में सम्मिलित होने का उनको न्यौता भेजा, परन्तु इसको खुशामदियों का शिष्ट-मंडल समझकर वह उसमें सम्मिलित नहीं हुए। रेल में सफर करते समय भी 'टामियों' से न डरकर

उन्हें डांट दिया करते थ और एक असभ्य यूरोपीयन को तो एक दफा लात मारने को भी तैयार होगये थे। यह सब उनकी असहयोग के पहले की निडरता के नमूने हैं।

सेवा द्वारा मोक्ष पाने की इच्छा उनकी पहले ही से थी। एक ब्रह्म-मार्गी संन्यासी का सत्संग कई वर्षों से वह करते आये। उनमें निर्भयता, वीरता, धर्मबुद्धि और सेवाभाव तो पहले ही से मौजूद थे, परन्तु गांधीजी के सत्संग से वे और विस्तृत होगये। संसार के प्रत्येक व्यवहार में हर काम को वे धर्म की तराजू पर तौल लेते। असहयोगी होने पर नये-नये सिद्धान्तों के पालन करने का भार बढ़ा और उनकी सत्यनिष्ठा ने उनके सम्मुख कई एक नई-नई समस्याएं खड़ी कर दीं। टाटा-कम्पनी मुलशी पेटावालों पर अत्याचार कर रही है तो फिर उस कंपनी के शेयर मैं कैसे रख सकता हूं ? कलकत्ता के व्यापार के कारण बार-बार अदालत में जाना पड़ता है तब फिर वहां का व्यापार बन्द ही क्यों न कर दूं ? मैं अस्पृश्यता में विश्वास नहीं रखता हूं, यह लोगों को किस तरह बताऊं ? बहुत-से रीति-रिवाजों को मैं बुरा समझता हूं तो फिर लड़की के विवाह में ही उनको तिलांजलि क्यों न दे दूं ? एक छोटी-सी बात है, परन्तु यहां बिना लिखे जी नहीं मानता। खादी का व्रत खद्दर पहनने में है, परन्तु जो चरखा-संघ के सदस्य हैं और रात-दिन खद्दर का प्रचार करते हैं, वे दूसरे कामों के लिए भी खद्दर को छोड़कर और दूसरे कपड़े का उपयोग किस प्रकार कर सकते हैं ? वर्धा में एक नया ही प्रश्न खड़ा हुआ। घर में ५०-१०० निवाड़ के पलंग थे। वैसे घर में श्रीमती जानकीबाई और बालक सभी नखशिख खद्दर पहनते थे और सूत भी कातते थे, परन्तु किसीको इस निवाड़ का कभी ध्यान नहीं आया। जमनालालजी ने कहा कि यह मिल के सूत के निवाड़वाले पलंग काम में लाने की क्या जरूरत है ? व्यवहार-कुशल जानकीदेवी ने कहा, "आपके लिए हाथ से काते हुए सूत की निवाड़ का पलंग आया जाता है, परन्तु घर में बहुत-से पलंगों की

निवाड़ है, उसको व्यर्थ नष्ट न कीजिए। परन्तु जमनालालजी ने निश्चय कर लिया था कि घर में मिल के सूत की निवाड़वाले पलंग नहीं रखेंगे।

• • ••• • •

उनकी असहयोग की प्रवृत्ति आज संसार को विदित है। राय बहादुर और आनरेरी मेजिस्ट्रेटी को तिलांजलि देकर देश के खजांची बनकर महा-सभा की कार्यकारिणी-समिति में काम किया। अपना व्यापार-धन्धा कम करके तीन वर्ष तक देश में भ्रमण किया। नागपुर-सत्याग्रह का संचालन करते हुए स्वयं जेल गये। हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े में मुसलमानों को बचाने में स्वयं जख्मी हुए। खद्दर के काम का व्रत धारण किया और गोरक्षा का प्रश्न हाथ में लिया। गोरक्षा और खद्दर का वाणिज्य —वैश्य के इन दोनों धन्धों को—उत्साहपूर्वक उठा लेने के लिए मारवाड़ी-समाज से आग्रह किया।

राजनीति में पड़ने की उन्हें कोई जरूरत न थी। कांग्रेस के कोषाध्यक्ष के नाते कांग्रेस के धन की रक्षा करके वे चुपचाप बैठे रह सकते थे, किन्तु उन्हें तो कांग्रेस का यश-रूपी धन भी उतना ही प्रिय था। इसलिए त्याग और कष्ट-सहन में भी वे किसी कांग्रेसवादी से पीछे न रहे। कई बार जेल गये और तीसरे दर्जे के कैदी की अनेक मुसीबतें सहीं। उनकी श्रद्धा अन्धश्रद्धा न थी। वे दृढ़तापूर्वक मानते थे कि शुद्ध धर्म में ही शुद्ध अर्थ भी समाया हुआ है। उनकी श्रद्धा को इसी विश्वास का बल प्राप्त था। इसलिए जब दूसरों की श्रद्धा डगमगाने और धुंधली होने लगती थी, उनकी जगमगा उठती थी। इसी श्रद्धा के कारण उन्होंने उन दिनों ढाई लाख रुपए रचनात्मक काम के लिए निकाले। जब गांधीजी छः साल की सजा भुगत रहे थे तभी 'गांधी सेवा-संघ' की स्थापना भी की थी। वे राजनीति में दिलचस्पी लेते थे, लेकिन दिल से यह मानते थे कि राजनीति अच्छे-अच्छों को फिसलानेवाली सीढ़ी है, अतएव उनकी अपनी रुचि सदा राजनीति में प्राण फूंकनेवाले रचनात्मक कार्यों में ही रहा करती थी। अपनी इस रुचि के फलस्वरूप उन्होंने अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियों का बड़े उल्लास के साथ पोषण किया। 'गांधी-सेवा-

संघ' की बात सब जानते हैं। सन् '२० से सत्याग्रह-आश्रम भी चल रहा था और उसमें विनोबा के समान साधु-पुरुष का सहयोग उन्हें मिला था। वे स्वयं खादी और चर्खा-संघ के धुरन्धर बने और इस कार्य में अपने धन के उपरान्त अपनी कुशलता, व्यापार-पटुता और व्यवस्था-शक्ति का भी पूरा सहयोग किया। हरिजन-आन्दोलन में शामिल होते उन्हें कुछ समय लगा, लेकिन जब एक बार निश्चय कर लिया तो फिर पूरी तरह उसमें रम गये और हरिजनों को इस हद तक अपनाया कि सनातनी मारवाड़ियों को उनसे सौ योजन दूर रहना पड़ा ; हिन्दुस्तान में हरिजनों के लिए सबसे पहला मन्दिर उनका खुला और अपने सेवाग्राम की सारी आमदनी उन्होंने गांव के हरिजनों के लिए दे डाली ! कौमी एकता को इस तरह साधा कि अनेक मुसलमान उनके अपने बन गये, खानसाहब-जैसों को उन्होंने अपना भाई बना लिया, और रैहानाबहन, गोमतीबहन व खुरशेदबहन-जैसी बहनों को बहन बनाया। एक बार दंगा मिटाने की कोशिश में बुरी तरह मार भी खाई। ग्रामोद्योग के लिए तो उन्होंने अपनी वह जबर्दस्त जायदाद दान में दे डाली, जो आज 'मगनवाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है। स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए एक आदर्श 'महिला-आश्रम' खड़ा करने में उन्होंने अपना तन-मन-धन सबकुछ लगा दिया। कोई कसर न रक्खी। हिन्दुस्तानी अथवा राष्ट्र-भाषा के प्रचार में भी पूरी तरह हाथ बंटाया और अंत में अपना सर्वस्व गोमाता के चरणों में चढ़ा दिया।

लेकिन यह गिनती क्यों ? रचनात्मक कार्यक्रम का कोई अंग ऐसा न था, जिसमें उन्होंने रस न लिया हो और पूरी तरह हाथ न बंटाया हो। यदि मनुष्य को सेवा से छलकता हुआ ऐसा जीवन मिले तो वह भगवान से और क्या चाहे ? यह सेवा-रूपी यशोधन उन्हें मिला ही था। किन्तु जमनालालजी को फिर भी अतृप्ति रहा करती थी। सत्य का विचार और न्याय की बुद्धि उनमें इतनी तीव्रतर हो चुकी थी कि उन्हें अपने राई-से दोष पहाड़-से प्रतीत होते थे और सबकुछ छोड़कर शांत जीवन बिताने की चर्चा वे प्रायः किया करते थे। गांधीजी ने उन्हें पुत्रवत् स्वीकार किया था, इसलिए उनसे वे

अपना एक भी विचार गुप्त न रखते थे और सच्चे दिल से मानते थे कि इसी प्रकार वे उनके वास्तविक पुत्र बन सकेंगे। गांधीजी ने भी उनको अपना पुत्र बनाने में कोई कसर न रक्खी।

उनकी सच्ची सौदागरी याद आती है। धनिक लोग कई हैं, जो परिश्रम करते हैं और धन कमाते हैं। बुद्धिजीवी बुद्धि से धन और यश कमाते हैं। हरेक शख्स कुछ-न-कुछ सौदा कर लेता है, समाज के साथ सौदा कर लेता है, कुछ भगवान के साथ भी कर लेता है, और भगवान् "ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्" के न्याय से उसे उसका फल देता है। पर जमनालालजी ने बड़ा जबरदस्त सौदा किया। उन्होंने गांधीजी को मोल लिया। सन् १९१६ की बात है, जब वे कोचरब नामक स्थान पर, जहां पहले साबरमती-आश्रम था, आये थे। साबरमती-आश्रम के तब कोई मकान नहीं थे। कोचरब गांव में किराये का बंगला था। उसमें आश्रम था। जमनालालजी ने बापूजी से आग्रह करके कहा, "वर्धा में आइए, वहां आश्रम स्थापित कीजिए।" बापू ने उस समय नहीं माना। उन्होंने कहा, "मैं गुजराती हूं, गुजरात में रहकर ही मैं अधिक सेवा कर सकता हूं। गुजरात की सेवा द्वारा भारत की सेवा करूंगा।" जमनालालजी वापस चले आये। बाद में उनके पुत्र बने, दान दिया, जेल गये, सर्वस्व का समर्पण करने तक तैयार हुए। आखिर '३४ में बापू मान गये और वर्धा में आकर रहे, बल्कि यह कहूं कि '३४ में बापू बिक गये। पार्वती ने शिवजी की आराधना कठिन तपश्चर्या से की थी, तपश्चर्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने उनसे कहा था—"क्रीतस्तपोभिः" अर्थात्—अपने तप से तुमने मुझे मोल लिया है। वैसे ही मीरा ने किया, कबीर ने किया। जमनालालजी ने अपना सर्वस्व देकर गांधीजी को मोल लिया, मानो भगवान् को ही मोल लिया। कबीर, मीरा मध्यकालीन भक्त हैं, जमनालालजी आधुनिक भक्त कहे जा सकते हैं।

सन् '३६ में हम सेवाग्राम आये। सेवाग्राम आने का निश्चय करने के पहले जमनालालजी से बड़ी चर्चा हुई। उन्होंने बापूजी से कहा, "आपको बड़े कष्ट सहन करने पड़ेंगे। वहां किसी किस्म की सुविधा नहीं है। कोई

साधन नहीं है। हम सब आपका काम करेंगे। आप फजूल अपनेको गांव में गाड़ना चाहते हैं?" बापू ने कहा, "मैं अपना कर्तव्य जानता हूं। मुझे गांव की सेवा करना है। आजतक योंही खेल खेलते रहे—गांवों की कोई सेवा न की। सच्ची ग्राम-सेवा करना हो तो ग्रामीण बन के करना है।" जमनालालजी हँसकर बोले, "आप क्या ग्रामीण होनेवाले हैं? आपके लिए वहां भी मोटर आवेंगी, वहां भी तार आवेंगे।" गांधीजी तो बिक चुके थे, अतः उनके साथ हँसी-मजाक करने का अधिकार जमनालालजी ने ले लिया था। गांधीजी ने जवाब दिया, "इन सबके आते हुए भी हम ग्रामीण रहेंगे।" जमनालालजी की जब एक न चली तब उन्होंने बनिये के साथ बनिये की दलील की, "देखिए, आप वहां जाकर बैठेंगे तो आपके सब मेहमानों को रखना, वहां पहुंचाना, यह सब भार मुझपर पड़ेगा। कबतक मेरे सर पर बोझ बढ़ाते जाना है?" गांधीजी ने कहा, "वह तो जिस रोज मुझे वर्धा बुलाया, सोच लिया होगा न!" जमनालालजी हार गये, पर हार में उनकी जीत थी। अपने जीवन के शेष काल में गांधीजी ने जमनालालजी का गांव ही अपने प्रयोगों के लिए पसन्द किया। यह जमनालालजी के जीवन का सबसे बड़ा सौदा था।

ईसामसीह के जीवन में एक कथा है। एक नौजवान उसके पास जाता है। उससे ईसा ने कहा, "अगर तू पूर्ण होना चाहता है तो जा, और जो कुछ तेरे पास है उसे बेच डाल और उसे गरीबों को बांट दे। तुझे स्वर्ग में खजाना मिल जायगा। तब आ और मेरा अनुसरण कर।"

पर जब उस नवयुवक ने यह कहते सुना तो वह क्षुब्ध होकर चला गया, क्योंकि उसके पास बड़ी संपत्ति थी!

ईसामसीह को वह नौजवान मोल नहीं ले सका। जमनालालजी आसानी से गांधीजी को मोल ले सके। जिस रोज मृत्यु हुई उस रोज मुझे टेलीफोन पर सुनाते थे, "मुझे बड़े-बड़े मेहमानों की क्या गरज है? मेरे पास तो जगत का सबसे बड़ा मेहमान पड़ा है।" उन्होंने तो हीरा पाया था। "हीरा पायो गांठ गठयायो बार-बार वाको क्यों खोले?"

आत्मिक आहार द्वारा जमनालालजी की मोक्ष-साधना को पोषण प्राप्त हुआ था, वे आत्मार्थी बने थे। प्रतिदिन वे आत्मनिरीक्षण करते थे और प्राय: प्रतिदिन विनोबा या बापू के सामने अपना हृदय खोलकर रख देते थे।

अन्त में इसी साधना के लिए उन्होंने एक असाधारण त्याग किया। उनके जिस बंगले में बड़े-बड़े अतिथि आकर रहते थे—कांग्रेस के अनेक सभापति, लार्ड लोथियन, माननीय ताई-ची-ताओ, मिस्र के शिष्ट-मण्डल के सदस्य आदि-आदि—अपने उस बंगले को उन्होंने छोड़ा, गांव से दूर थोड़ी जमीन लेकर वहां अपने लिए एक कुटिया बनवाई, 'गोपुरी' उसका नाम रक्खा और वहां रहकर अपना शेष जीवन गोसेवा में बिताने का संकल्प किया। कोई भी काम हो, अधूरा तो उसे कभी करना ही नहीं, करना तो पूरा ही करना, यह उनका मन्त्र था।

दिलीप राजा ने तो नन्दिनी की सेवा करके उसे अपनी कामधेनु बनाया। क्या जमनालालजी को कामधेनु मिली ? मैं सोचता हूं, जिसकी सेवा करते-करते उन्हें ऐसी धन्य मृत्यु प्राप्त हुई, उसे कामधेनु कहा जा सकता है। किन्तु यह सब कहा जाय या न कहा जाये—स्वयं जमनालालजी तो लोक-सेवक से बढ़कर गोसेवक बनने तक गांधीजी के लिए कामधेनु ही थे। अगर वे न होते तो गांधीजी को वर्धा आने की जरूरत न थी। उनके बिना गांधीजी सेवाग्राम में बसने की हिम्मत न करते। एक वही थे, जो बाहरी दुनिया के साथ गांधीजी क संबंध को स्वयं जीती-जागती जंजीर बनकर जोड़े रहते थे। उनके महाप्रयाण ने इस जंजीर को तोड़कर गांधीजी का और बाहरी दुनिया का अनमोल धन लूट लिया।

... ...

फोन आया कि जमनालालजी अचानक बेहोश होगये हैं। गांधीजी तुरन्त उन्हें देखने को चल पड़े, लेकिन उनके वर्धा पहुंचने से पहले ही खबर मिली कि जमनालालजी चले गये।

कल रात उन्होंने फोन पर मुझसे देर तक बातें कीं। चीन के तारणहार श्री चांग काई शेक के वर्धा आने पर उन्हें कहां टिकाया जाय, क्या-क्या

प्रबंध किया जाय, वगैरा अनेक बातें मुझसे पूछीं और उन्हें अपने पास ही टिकाने की उत्कण्ठा प्रकट की। फिर हँसते-हँसते बोले, "बापू मुझसे गोसेवा का काम लेना चाहते हैं, मगर वह हो कैसे ? काम तो ऐसे-ऐसे आते रहते हैं।" मैंने कहा, "लेकिन आपको तो संसार के एक महापुरुष को अपना अतिथि भी बनाना है, और गोसेवा भी करनी है; फिर क्या हो ?" इसपर आप बोले, "मेरे यहां तो संसार का सबसे बड़ा महापुरुष पहले से अतिथि बनकर बैठा है। क्या वह काफी नहीं ?" फिर कहने लगे, "अब मैं गोपुरी जाता हूं।" मैंने कहा, "अगर वे आये तो आपको कुछ दिनों के लिए गोपुरी छोड़ जानकी-पुरी में आना पड़ेगा।" बोले, "गोपुरी भी तो आज जानकीपुरी बन गई है, क्योंकि जानकीदेवी गोपुरी में ही आ बसी है।" इस प्रकार उन्होंने अपने सदा-सुलभ हास्य के साथ रात बातें कीं। सवेरे भी वही प्रसन्नता, वही उल्लासभरी बातें, उतनी ही उत्कण्ठाभरी पूछताछ—"चांग काई शेक के आने की कोई खबर है ?"

क्या सपने में भी किसीने सोचा होगा कि इन्हीं जमनालालजी को दोपहर बाद अचानक खून के दबाव का दौरा २५० और १२५ का हो जायगा और गांधीजी के उनके समीप पहुंचने से पहले ही वे हम सबको छोड़कर चल देंगे ?

.. .. ..

१९२८ में मगनलाल गांधी की आकस्मिक और अकाल मृत्यु के बाद गांधीजी को कभी ऐसा शोकपूर्ण धक्का नहीं लगा, जैसा जमनालालजी के यकायक और असामयिक निधन से लगा। उनमें अपने एकाकीपन की जैसी भावना उठी, उसका वर्णन करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। दो दिनों तक तो उन्होंने इसको वीरतापूर्वक सहन किया और उनकी विधवा पत्नी और वृद्धा माता को दिलासा देते रहे; परन्तु तीसरे दिन वे हिम्मत हारकर यह कह बैठे—"निपूते लोग बच्चे गोद लेते हैं। पर जमनालालजी ने तो मुझे पिता के रूप में गोद लिया था। वह मेरे सबकुछ के उत्तराधिकारी होते, इसके बदले वह अपना उत्तराधिकार मुझपर छोड़ गये।"

: ६ :

व्यवहार में सिद्धान्त का अनुसरण

श्रीकृष्णदास जाजू

मनुष्य के विकास के सिद्धान्त तो प्रायः निश्चित ही हैं। व्यक्ति की श्रेष्ठता की परीक्षा इसीमें है कि उन्हें वह कहांतक अमल में लाता है। श्री जमनालालजी का कारबार काफी व्यापक था। बड़ा परिवार, देशभर में फैले हुए मित्र-जन, विविध सार्वजनिक संस्थाएं, राजनैतिक व सामाजिक कार्यक्षेत्र, नाना प्रकार के व्यापार-धंधे आदि अनेक प्रवृत्तियों में उनका प्रत्यक्ष व्यावहारिक संबंध आता था। इन सबका कार्य-भार सचाई के साथ निभाना कोई आसान बात नहीं थी। सत्य के अमल में उन्हें काफी अड़चनें आती थीं, पर वे अपनी निष्ठा से डिगते नहीं थे।

बड़े-बड़े व्यापारियों के मुंह से सुनने में आता है कि कुछ-न-कुछ असत्य के बिना व्यापार का काम चल ही नहीं सकता। यह धारणा गलत साबित करने का श्री जमनालालजी का सदा प्रयत्न रहा। युवावस्था से ही उनको इस बात का कुछ-कुछ ध्यान था कि सारा व्यावहारिक काम न्याय-नीति एवं शुद्धता से हो। यही कारण था कि स्वयं विशेष धनिक न होते हुए भी उनकी व्यापारिक वर्ग में बड़ी प्रतिष्ठा थी। लोगों का उनके काम-काज में विश्वास था। इसका लाभ भी उन्हें व्यापार में मिला। जहां उन्होंने देखा कि काम न्याय-नीति से नहीं चलता है, वहां उन्होंने बड़ी-बड़ी आमदनी के काम भी स्वयं खुशी से छोड़ दिये। पू० गांधीजी का देश-सेवा का कार्यक्रम भी समय-समय पर ऐसा रहा कि जिसका अनुकरण करने में धनिकों को काफी आर्थिक आंच सहन करना लाजिमी था। असहयोग-आंदोलन में अदालतों का बहिष्कार शामिल था। जिनको सदा अदालत से काम बना रहता है, उनके लिए इस नीति पर अमल करना कितना कठिन था!

जिनके खिलाफ अदालती कार्रवाई करने की जरूरत होती, वे इस बहिष्कार की बदौलत अनुचित लाभ उठाने को तैयार ही बैठे रहते। इसलिए काफी हानि सहन करके घर में ही निपटारा कर लेने की जी-तोड़ कोशिश करने पर भी ये मानते ही न थे। मुनीम-गुमाश्ते बेजा हरकतें देखकर बहुत दुःखी होते और कुछ-न-कुछ गली निकालने की सोचते भी, पर जमनालालजी अपने मंतव्य पर दृढ़ रहते। काफी आर्थिक हानि उठाकर भी उन्होंने गांधीजी के कार्यक्रमों का ईमानदारी से पालन किया। खादी-ग्रामोद्योग आदि के अनुसंधान में सदा इस बात की जागृति रखते थे कि देश-हित की दृष्टि से कौन-से उद्योग-धंधे करने चाहिए और कौन-से नहीं!

यह एक दैवदुर्विपाक ही समझना चाहिए कि उनको बेबुनियादी अदालती मामलों में भी कुछ समय फंसा रहना पड़ा। आखिर सबमें जीते, पर समय तो नष्ट करना ही पड़ा। उनका एक कौटुंबिक हिस्सा-बांट का मामला चला। राजनैतिक क्षेत्र के विरोधियों द्वारा कांग्रेस के कोषाध्यक्ष के नाते उनपर किये गए आक्षेपों के कारण उनको मान-हानि के दावे भी करने पड़े। मामले काफी पेचीदा थे। खुद उनको लगातार कई सप्ताह तक रोज बयान देने पड़ते। विरोधियों ने तकलीफें देने में कोई बात उठा न रक्खी। अदालत में सत्यनिष्ठा की पूरी कसौटी होती है, पर जमनालालजी अपने व्रत पर निश्चल रहे। इतने बड़े मामले इतनी सचाई के साथ चलना, इस जमाने में एक आश्चर्य की बात ही समझनी चाहिए।

उन्होंने अपने सिद्धान्त अमल में लाने की भरसक कोशिश करके यह साबित किया कि हममें आत्मबल हो तो वे सिद्धान्त केवल किताबों के या चर्चा के लिए ही न होकर सब कारोबार में लागू किये जा सकते हैं और उससे अन्त में सबका कल्याण ही होता है।

: ७ :

सबके 'स्वजन'

काका कालेलकर

श्री जमनालालजी के बारे में बहुत-कुछ लिखा जा सकता ह। उनकी विभूति इतनी विविध थी कि हरएक आदमी उनके जीवन के और स्वभाव के एक-एक पहलू पर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डाले तभी उनकी भव्य मूर्ति हमारे सामने खड़ी हो सकती है। जमनालालजी हमें सचमुच छोड़कर चले गये हैं, हृदय इस बात की पूरी गवाही नहीं देता। अब भी कभी-कभी लगता है कि कहीं से आकर मिल जायंगे और बातें करेंगे। अगर वह सचमुच आ ही जायं तो शायद आश्चर्य भी न हो। केवल आनन्द होगा और उनके मृत्यु का दुःख स्वप्नवत् हो जायगा।

ऐसी हालत में उनके बारे में हम कुछ भी स्वाभाविकता से नहीं लिख सकते। इसलिए एक-दो प्रसंग ही यहांपर लिख देता हूं।

बात पुरानी है। महात्माजी का लड़का देवदास गांधी बीमार था। डाक्टरों ने कहा कि 'अन्त्र-पुच्छ' का सूजन है, जिसे 'अपेन्डिसाइटिस' कहते हैं। डाक्टरों ने नश्तर लगाने की तैयारी की। पेट चीरकर 'अन्त्र-पुच्छ' काट डाला। इतने में किसी नाड़ी को स्पर्श होगया। होते ही एकदम श्वासोच्छ्वास बन्द होगया। डाक्टर लोग घबराये। श्री जमनालालजी को बड़ा आघात पहुंचा। उन्हींके मुंह से मैंने उस समय की उनकी मनो-दशा एक दिन सुनी थी। उन्होंने कहा कि महात्माजी ने अपना होनहार लड़का मेरे हाथ विश्वास के साथ सौंपा था और मेरे देखते उसके प्राण बंद होगये। अब किस मुंह से महात्माजी के पास जा सकता हूं? क्या मैं यहीं प्राण दे दूं?

उन्होंने डाक्टर से कहा, "कुछ भी कीजिए, मेरी सारी संपत्ति ले

लीजिए, लेकिन देवदास को जिन्दा कर दीजिए,नहीं तो मैं कैसे जी सकता हूं ?"

डाक्टर लोगों के लिए नश्तर लगाते हुए ऐसी दुर्घटना कोई अनहोनी नहीं होती है। उन्होंने तुरन्त इलाज किया और देवदास का श्वास फिर चलने लगा। उस समय की श्री जमनालालजी की धन्यता का वर्णन कौन कर सकता है ? उन्होंने यह सारा किस्सा बहुत दिनों के बाद सुनाया था। उस समय भी उनके चेहरे पर और उनकी आंखों में वह सारा किस्सा ताजा हो गया था और उसमें उनकी महात्माजी के प्रति निष्ठा और भक्ति कैसी पुत्रवत् थी, यह मैं देख सका।

यह तो हुई महात्माजी के लड़के के बारे में बात। श्री जमनालालजी का कौटुम्बिक भाव मैं स्वयं भी एक दफा ऐसा ही अनुभव कर चुका हूं।

जब मुझे हैजा हुआ, तब मैं हरिजन-छात्रालय में रहता था। पता चलते ही जमनालालजी दौड़कर मुझे देखने आये और कहने लगे—"काकासाहब, यहांपर आपकी परिचर्या शायद ठीक नहीं होगी। मैं आपको अपने बंगले पर ले जाता हूं। वहां हम लोग आपकी ओर पूरा ध्यान दे सकेंगे।

उनकी यह बात सुनकर मैं स्तम्भित होगया। मैंने उनसे कहा, "आप किस तरह ऐसी बात करते हैं। मुझे हैजा हुआ है। हैजा संक्रामक रोग है।"

"कोई हर्ज नहीं"—कहकर वे आग्रह करने लगे। मैंने कहा, "आपका प्रेम और आपकी निर्भयता मैं जानता हूं। किन्तु घर में आप अकेले नहीं हैं, बाल-बच्चे भी हैं। उन्हें इस तरह खतरे में डालने का आपको क्या अधिकार है ? गृहस्थाश्रमी को दोनों पहलुओं पर ध्यान रखना पड़ता है।"

"सो कुछ भी हो, मैं आपको ले जाये बिना न रहूंगा।"

मैंने दृढ़ता से कहा, "आपने मुझे जीत लिया, लेकिन मैं यहां से कहीं भी जानेवाला नहीं हूं। इतने लोग हैं, दिन-रात मेरी सेवा करते हैं, यहां किसी चीज की कमी नहीं है। और कुछ भी हो, मैं इस वक्त हरिजन-छात्रालय नहीं छोड़ूंगा।"

लाचार होकर वे लौट तो गये, लेकिन उनके मुंह पर जो प्रेम और आत्मीयता का भाव झलक रहा था उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। आत्मीयता

के आगे बड़ा या छोटा, अपना या पराया, अमीर या गरीब ऐसा भेद उनका मानव-हृदय स्वीकारता न था।

... ...

तीन व्यक्ति थे, जो बापू के जीवन में तन-मन-प्राण से ओतप्रोत हो गये थे और मरते दम तक उनसे ओतप्रोत रहे। उनका आत्मसमर्पण अनुपम था। एक थीं कस्तूरबा, दूसरे महादेव, तीसरे जमनालालजी।.... जमनालालजी जवानी ही में उनके जीवन में प्रविष्ट हुए। इस तेजस्वी युवक में देशभक्ति और अध्यात्म-प्रेम कुछ अजीब तरीके से मिले हुए थे। जमनालालजी में उस वक्त भी व्यापारी-वर्ग के नेता बनने की लियाकत दिखाई दे रही थी। व्यापारी सूझ-बूझ और व्यवहार-कौशल में वे किसी से कम न थे। अपनी दौलत ही क्या, उन्होंने अपना सारा खान्दान ही बापू और स्वराज्य की खिदमत में पेश कर दिया। बापू की कोई रचनात्मक प्रवृत्ति न थी जिसमें जमनालालजी का सक्रिय सहकार न हो, बल्कि यह कहना चाहिए कि बापू की रचनात्मक अनेकानेक प्रवृत्तियों के व्यवहारू चालक जमनालालजी ही थे। बापूजी को हमेशा लगा, और वे हमेशा कहते रहे कि जमनालालजी के सिवा इन असंख्य प्रवृत्तियों का भार और कोई न उठा सकेगा। जमनालालजी कांग्रेस के खजांची और कार्रवाही-समिति के सदस्य थे। वे कई बार स्वेच्छा से कैद सिधारे और हर बार अपना लोहा बड़े ज्वलंत तरीके से बता दिया, एक वीर नर और एक सच्चे साधक के नाते। इतनी कार्यकुशलता के साथ हृदय की ऐसी समृद्धि शायद ही देखने में आती है। वे कार्य का महत्व जितना समझते थे, उससे भी अधिक कार्यकर्त्ताओं को अपना सकते थे। यही उनकी विभूति की खूबी थी।

"कौटुम्बिक सद्गुणों का व्यापक पैमाने पर विकास करो और सारी वसुधा को एक संयुक्त कुटुम्ब समझो"—यह गांधीजी का आदेश श्री जमनालालजी ने अपनाया। उनके लिए यह स्वाभाविक भी था और यही कारण है कि देश के अधिक-से-अधिक लोग—हिंदू और मुसलमान, ईसाई और पारसी—जमनालालजी को 'स्वजन' मानते आये हैं।

: ८ :

दानी, देशभक्त, कर्मयोगी

राजकुमारी अमृतकौर

भाई जमनालालजी एक विशेष व्यक्ति थे। उनकी जगह कोई नहीं ले सकता। उनका प्रेम और स्वभाव ऐसा था कि वे सबको जीत लेते थे।

सन् १९२० की बात है। जमनालालजी कन्या महाविद्यालय, जालन्धर के उत्सव में भाग लेने आये थे। वहांपर उनका भाषण होना था। वहीं उनसे मेरा प्रथम परिचय हुआ। तब से लेकर उनके जीवन के अन्तिम दिन तक मैं उनके निकट संपर्क में रही।

जमनालालजी बड़े उदार प्रकृति के आदमी थे। वर्धा में और फिर सेवाग्राम में भी उन्होंने ही पूज्य बापू को जमीन दान दी। जो कोई जमनालालभाई के निकट आता वह उनकी तरफ खिच-सा जाता था, ऐसा आकर्षक व्यक्तित्व उनका था। वे दानी थे, देशभक्त थे और थे कर्मयोगी। उन्होंने अपना सर्वस्व—धन और जीवन—देश को अर्पण करके एक ऊंचा आदर्श पूंजीपतियों के सामने रक्खा। उनका रहन-सहन बहुत सादा और पवित्र था।

एक बार जब वे बीमार पड़े तो बापू ने उन्हें स्वास्थ्य लाभ करने के लिए शिमले भेजा। ठहरने का प्रबंध मेरे मकान पर था, इसलिए उनकी देखभाल के लिए मुझे भी उनके साथ जाने का बापू ने आदेश दिया। यहांपर मुझे जमनालालजी के साथ अनेक विषयों पर बातचीत करने का और उनका बहुत निकट से अध्ययन करने का अवसर मिला। मैंने उनमें एक बहुत ऊंचा व्यक्तित्व पाया। उन्होंने अपने मधुर स्वभाव के द्वारा थोड़े ही समय में मेरे कुटुम्ब के लोगों को अपना बना लिया। उनके प्रेम-भरे व्यवहार में कितना अद्भुत आकर्षण था, यह मुझे शिमले में नजदीक से देखने को मिला।

उनकी प्रकृति बड़ी विनोदी थी। बापू को वे अक्सर हंसाया करते थे

और जहां वे होते, वहां का वातावरण सरस हो जाता।

जमनालालजी बेजोड़ आदमी थे। वे सेवा के लिए ही पैदा हुए थे और उनकी सेवा का जन्म भी संकुचित क्षेत्र में रहने के लिए नहीं हुआ था। कोई भी काम वे आधे दिल से नहीं करते थे। उनकी लगन आश्चर्यजनक थी। जिस गाय का दूध वे पीते थे, उसकी सारी सार-संभाल वे खुद करने लगे थे। उनकी तन्मयता कुछ ऐसी ही थी। वे चाहते थे कि काम करते-करते मरें। ईश्वर ने उन्हें वैसी ही मृत्यु दी।

: ९ :

अडिग देशभक्त

सरोजिनी नायडू

सेठ जमनालाल बजाज की मृत्यु केवल कांग्रेस-क्षेत्रों के मित्रों और सहयोगियों के लिए ही शोकप्रद घटना नहीं है, बल्कि अनेक अज्ञात स्त्री-पुरुषों के लिए भी, जिनके प्रति उन्होंने शांत और निर्बाध रूप से उपकार किया था।

अपने अकृत्रिम ढंग से उन्होंने देश की अपने गहरे और हार्दिक प्रेम से सेवा की थी और एक दिन जब भारत के राष्ट्रीय संघर्ष का इतिहास लिखा जायगा तो उनका नाम अवश्य ही उन देशभक्तों में आदरपूर्वक लिया जायगा, जिन्होंने स्वतन्त्रता के लिए बड़े-से-बड़े त्याग को तुच्छ समझा। हममें से जिन लोगों को उन्हें निकट से जानने का सौभाग्य मिला था, उनके लिए तो वे सबसे अधिक प्रेम करने योग्य व्यक्ति थे। उनमें हार्दिक स्नेह था, उदारतापूर्ण मित्रता थी और थी और अडिग देशभक्ति। उनमें एक सरल किन्तु सच्चा आकर्षण था, जो उनके स्वभाव की मधुरता और दयालुता की ही उपज थी।

: १० :

जमनाबाल

किशोरल.ल घ० मशरूवाला

काकाजी की उम्र तो पचास से ऊपर जा चुकी थी, फिर भी मैं तो मानता हूं कि वे पांच साल के ही थे—पांच वर्ष के बच्चे-जैसी निष्कपटता, खिलाड़ी स्वभाव और अन्दर-बाहर की एकता। भावगोपन, याने मन में एक विचार रखना और बाहर दूसरी राय बताना, उनके स्वभाव में ही न था। बालकों के मनोरंजन और खेल-कूद की क्रीड़ाओं में आखिर तक उनकी रुचि थी और उस रुचि में कोई आडम्बर नहीं होता था। कला-रसिक कहलाने वालों की कृत्रिमता न थी। संसार की चिन्ताओं और व्यवहारों ने उनकी विनोदी वृत्ति का ह्रास नहीं कर डाला था। बालक की तरह उनका क्रोध क्षणिक था, उनकी मित्रवृत्ति स्थिर थी।

पुराणों में कथा है कि सनत्कुमारों पर जब भगवान् खुश हुए और कहा कि कुछ मांग लो, तब उन्होंने यह वरदान मांगा कि हमारी उम्र हमेशा के लिए ही पांच साल की रहे। मालूम होता है, काकाजी ने भी कुछ ऐसी ही बख्शिश ईश्वर से पा ली थी। और फिर भी सब जानते हैं, काकाजी कितने बुद्धिमान्, व्यवहार-चतुर और सफल व्यापारी, सफल नेता, धन और कार्यकर्ताओं के सफल संगठक और अनेक लड़के और लड़कियों के पिता से भी अधिक पालक थे।

बल, बलि, बाल सब एक ही शब्द से निकले हैं। बल में कर्त्तृत्व का भाव है, बलि में दान और ऐश्वर्य का भाव है, बाल में सरलता का। काकाजी बलवान् (कर्त्तृत्ववान्) थे, बलि (दानी और धनी) थे, और बाल (सरल) थे। इस तरह उनमें हर प्रकार का बाल्य था।

काकाजी का नाम जमनालाल के बदले जमनाबाल कर दें तो सार्थक ही होगा।

: ११ :

ऊंचे दर्जे के सत्यशील

गंगाधरराव देशपांडे

जमनालालजी ने १९२० की कलकत्ता-कांग्रेस में राजनीति में प्रत्यक्ष भाग लेना आरंभ किया। उसके पहले देश-हित के सभी कार्यों में उनकी सक्रिय सहानुभूति थी। लोकमान्य तिलक के संबंध में उनके विचार बड़े आदर-पूर्ण थे। कलकत्ता-कांग्रेस के बाद उन्होंने असहयोग-व्रत स्वीकार करते हुए कांग्रेस की रचनात्मक राजनीति के कार्य-क्षेत्र में अपनेको पूर्णतया बहा दिया। व्यापार में अत्यन्त दक्ष होने के कारण उन्होंने प्रामाणिकता के साथ व्यापार किया और उससे उन्हें जो यश प्राप्त हुआ उसके प्रत्यक्ष उदाहरण आगे देखने में आये। अगर वे धन कमाने को ही अपना ध्येय मानते तो उनकी गणना देश के गिने-चुने करोड़पतियों में हो जाती, किन्तु धन कमाने की अपेक्षा उन्होंने अपने जीवन में इस बात पर अधिक ध्यान दिया कि संग्रह किये हुए धन का उपयोग किस प्रकार किया जाय। केवल यही बात नहीं है कि उन्होंने गांधीजी की प्रवृत्तियों में सहायता दी, बल्कि 'गांधी-सेवा-संघ', 'अखिल भारतीय चर्खा संघ', 'ग्रामोद्योग संघ', 'तालीमी संघ', 'हरिजन सेवा संघ,' 'हिन्दी-प्रचार-समिति' और 'महिला विद्यालय' आदि रचनात्मक कार्य करने वाली संस्थाओं में उनकी सहानुभूतिपूर्ण रूप से न होती तो उनका संचालन-कार्य असंभव हो जाता। आम तौर से जिसे शिक्षा कहा जाता है, वह उन्हें अधिक नहीं मिली थी। उनका अंग्रेजी का ज्ञान बहुत कम था, किन्तु उनका व्यवहार-ज्ञान बड़ा सूक्ष्म था। उचित समय पर देने-लेने की व्यवहार-बुद्धि उनमें पूर्ण रूप से थी और उसका उपयोग कोई शाब्दिक चर्चा न करके राजनैतिक क्षेत्र में भी वे यथासमय समुचित रूप से करते थे।

कार्यकारिणी में अथवा किसी भी समिति में उनकी कुशाग्र बुद्धि का

प्रभाव दिखाई देता था । इसलिए उनके सहकारी उन्हें मजाकिया तौर पर 'कांग्रेस का वकील' कहा करते थे ।

राजनीति में जिस तरह उनकी बुद्धि का परिचय मिलता था उसी तरह समाज-सुधार में भी उनकी पूरी कामयाबी दिखाई देती थी । व्यापारी वर्ग, खासकर मारवाड़ी समाज में, उन्होंने सब तरह की जागृति उत्पन्न करके उस वर्ग को राजनीति में प्रविष्ट करने में सहायता दी । वे कांग्रेस के खजांची थे और वहां करोड़ों रुपयों का हिसाब-किताब ठीक तौर से रखने में उनका ध्यान रहता था । जमा हुए धन का ठीक हिसाब रखकर ठीक तौर से व्यवहार रखना और जो कार्य सामने आये उसके लिए धन की कमी न पड़े, इसकी व्यवस्था वे करते थे । वे जो काम हाथ में लेते थे उसे प्रामाणिकता के साथ पूरा करते थे, ऐसा जनता का विश्वास था । इसीलिए धनिक व्यापारियों को पैसा उनके हाथ में देकर कोई भय नहीं रहता था । उनका व्यक्तिगत संबंध उनके साथ प्रेम-पूर्ण था । उनके व्यक्तिगत या सार्वजनिक संबंधों में जाति-पांति, भाषा आदि का भेद-भाव न था ।

कर्नाटक के बेलगांव जिले से सेठजी का विशेष संबंध था । उक्केरी गांव में कर्नाटक प्रांतीय परिषद हुई थी । वहां वे अध्यक्ष हुए । बेलगांव नगर-सभा ने वहां आने पर उन्हें मानपत्र भेंट किया । किरसी, सिद्धापुर तालुके की प्रजा की गरीबी उन्होंने अपने दौरे में प्रत्यक्ष देखी और उसे दूर करने के कामों में मदद दी । इसके अलावा कर्नाटक के कार्यकर्त्ता समय-समय पर उनसे सलाह लिया करते थे और वे बड़ी आस्था के साथ उनको परामर्श दिया करते थे । इन दिनों उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था । फिर भी उन्होंने गो-सेवा-संघ का कार्य अपने ऊपर ले रखा था, जिससे यह सिद्ध होता है कि उनमें आलस्य का नाम भी नहीं था । पू. महात्मा गांधी के आशीर्वाद और पू. विनोबाजी के सान्निध्य के कारण उनके जीवन का विकास उत्तम रीति से हुआ था और उसका प्रमाण उनके आचरणों से स्पष्ट झलकता था ।

: १२ :

त्यागी और साहसी

बाल गंगाधर खेर

ये संस्मरण लिखकर मैं स्व० जमनालालजी के प्रति अपने गहरे ऋण का एक अंश ही अदा कर रहा हूं। मैंने अपनी राजनैतिक प्रवृत्ति 'स्वराज्य पार्टी' के एक सेक्रेटरी की हैसियत से शुरू की थी। स्वराज्य पार्टी कौंसिल-प्रवेश की पक्षपाती थी और परिवर्तनवादी पार्टी कही जाती थी। कांग्रेस में जो लोग कौंसिल-बहिष्कार के पक्षपाती थे, वे अपरिवर्तनवादी कहलाते थे। सन १९२४ के चुनावों के बाद मुझे जल्दी ही अनुभव हो गया कि स्वराज्य पार्टी धारासभाओं में सतत और जोरदार विरोध के जरिए चाहे जो भी सफलता प्राप्त कर ले, देश के लिए स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकती और अंग्रेजों को नहीं हटा सकती। इसलिए जब मैंने सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लेने का निर्णयात्मक फैसला किया तो मेरे लिए यह बिल्कुल नया रास्ता अपनाने-जैसा था। मैं वकालत करता था और वकालत के जरिए अपना और अपने परिवार का निर्वाह करता था। मैं यह अच्छी तरह जानता था कि जो आदमी वकालत के जरिए आजीविका कमाता है, वह अगर कानून को तोड़ेगा तो उसको न केवल कैद की सजा मिलेगी, अपितु उसे वकालत करने के अधिकार से भी वंचित कर दिया जायगा। ऐसे नाजुक समय पर मैं जमनालालजी से मिला और उनके परिचय में आया। मैं उनके त्याग और साहस के उदाहरण से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। उनको तो दुनिया में बहुत-कुछ त्याग करना था। उनकी तुलना में मेरे पास त्याग करने को था ही क्या? उनका जन्म और लालन-पालन जिन परिस्थितियों में हुआ था, उनमें उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे अपनी सारी शक्ति धन कमाने में लगा देते। जब वे ही महान् त्याग करने को

तैयार होगये तो मेरे लिए तो सोचने की बात ही क्या थी ? मैंने ऐसे कुल में जन्म लिया है, जिसे सेवा और त्यागवृत्ति विरासत में मिली है। मेरे पास त्याग करने के लिए दुनियावी पदार्थों का बहुत अधिक संचय भी नहीं था। ऐसी दशा में मुझे स्वराज्य के उसी ध्येय को अपनाने में क्यों डर होता, जो किसी भी मनुष्य के लिए महान से महानतम ध्येय हो सकता है ? जब मैं जानता था कि उस ध्येय को प्राप्त करने के साधन शुद्ध और उदात्त होंगे तो मैं क्यों संकोच करता ? जिस सेना में मुझे भर्ती होना था, उसका सेनापति सत्य और अहिंसा का पुजारी था।

जमनालालजी को नमक-सत्याग्रह शुरू करने की तैयारी करनी थी। सत्याग्रह-शिविर बम्बई के उपनगर विले पार्ले में कायम किया गया। मैं उनका सहायक बन गया। जब नमक-सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू हुआ तो स्वामी आनन्द और किशोरलाल मशरूवाला पहले से वहां थे। मेरा ख्याल है कि वह ६ अप्रैल का दिन था, जब जमनालालजी और किशोरलाल मशरूवाला पकड़े गये। मैंने शिविर में रहना शुरू किया। हमने मुश्किल से १४ दिन काम किया होगा कि २० अप्रेल १९३० को मैं स्वामी आनन्द और डी. एन. वाम्देरकर के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। हमको थाना जेल में ले जाया गया। वहां जमनालालजी से भेंट हुई। वह तो तपे हुए सैनिक थे और नागपुर-सत्याग्रह के समय जेल-जीवन की कठोरताओं को भुगत चुके थे। मेरेलिए जेल-जीवन नया था। अनुशासन की अच्छी शिक्षा थी। जेलों में कैदियों के वर्गीकरण के नियम उस समय बने-ही-बने थे और उन-पर अमल शुरू नहीं हुआ था। इसलिए पहले दिन हमको जेल में जांघिया और बण्डी पहनने को मिले और 'सी' क्लास की दाल-रोटी। धीरे-धीरे, हालत में सुधार हुआ। इसके बाद मुझे रास्ता मिल गया। मैंने अपनी तकदीर सत्याग्रहियों के साथ जोड़ दी। मैंने अपना सबकुछ दांव पर लगा दिया।

जमनालालजी मुझसे स्नेह करते थे। हम अक्सर मिलते रहते थे। मेरी फर्म उनका कानूनी काम-काज करती थी और इस प्रकार घनिष्ठता

बढ़ गई। जब सन् १९३७ में कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया तो मैं धारासभा-कांग्रेस-पार्टी का नेता चुना गया और बम्बई का मुख्य मंत्री बना। इसके बाद जब हम पहली बार मिले तो जमनालालजी ने कहा, "हां, तो प्राइमर साहब आप अब प्रीमियर होगये हैं!" मुझे मालूम था कि वह जान-बूझकर मुझे इस प्रकार संबोधन कर रहे हैं। यह उनका विनोद और परिहास था। मुझे अक्सर महात्माजी से मिलने, कांफ्रेंसों और कमेटियों में शामिल होने के लिए वर्धा जाना पड़ता था, और जो भी राजनैतिक काम से वर्धा जाते थे, इस लखपति सेठ और साधु के अतिथि होते थे।

अगर महात्माजी की ट्रस्टीपन की कल्पना अथवा विनोबाजी के भूदान-यज्ञ को सफल होना है, सम्पत्ति का शांतिपूर्ण और अहिंसक उपायों द्वारा न्यायोचित वितरण होना है, हरेक को उसकी जरूरत के मुताबिक मिलना है और शक्ति के मुताबिक काम करना है, तो यह जमनालालजी-जैसे व्यापारी और विनोबाजी-जैसे समाज-सेवी के हार्दिक प्रयत्नों से ही संभव होगा।

: १३ :

समर्पित जीवन

गोविन्दवल्लभ पंत

जमनालालजी का नाम भारतवर्ष के स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में सदा अमर रहेगा। उन्होंने अपना सारा जीवन गांधीजी को अर्पण कर दिया और वे उनके इतने सन्निकट होगए थे कि गांधीजी उन्हें अपने परिवार का अंग मानते थे। सामाजिक कामों में वे सदा अग्रणी रहे और उनकी रचनात्मक व व्यावसायिक बुद्धि भी विलक्षण थी। हर क्षेत्र में वे अपनी अमिट छाप छोड़ गये हैं। वे गांधीजी के इस विचार के कि धनवानों को अपनी संपत्ति सार्वजनिक हित में एक ट्रस्टी के रूप में व्यय करनी चाहिए, एक ज्वलंत उदाहरण बन गए थे। सत्य पर निष्ठा व त्याग की भावना उन्हें सदा प्रेरित करती थी और जन-हित के सब कामों के लिए वे हर समय तत्पर रहते थे। स्वार्थ उन्हें छू भी नहीं गया था। परहित परमार्थ में वे सदा रत रहे।

: १४ :

पढ़े कम, गुने ज्यादा

पट्टाभि सीतारामैया

मैं असहयोग-आन्दोलन के युग की शुरुआत से ही जमनालालजी को जानता हूं, क्योंकि उन दिनों उन्होंने एक लाख का दान असहयोग करनेवाले वकीलों के लिए भेंट करने की घोषणा की थी। वे लम्बे, हट्टे-कट्टे और सुडौल शरीरवाले थे और जहां कांग्रेसी साथियों की भीड़ में खड़े होते, उनका कन्धा और सिर सबसे ऊपर दिखाई दे जाता था। उन्होंने उन दिनों रायबहादुरी की अंग्रेजों की दी हुई उपाधि छोड़ी ही थी। मैं अपनी आदत के मुताबिक कुछ समय तक उनके सम्पर्क में नहीं आया। परन्तु जब वर्धा में सभाएं होने लगीं और वह नगर भारत की कांग्रेसी राजधानी बन गया तो मैं उनके निकटतम सम्पर्क में आया। जुलाई १९२९ में कांग्रेस-कार्यकारिणी-समिति का सदस्य बनने तक मैं उनसे घनिष्ठतापूर्वक मिलजुल नहीं सका था। उसके बाद तो हम समिति की हर सभा के समय मिला करते थे और मैं उनके वर्धा-स्थित अतिथिगृह में होनेवाली सभाओं में भाग लेने के लिए आवश्यक रूप से उनका मेहमान बना करता था।

मेरे इस विश्वास के कारण थे कि वे मुझसे तपाक के साथ नहीं मिलते थे, क्योंकि उन्होंने अनेक बार यह विचार प्रकट किया कि मैं तो एक आलोचक-मात्र हूं। फिर भी मेरे मन में उनके लिए बड़ा आदर था, क्योंकि यद्यपि वे कभी अंग्रेजी नहीं बोलते थे, फिर भी वे समझ आसानी से लेते थे। वे अपने सारे पत्र-व्यवहार और कांग्रेस के प्रस्तावों के मसविदे भी समझ लिया करते थे। वे अक्सर ऐसे संशोधन सुझाया करते थे, जो बिल्कुल ठीक होते थे और जिनसे उनकी यह समझने की क्षमता सिद्ध होती थी कि शब्दों के बीच क्या सूक्ष्म अन्तर होता है। वे कांग्रेस के किसी भी प्रस्ताव

के मसविदे में अपनी पसन्द के सुझाव पेश किये बिना नहीं रहते थे और कांग्रेस के सामने जो भी विषय पेश होता, उसपर वे अपने संशोधन तब उपस्थित करते जब यह समझा जाता था कि उसके बारे में निष्कर्ष पर पहुंचा जा चुका है।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और तामिल प्रांत के प्रति सेठ जमनालालजी जैसा सम्मान रखते थे, उसके मुकाबले में आन्ध्र प्रांतवालों के प्रति कुल मिलाकर उनकी राय अच्छी नहीं थी। उनका खयाल था कि वे रचनात्मक कार्यक्रम और गांधीजी के आदर्श को नहीं मानते। दिसम्बर १९२३ में जब कोकनाडा की कांग्रेस के बाद उन्होंने आन्ध्र देश के कुछ हिस्सों का दौरा किया, तो मसुलीपट्टम मेरे घर पर दो दिन ठहरे। उन्होंने वहां के खादी-केन्द्र और कलाशाला आदि देखे। श्री एन. एस. वरदाचारी को वे बहुत चाहते थे और सन्तानम को भी। आन्ध्रवालों में वे सबसे ज्यादा सम्मान श्री कोण्डा वेंकट पैय्या पंतुलुगारू और श्री के. नागेश्वरराव पान्तुलु गारू का करते थे, वैसे श्री जी. सीताराम शास्त्री एवं डा. सुब्रह्मण्यम को भी बहुत चाहते थे।

अखिल भारत चरखा-संघ की आन्ध्र शाखा की व्यवस्था के सिलसिले में मैं उनके साथ घनिष्ठतर संपर्क में आया—खासकर गांधीजी ने मुझे अपने अप्रैल-मई १९२३ के छः सप्ताह के दौरे में दो लाख तिरसठ हजार रुपये जमा करने के बाद आन्ध्र शाखा का कार्य-भार संभालने के लिए कहा था। वर्धा में हम हमेशा उनके मेहमान के रूप में ठहरे और उनका हार्दिक आतिथ्य प्राप्त हुआ।

: १५ :

'साधु वणिक्'

कन्हैयालाल मा० मुनशी

जमनालालजी मेरे प्रिय मित्र थे। १९३० में जब हम दोनों नासिक-जेल में थे, तब मेरा-उनका स्नेह-संबंध हुआ था। साथ-साथ रहने से मुझे उनका हृदयदर्शन हुआ। तभी से जमनालालजी मुझमें—नहीं, मेरे सारे कुटुम्ब में, दिलचस्पी लेने लगे। जब-जब वे बम्बई आते तब-तब हम मिलते। फलस्वरूप उनके कुटुम्ब और मेरे बीच स्नेह-संबंध स्थापित होगया।

उनके अनेक गुणों में सबसे ऊंचा गुण था उनकी व्यवहार-कुशलता। वे हरएक वस्तु और विषय को व्यावहारिक रूप देते थे। उनकी उदारता का तो नाप ही न था। फिर भी किसके प्रति उदार होना चाहिए, किस प्रकार होना चाहिए और इसका क्या परिणाम निकलेगा, इसका पूरा-पूरा विचार वे करते थे। उनकी मैत्री मधुर भाषण और पारस्परिक विश्वास में ही समाप्त नहीं हो जाती थी, बल्कि अपने जीवन में प्रवेश कर उसे सुख-सुविधा पहुंचाने में तत्पर रहती थी। उनकी देशभक्ति सेवा या त्याग से ही संतोष नहीं पाती थी, बल्कि कांग्रेस की रचनात्मक प्रवृत्तियों को विधिपूर्वक करती थी। वे कांग्रेस के कोषाध्यक्ष थे और थे गांधीजी की विशाल रचनात्मक प्रवृत्तियों के व्यवस्था-मंत्री।

व्यापार-बुद्धि और नीति, लक्ष्मी और सरस्वती की तरह, साथ नहीं रहतीं, परन्तु जमनालालजी इसका अपवाद थे। इनकी व्यवहार-बुद्धि पर जीती-जागती जोत की तरह नैतिक बल हमेशा पहरा देता था। छोटी-बड़ी हर बात में यह उस्ताद व्यापारी नैतिक अपूर्वता की खोज में रहता था।

वे व्यापारी थे, देशभक्त, त्यागी, दानवीर थे, सौजन्यमूर्ति थे, पर इन सबसे भी संस्मरणीय उनकी सिद्धि थी व्यावहारिकता और नीति का सुयोग। सत्य-नारायण की कथा के 'साधु वणिक्' शब्द को उन्होंने सार्थक कर दिया था।

: १६ :

उनका कर्म-समुच्चय

घनश्यामदास बिड़ला

शायद १९१२ की बात है। बम्बई में मारवाड़ी पंचायतवाड़ी में विशिष्ट मारवाड़ियों का एक छोटा-सा समाज मंत्रणा के लिए इकट्ठा हुआ था। बम्बई में एक मारवाड़ी-विद्यालय की स्थापना का आयोजन हो रहा था। समाज के धनी और वृद्ध सभी लोग उपस्थित थे, किन्तु किसीने स्कूली शिक्षा नहीं पाई थी, इसलिए उन्हें यह पता नहीं था कि क्या करना है। पर धन एकत्र करना है, यह तो सभी जानते थे।

सभा में तरह-तरह के लोग थे। अप्रस्तुत बातें भी चलती थीं। विषयांतर भी होता था। पर एक मनुष्य था, जो जब अपना मुंह खोलता, तो लोग उसे ध्यान से सुनते थे। मैंने भी उसे ध्यान से देखा। वह पुरुष नितान्त युवक था। पचीसी के इसी ओर ही था। गौर वर्ण, स्थूल शरीर, गोल मुंह। शरीर पर रेशमी कोट और सिर पर काश्मीरी काम की टोपी। खादी की तो उस समय किसीको कोई कल्पना भी नहीं थी। स्वदेशी की परिभाषा में जापानी कपड़ा तक उस समय त्याज्य नहीं माना जाता था। इसीसे युवक की वेशभूषा के सारे कपड़े स्वदेशी नहीं थे। ठाट-बाट अमीराना था। चेहरे पर नजाकत थी, पर आंखों से सरलता और एक तरह की तेजस्विता टपकती थी। शिक्षित तो साधारण-सा ही मालूम होता था; पर बोल रहा था निर्भयता और पूरे आत्म-विश्वास के साथ। और वह लोगों को प्रभावित भी कर रहा था।

मैं तो उस नवयुवक से भी छोटा था, बीसी के इसी पार। पर मुझसे उमर में थोड़ा ही बड़ा वह युवक जिस आत्म-विश्वास, अनुभव और प्रभाव के साथ बोल रहा था, वह देखकर मुझे कुछ डाह-सी हुई। मैंने किसीसे पूछा कि यह युवक कौन है, तो पता लगा कि उस नौजवान का नाम जमनालाल

बजाज है। इस छोटी-सी उमर में देहात में रहनेवाला एक साधारण शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति सार्वजनिक कामों में इतनी लगन और सच्चाई से रस ले सकता है, यह जानकर मुझे कुछ आश्चर्य तथा कुछ कुतूहल हुआ। मुझे जानना चाहिए था कि गुदड़ी में भी लाल होते हैं।

बस, वहीं से मेरा जमनालालजी से परिचय हुआ और उनसे उस दिन से जो मैत्री ई वह फिर जमती ही गई। बीते जमाने की याद करते हैं, तो ऐसा लगता है, हमारी आंखों के आगे से मानों एक चित्रपट निकल गया है। चित्रपट का अन्त में देखा हुआ हिस्सा तो हमारी आंखों के सामने ताजगी से खड़ा रहता है। और जो हिस्सा हमारी आंखों के सामने से सुदूर अतीत में निकला है, उसकी एक धुंधली-सी रूपरेखा ही दिमाग के सामने रहती है। पर इसके अलावा, समूची तस्वीर एक अलग छाप हमारे दिमाग पर छोड़ जाती है, जो शायद सबसे ज्यादा स्थाई रहती है। नौजवान जमनालालजी की शक्ल तो इस समय आंखों के सामने अस्पष्ट-सी है। जो शक्ल आज रह-रहकर आंखों के सामने आ रही है वह तो उनका अन्तिम चित्र है। और जो चित्र हम सबके हृदय-पटल पर सदा अंकित रहेगा, वह उनकी शक्ल का नहीं, उनके चरित्र का है।

११ फरवरी की दुपहरी में अचानक सेवाग्राम में वर्धा से टेलीफोन आया। बताया गया कि जमनालालजी को एक कै हुई और उसके बाद बेहोश होगये। पन्द्रह मिनट से बेहोश हैं, ऐसा सुनने पर कुछ थोड़ी-सी चिन्ता हुई। चित्त में खास घबराहट पैदा नहीं हुई। हम सबने यह मान लिया कि साधारण बदहजमी होगी। गांधीजी को जमनालालजी की बीमारी का हाल बताया गया तो वे वर्धा जाने के लिए उठे। मुझे तो जाना ही था।

मैंने पूछा, "कोई गंभीर बीमारी तो नहीं है?"

गांधीजी ने उत्तर दिया, "क्या जानें, रक्त का दबाव तो उन्हें ै ही। भोजन में कुछ गलती हुई, ऐसा मालूम होता है। गजब होगा, यदि उनसे हमारी मुलाकात न हो पाई।

रक्त का दबाव है और बेहोश हैं, ऐसा सुनकर मेरा माथा ठनका सही,

पर आशा ने चिन्ता को दबा दिया।

हम दोनों मोटर में बैठकर चले तो रह-रहकर आंखों के सामने जमनालालजी का चित्र आता था। परसों तो आ ही थे, कल आने की कह गये थे। कोई गंभीर बीमारी कैसे हो सकती है? संभव है, हम पहुंचे उसके पहले ही बेहोशी मिट जाय और जमनालालजी हमें हँसते हुए मिलें।

मैंने कहा, "बापू, इन्हें अब आश्रम में ले जाना चाहिए।"

"हां, कुछ ठीक होने के बाद तो यही करेंगे। आश्रम भी तो एक तरह का कैदखाना है। यहीं जमनालाल रोक-टोक में रह सकते हैं और परिश्रम से बच सकते हैं।"

सारे रास्ते—और पन्द्रह मिनट का ही तो रास्ता था—जमनालालजी की तस्वीर आंखों के सामने नाचती रही। आखिर पहुंचे। लोगों की एक छोटी-सी भीड़ घर के आंगन में जमा थी। सबके चेहरों पर विषाद था। मैंने पूछा, "कैसी है तबीयत?" पर कोई जवाब नहीं मिला। लोगों की खामोशी से भी मुझे कोई इशारा न मिला। इतने में एक तरफ की सीढ़ी से डाक्टर दौड़ता-सा आया।

"बापू, जमनालालजी तो चले गये"—बस उसने इतना ही कहा। वे अत्यन्त कठोर शब्द थे। तो भी, पता नहीं क्यों, इस अनिष्ट का विश्वास करने को जी नहीं चाहता। जिसे हमने हर पल जिन्दा पाया, वह यकायक कैसे गायब हो सकता है? हम जानते हैं कि मनुष्य मरता है, पर हमारा स्वजन मरेगा या हम मरेंगे, यह खयाल भी बेचैनी पैदा करता है। इसलिए, अफ्रीका के शुतुरमर्ग पक्षी की तरह, जो खतरा दिखाई देने पर थल में अपना सिर गाड़ कर यह मान लेता है कि खतरा है ही नहीं, हम भी आंखें खुली होने पर भी देखने से इन्कार कर देते हैं। मैंने भी ऐसा ही किया; पर जमनालालजी अब इस ससार में नहीं थे, यह अप्रिय सत्य तो सत्य ही था। जिस चीज की धड़कन थी वह हो ही तो गई।

हमने जमनालालजी के कमरे में प्रवेश किया। देखा, जमनालालजी गद्दे पर लेटे पड़े थे। प्राणों ने अपने चिरसंगी शरीर को, जिसमें उन्होंने बावन

साल के करीब निवास किया था, अभी-अभी चन्द मिनट पहले ही छोड़ा था। जान पड़ता था, मानों जमनालालजी शान्त निद्रा में सोये पड़े हैं। चेहरे पर न कोई दुःख था, न विषाद। न कोई उद्वेग का चिन्ह, न शरीर में किसी तरह की कोई वृत्ति। तकिये पर सिर दिये, गंजी पहने, पांव पसारे, बिना कुछ ओढ़े, शान्त जमनालालजी गाढ़ी नींद में सो रहे थे। जमनालालजी के दांत सब टूट चुके थे, बनावटी दांत वह खाने या बाहर जाने के समय ही लगाते थे। इसलिए बिना दांतों के उनके गाल बैठे पड़े थे। चेहरे पर बुजुर्गी-सी छाई हुई थी।

एक दृश्य था शुरू का मेरी आंखों के सामने, जब जमनालालजी को बम्बई में पंचायतवाड़ी में मैंने देखा था। जमनालालजी उस समय नौजवान थे। ताजा थे। एक शक्ल जमनालालजी की आज की थी।

कितना अन्तर था इन दोनों में !

पहला दृश्य तीस साल की प्राचीनता पा चुका था। इस लम्बे अरसें में कितनी घटनाएं घटीं। कितना ऊंच-नीच जमनालालजी ने देखा। पर जमनालालजी की गाड़ी तो बस जो चली तो फिर वह चली ही चली। सन्मार्ग की पटरियों पर तेजी के साथ वह दौड़ती ही रही। पानी और कोयले के लिए इंजन ठहरता है, पर जमनलालजी ने तो दाना-पानी भी दौड़ते-दौड़ते ही चुगा। अविश्रान्त गति से दौड़ती हुई गाड़ी में कहीं का पुर्जा ढीला होगया तो कहीं से कील टूटकर गिर गई, पर जमनालालजी को तो अपनी मंजिल पर पहुंचना था। इसलिए मरम्मत के लिए भी उन्हें फुरसत कहां ? ढलती उमर में शरीर ढीला पड़ गया था। पर गाड़ी तो दौड़ती ही जाती थी।

'वृद्धत्वं जरसा बिना'। बावन साल की उम्र में ही जमनालालजी को बुढ़ापा क्यों आगया ? क्योंकि उन्होंने अपनी गाड़ी की रफ्तार बढ़ा दी थी। जमनालालजी ने अपने बावन बरसों में इससे कहीं ज्यादा बरसों की जिन्दगी बसर की। उन्हें धीरज नहीं था कि मंजिल पर धीरे-धीरे पहुंचे, इसलिए गाड़ी टूटती गई। तो भी जमनालालजी ने मुड़कर नहीं देखा। गाड़ी टूटती है या साबित रहती ह, इसकी जमनालालजी को न कोई चिन्ता थी, न उसका

विषाद। ध्येय था मंजिल पर पहुंचना और जल्दी-से-जल्दी पहुंचना। इसलिए शरीर की अवज्ञा करके भी उनकी आत्मा उड़ान लेती जा रही थी।

शरीर बेचारा आत्मा का कहांतक साथ दे सकता था ? अन्त में शरीर ने दौड़ने से इन्कार कर दिया तो आत्मा शरीर को तजकर अकेली ही दौड़ने लगी। घोड़ों की डाक में एक घोड़ा थक जाता है तो सवार दूसरे घोड़े पर चढ़ने दौड़ता है। जमनालालजी का भी यही हाल था। जब शरीर थक गया तो आत्मा ने उस थके शरीर को छोड़ दिया। आत्मा को तो अभी दौड़ना ही है। उसे अपनी मंजिल पर पहुंचना है। तो फिर ताजा घोड़ा-शरीर क्यों न पकड़ा जाय ?

आत्मा शरीर को छोड़कर उड़ गई। दौड़ जारी है। जमनालालजी की आत्मा जबतक मंजिल पर नहीं पहुंचती, विश्राम ले ही नहीं सकती। उसकी उड़ान जारी रहेगी। जमनालालजी के जीवन की यह सूत्ररूप कहानी है।

गांधीजी ने आते ही जमनालालजी के सिर पर हाथ रखा। जमनालालजी की धर्मपत्नी श्री जानकीदेवी तो कुछ हक्की-बक्की-सी रह गई थीं। गांधीजी को देखते ही वह आशा की तरंगों में उछलने लगीं।

"बापूजी, ओ बापूजी ! आप पास में होते तो यह न मरते। मैंने इनको तबीयत बिगड़ते ही जल्दी खबर क्यों न भेज दी ? इन्हें आप अब जिंदा कर दीजिए। क्या आप इन्हें जिला नहीं सकते ?"

गांधीजी ने कहा—"जानकी, अब तुम्हें रोना नहीं है। तुम्हें तो हँसना है और बच्चों को हँसाना है। जमनालाल तो जिंदा ही हैं। जिसका यश अमर है तो फिर उसकी मृत्यु कैसी ? उसकी मृत्यु तो तभी हो सकती है, जब तुम उसका मार्ग-अनुसरण करने से मुंह मोड़ो। जमनालाल ने परमार्थ की जिंदगी बिताई। तुम्हारी-जैसी साध्वी स्त्री उसे मिली तो फिर रोना कैसा ? जो काम उसने अपने कंधे पर लिया था उसे अब तुम सम्हालो। उसी ध्येय के लिए तुम अपने-आपको संपूर्णतया अर्पण कर दो और जमनालाल जिंदा ही हैं, ऐसा मानो। तुम जानती हो कि मृत सत्यवान को सावित्री ने

अपने तप से पुनर्जीवित कर लिया था। वह पुनर्जीवन शरीर का क्या हो सकता था ? शरीर तो नाशवान ही है। सावित्री ने अपने तप से सत्यवान के तप को सदा के लिए अमरत्व दे दिया। यही 'सावित्री-सत्यवान' की कथा का सच्चा अर्थ है। तुम भी अपने तप से अपने पति के यश को जागृत रखोगी, तो फिर जमनालाल जिंदा ही हैं, ऐसा हम मान सकते हैं।"

"बापूजी, मैं तो अपने-आपको अर्पण करने को तैयार हूं, पर मेरी शक्ति ही क्या ? मेरा तप ही क्या ? मैं उनके काम को कैसे चलाऊंगी ? कैसे उनके तप को जागृत रखूंगी ? आप इन्हें मरने मत दीजिए। आप क्या इन्हें जिला नहीं सकते ? तो क्या ये मर ही गये ? क्या अब बोलेंगे नहीं ?"

"मैं तुम्हें झूठा धीरज नहीं देने आया हूं। जमनालाल का शरीर मर गया, पर असल जमनालाल तो जिंदा ही हैं और आगे के लिए उन्हें जिंदा रखना हमारा काम है।"

जानकीदेवी तो श्रद्धा में ओतप्रोत हो रही थीं। बार-बार "इन्हें जिलाइए" की धुन लगी हुई थी। बेचारी कैसे विश्वास करें कि गया हुआ किसी भी हालत में कोई लौटा नहीं ? उनका विलाप तो किसी गौतमी की कहानी की याद दिलाता था। किसी गौतमी का बच्चा मर गया था, तो मोह-वश उसने उसका दाह नहीं किया। उसने सोचा, शायद मरा हुआ भी फिर से जिंदा हो सकता है। इसलिए बच्चे को लेकर भगवान् बुद्ध के पास पहुंची और कहने लगी, "भगवन्, इसे जिला दीजिए।" बुद्ध ने कहा, "देवी, इसे मैं अवश्य जिला दूंगा। तुम कुछ राई के दाने मुझे ला दो। पर वह ऐसे कुटुम्ब से लाना, जहां किसीकी मृत्यु न हुई हो।" गौतमी घर-घर भटकी। पहले कुछ राई के दाने मांगती, फिर पूछती, आपके यहां कभी कोई मृत्यु तो नहीं हुई ? जवाब वही मिलता जो मिलना चाहिए था। अंत में थक गई। तब बुद्ध भगवान् के पास वापस लौटी और कहने लगी—"भगवन्, मैं अनेक घरों में गई, पर ऐसा एक भी घर न मिला, जो मृत्यु से प्रहारित न हो।" तब भगवान बुद्ध ने उसे उपदेश दिया और उसका मोह हटाया।

गांधीजी ने भी जब उपदेश दिया तो जानकीदेवी की आशा टूट गई

अब तो वह वाण से पीड़ित हरिणी की तरह तड़फड़ा उठीं।

"पर जिला नहीं सकते तो उन्हें भगवान् का दर्शन तो कराइए। बापू, कुछ भजन गाइए। विनोबाजी से गीता सुनवाइए। हम सब भजन गायंगे। चलो, अब "ऊं, ऊं बोलें। कोई मत रोओ। सब 'राम-राम' पुकारो।"

"जानकी, जमनालाल को तो भगवान् के दर्शन हो चुके। अब तुम्हें दर्शन करना है, उसकी तैयारी करो। जो काम उन्होंने आधा किया है, उसे पूरा करो। उस काम के लिए तुम अपना तन, मन, धन सारा होम दो।"

"तो बापू, मुझे सती करा दीजिए। क्या इस जमाने में कोई सती नहीं हो सकती? आप विश्वास रखिए, मुझे आग नहीं सतायगी, कोई दर्द नहीं होगा। मैं सुख से जल जाऊंगी। मुझे सती करा दीजिए।"

"जानकी, जलने में क्या बहादुरी है? हजारों स्त्रियां पति के साथ जली हैं। उसमें एक तरह की बहादुरी है सही, पर वह सच्ची बहादुरी नहीं है। असल सती होना कुछ न्यारी चीज है। वही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। सती को शरीर का क्या जलाना है? वह तो तुच्छ है, मिट्टी है। तमाम दुर्गुणों को जला देना ही सच्चा सतीत्व है।

जड़-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुणमय पियहिं, परिहरि वारि विकार॥

"सो तुम हंस का अनुकरण करो।

"अपने सब दुर्गुणों को जमनालाल की चिता में होम दो। बाकी जो बचे वह शुद्ध कांचन है। उसे कैसे जलाया जा सकता है? उसे तो कृष्णार्पण ही किया जा सकता है। मेरा मानना है कि स्त्री ही त्याग की मूर्त्ति बन सकती है, क्योंकि हिन्दू-स्त्री विधवा होने पर सारे भोगों को तिलांजलि दे देती है और विकारों का शमन कर लेती है। इस तप के कारण उसमें एक नया बल आ जाता है। तुम अब त्याग-मूर्त्ति बन गई। अपने अवगुणों को तुम जमनालाल के हवन-कुण्ड में उसके शरीर के साथ भस्म करो और जो शुद्ध सुवर्ण रह जाय, उसे कृष्णार्पण कर दो। यही सती होना है। उठो, तुम सती हो जाओ।"

"बापूजी, जैसी आपकी आज्ञा। धन को तो मैंने मिट्टी माना है। मुझे चाहिए भी क्या? खानेभर को तो मेरे बच्चे भी मुझे देंगे। आप हैं, भगवान् हैं, यह संसार है। मुझे कौन भूखों मरने देगा? इसलिए मेरी सम्पत्ति और मैं सब कृष्णार्पण" श्री जानकीदेवी इतना कहकर स्वस्थ और शांत बन गईं।

जमनालालजी का मृत शरीर धीरे-धीरे पीला पड़ने लगा। पांव नीले होने लगे। तब तो याद आया कि जो बचा है उससे भी जुदाई होनेवाली है।

यह दृश्य निकट भूत का है, इसलिए अधिक स्पष्टता से सामने आता है। सुना, जमनलालजी की बेहोशी और मृत्यु का कारण तो रक्त के अधिक दबाव के कारण उनकी मस्तिष्क-स्थित शिला का फट जाना था। मैं सोचने लगा, क्या ब्रह्मरंध्र-भेदन भी कपाल के भीतर की शिरा को योग-क्रिया द्वारा भेद देने का ही नाम था? सम्भव है, प्राचीन ऋषियों को एक ऐसी क्रिया का ज्ञान हो, जिसके द्वारा वे इच्छा होने पर कपाल की शिरा का भेदन करके प्राण छोड़ देते थे। इसीको शायद 'कपाल-क्रिया' कहते रहे हों। जो हो, जमनालालजी ने सुख की मौत पाई। पन्द्रह मिनट के भीतर-भीतर सारा किस्सा खत्म हुआ। मुझे अक्सर लिखते थे, "ईश्वर से मांगो कि मुझे सुख की मौत मिले।" ईश्वर ने उन्हें वही दिया, जो चाहते थे।

जमनालालजी का यह अन्तिम चित्र हृदय को अवश्य ही द्रवित कर देनेवाला है। पर उनका असली चित्र तो उनका कर्म-प्रदर्शक का काम दे सकता है। वह मनन करने योग्य है।

: १७ :

प्रथम विजय

कालीप्रसाद खेतान

अक्तूबर १९१२ के बीच की बात है। मारवाड़ी-समाज के नवयुवक सुधारकों ने संकल्प किया था कि समुद्र-यात्रा-निषेध पूर्ण रूप से तोड़ दिया जाय। कलकत्ता में पुराने तथा नए विचारवालों में इस विषय पर एकमत होने की कोई सम्भावना न रही थी। इसलिए कतिपय उत्साही नवयुवकों की सहानुभूति प्राप्त करके मैं जयपुर होता हुआ बम्बई पहुंचा। बम्बई में मुझे बिड़ला-बन्धुओं का न केवल आतिथ्य प्राप्त हुआ, उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि हर हालत में वह मेरा साथ देंगे। मेरे रिश्तेदार सेठ खेमराजजी ने मेरा बहुत प्रेम से स्वागत किया, परन्तु उन्होंने मुझसे आरम्भ में ही कहा कि उन्हें बहुत डर है कि विलायत-यात्रा के द्वारा धर्म तथा समाज पर बुरा आघात पहुंचेगा। वह पुराने विचार के सनातनधर्म-निष्ठ सज्जन थे। उनसे कुछ देर तक बातें हुईं। फलतः मुझे अनुमान हुआ कि वह अंध-विरोधी नहीं हैं। मैं अल्पवयस्कता के आवेग में कह बैठा कि यदि आपकी हार्दिक अनुमति न प्राप्त कर सकूंगा तो जहाज पर नहीं सवार होऊंगा। खेमराजजी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर तत्क्षण अपने कई पुराने विचारवाले मित्रों को कहला दिया कि मैंने विलायत-यात्रा का निर्णय उनपर छोड़ दिया है। बम्बई के नवयुवक बन्धुओं में खलबली तथा निराशा फैल गई। अन्त में यह निश्चय हुआ कि मैं एक अत्यन्त धैर्यवान् तथा प्रभावशाली नवयुवक से मिलूं और उनसे परामर्श करूं। उनका नाम था जमनालाल बजाज। मुझे बम्बई पहुंचने के पहले उनका नाम सुनने का अवसर शायद नहीं मिला था। बम्बई पहुंचते ही कई मुंह से सुना कि जमनालालजी समाज में एक अद्वितीय पुरुष हैं। उनसे बिना मिले मैं विलायत न जाऊं। इसलिए उनसे मिलने

का तो निश्चय था ही, अब तो मिले बिना उपाय ही न रहा।

सायंकाल मैं उनके यहां गया। प्रथम दर्शन कुछ विचित्र था, इसलिए मुझे जन्म-भर स्मरण रहेगा। मेरा परिचय पाते ही उनके मुंह से शब्द तो एक-दो ही निकले, परन्तु उनकी आंखों में इतना स्नेह भरा था कि मैं देखकर अवाक् रह गया। वह पहले ही सुन चुके थे कि मैंने मामले को उलझन में डाल दिया है। उसके लिए उनके नेत्रों में जरा भी कष्ट तथा क्रोध का भाव नहीं था। उन्होंने एक भाड़े की मोटर मंगाकर मुझसे कहा, "चलिए समुद्र-किनारे। कौन-सा उपाय किया जाय, उसपर हम दोनों विचार-विनिमय करें।"

समुद्र-किनारे समुद्र-यात्रा का प्रश्न गम्भीरता से मंथित हुआ—केवल मेरी व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं, समाज को तथा देश को क्या लाभ-हानि है, कैसे मनुष्यों को समुद्र-यात्रा करने का अधिकारी स्वीकार करना चाहिए, कौन-कौन-से नियम माने जा सकते हैं, इत्यादि-इत्यादि। विदा होने के पहले उन्होंने कहा, "सेठ खेमराजजी से कह दीजिएगा कि कल सन्ध्या को मारवाड़ी विद्यालय में एक सभा बुलाई जाय और वहां इस प्रश्न का निर्णय हो।"

सेठ खेमराजजी ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। दूसरे दिन शाम को मारवाड़ी विद्यालय का हाल सब दल-वालों से भर गया। भाई जमनालालजी—उन्होंने बड़े प्रेम से वह रिश्तेदारी मुझे पहली भेंट के अन्त में दे दी थी—की शान्त मूर्ति और बिड़ला-बन्धुओं के उत्साह को देखकर दिल में आशा हुई कि आज लक्षण तो अच्छे हैं। आरम्भ में मुझे जो कुछ कहना था सो मैंने कहा। उसके बाद बहुत-से प्रश्नोत्तर हुए। वातावरण शुद्ध था। मुझे समझने में देर न लगी कि जमनालालजी, बिड़ला-जी तथा अन्य नवयुवक मित्रों ने दिन-भर योग्यतापूर्वक काफी प्रचार किया था। जो हो, सभा में बहुत तरह की बातें उठ रही थीं। किसीने कहा—कल-कत्ते में पूरा विरोध है। जमनालालजी ने बड़ी शान्ति से पूछा, "क्या बम्बई कलकत्ते के पीछे-पीछे चलेगी या अपनी बुद्धि से काम लेगी?" फिर क्या था! बम्बई स्वतन्त्र विचारधारा में पड़ गई। जमनालालजी ने मुझे इशारा करके

दूसरे कमरे में भेज दिया। जब मैं लौटा तो देखा कि कई प्रबल वयोवृद्ध नेता कुछ-कुछ मेरे पक्ष में झुकने लग गए। देर हो रही थी। सेठ खेमराजजी ने कहा, "मैं तो समझता हूं, जिस प्रबन्ध के साथ और जिस उद्देश्य से कालीप्रसाद-जी जा रहे हैं, उसमें कोई विशेष हानि नहीं है, और मैं तो इनका समर्थन करता हूं।" मैंने कहा, "मेरा प्रण पूरा हुआ और अपनेको धन्य समझता हूं।" सभा से आशीर्वाद लेकर मैं विदा हुआ। १९ अक्तूबर को समाज के सैकड़ों शुभ-चिन्तकों ने मुझे बहुत प्रेम और उत्साहपूर्वक स्टीमर में रवाना किया। विदेश का द्वार मारवाड़ियों के लिए खुल गया। मारवाड़ी समाज एक बड़े बन्धन से मुक्त हुआ।

जुलाई १९१४ में वापस लौटने पर जमनालालजी ने बड़े प्रेम से स्वागत किया। उनके सहृदय आग्रह के कारण वर्धा होता हुआ कलकत्ते गया। यद्यपि बम्बई में मैं ग्यारह दिन ठहरा था, तथापि जमनालालजी से दिल खोल-कर घंटों तक बातचीत न हो सकी थी। वर्धा में वह मुझे गांव से दूर एक मनोहर सड़क पर ले गए, जहां नीम के वृक्षों की सुन्दर कतार मीलों तक लगी हुई थी। वहां विलायत के अनुभव, मारवाड़ी समाज में कुरीतियां तथा सुधार के उपाय, देश में उपयोगी शिक्षा-प्रणाली इत्यादि अनेक विषयों पर बातचीत हुई। उस दिन उनके हृदय की असली झांकी मुझे मिली। मैंने समझ लिया कि परोपकार के लिए वह अपनेको तन-मन-धन से अर्पण कर चुके हैं।

समुद्र-यात्रा का प्रश्न जमनालालजी के लिए पहला खुला संग्राम था। वर्षों तक एक सेनापति जनरल की हैसियत से उन्हें अग्रगामी बनना पड़ा था, कितने ही मोर्चों पर लड़ाई हुई। अन्त में इस प्रश्न के हल हो जाने का उन्हें सन्तोष था। प्रथम विजय का क्षेत्र कितना ही छोटा क्यों न हो, अपना एक महत्व रखता है।

१९१४ के बाद से जमनालालजी मेरे और मेरे कुटुम्ब के प्रति सहृदयता बनाए रक्खे रहे। उनके हृदय के विस्तार तथा गहरेपन का पता इस बात से चलता था कि किसी भी मतभेद के कारण वह किसीको अपने प्रेम से वंचित नहीं रखते थे।

: १८ :

भारत का सपूत

रामेश्वरी नेहरू

जमनालालजी छोटी ही अवस्था में इस असार संसार से चल बसे। बसे तो इस मृत्युलोक में आवागमन का चक्र सदा चलता ही रहता है, जो जन्मा है, उसकी मृत्यु निश्चित है; भगवान् ने कहा है—"गतासून गतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:",परन्तु जो हजारों का सहारा हो, जो दूसरों का बोझा अपने कंधों पर लेकर बैठा हो, उसके चले जाने से हृदय शोकातुर क्यों न हो? भारतवर्ष की दरिद्र जनता की सेवा में लगे हुए अनेक कार्यकर्त्ता देखते-देखते क्षणभर में इस महापुरुष के चले जाने से बे-सहारा होगये। सहस्रों कार्यकर्त्ताओं को ऐसा लगा, अब अपनी कठिनाइयों को जाकर किसे सुनायंगे? अब हमारी मुश्किलों को कौन हल करेगा? अब हमारे अच्छे-बुरे को कान लगाकर कौन सुनेगा? अपने अद्‌भुत प्रेम से, सहानुभूति से हमारे दुखों में कौन शरीक होगा? जमनालालजी ने सचमुच अपने आपको लोक-सेवा के अर्पण कर दिया था। अपनी आत्मा का साधारण जनता में समावेश करके वे अपना व्यक्तित्त्व भुला चुके थे। उनके समान सच्चे, वीर, त्यागी, महापुरुष संसार में रोज-रोज नहीं जन्मते। उन्होंने भारत की जो सेवा की है, वह विरले ही किसी दूसरे ने की होगी।

गांधीजी के रचनात्मक कार्य के प्रत्येक अंग के चलाने में उनका बड़ा भारी हाथ था। वे नये भारत के एक निर्माण-स्तम्भ थे। उनके पवित्र हाथों और शुद्ध हृदय से चलाये हुए कार्यों से ही,जिन्हें उन्होंने अपने जीवन और प्राण-शक्ति से सींचा, भारत उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ रहा था। सार्वजनिक जीवन में उनका स्थान अब कौन ले सकता है?

इतना सब होते हुए भी उनकी नम्रता विचित्र थी। उनको शायद स्वप्न

में भी कभी यह ध्यान नहीं आता था कि उन्होंने कोई बड़ा काम किया है। उनका आदर्श ऊंचा, ध्रुव के समान अटल था, और सदा उनकी दृष्टि उसीपर लगी रहती थी। उसकी ऊचाई को देखते हुए तो उन्हें अपनी त्रुटियां और कमजोरियां ही दिखाई दिया करती थीं। वे क्या जानते थे कि वे अपने आदर्श के कितने निकट पहुंच चुके थे।

उनका मन तो और ऊंचा उठने के लिए सदा ही अधीर रहता था। सेवा का चाव बढ़ रहा था, कार्य का क्षेत्र दिन-दिन विस्तृत हो रहा था। मन की शुद्धि होकर आत्मा का विकास हो रहा था, परन्तु वे अपने गुणों से नितान्त अपरिचित थे। तभी तो जिससे बात करते थे, उसका मन मोह लेते थे। उनसे लाखों आदमी प्रेम करते थे।

वे उन थोड़े से लोगों में थे जो, जो सोचते हैं, वही कहते हैं; जो कहते हैं, वही करते हैं। भारी धनराशि के स्वामी होकर भी आदर्श, सादा जीवन बिताते थे, धन का सच्चा उपयोग करते थे, बाहरी दिखावे और विलासिता में एक पैसा भी व्यर्थ न खोकर लाखों रुपये का दान काल और पात्र को देखकर करते थे।

उनमें गुण थे और उनका जीवन आदर्श था। वे भारत के सच्चे सपूत थे। महात्मा गांधी के अनोखे भक्त थे। आज उनकी कीर्त्ति की उज्ज्वल ज्योति से भारत रोशन है और उनकी प्रेम-भरी याद भारतवासियों के हृदयों में बराबर कायम है और रहेगी। इतिहास के पन्नों में उनका नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायगा। भारत के भावी बच्चे सदा स्नेह और आदर से उनकी कथा बांचकर उसपर चलने का प्रयत्न करेंगे।

जमनालालजी मरे नहीं, जिन्दा हैं और सदा जिन्दा रहेंगे।

: १९ :

उनकी सहृदयता

त्र्यम्बक दामोदर पुस्तकें

पांच-सात बार मुझे जमनालालजी के साथ रहने का मौका मिला। तीन-चार बार तो मैं उनका मेहमान होकर ही उनके यहां ठहरा था। वे उज्जैन-इंदौर आये थे। उस समय भी मैं उनके साथ था। उनके सौजन्य, आदरातिथ्य, व्यवहार-कौशल, उद्योगिता, देशप्रेम, औदार्य आदि कई गुणों का जो परिचय मुझे हुआ, उसकी मेरे दिल पर तो हमेशा के लिए छाप रहेगी।

वर्धा में उनकी बैलगाड़ी में बैठकर मैं महिला-आश्रम देखने गया। इत्तफाक से बैल ने मेरे पैर पर लात मार दी। मुझे चोट आई। दो-तीन रोज मुझे वहां रहना पड़ा। वे खुद मेरे इलाज में काफी दिलचस्पी लेते रहे और काफी देर तक मेरे पास बैठे रहते थे। थोड़ा-सा आराम होने पर मैंने उज्जैन जाने का आग्रह किया। मैं सहारे से उठ सकता था, थोड़ा घूम-फिर भी सकता था तो भी बिजौलिया के माणिक्यलालजी से मुझे उज्जैन तक पहुंचाने को कहा और कई दिनों तक मेरे स्वास्थ्य की पूछताछ करते रहे।

वे एक बार उज्जैन आये तो इस खयाल से कि उन्हें अच्छी जगह ठहराया जाय, हम लोगों ने उनके ठहरने का प्रबन्ध विनोद मिल में किया। उन्होंने दो-तीन दफा मुझसे कहा कि आपने मुझे अपने मकान पर क्यों नहीं ठहराया? मैं तो वहां ज्यादा खुशी से रहता। मैंने कहा—"मेरे यहां तो जगह बहुत थोड़ी है और आपको बहुत असुविधा होती।" उन्होंने हँसकर उत्तर दिया, "आप भी तो उन्हें सहते हैं। कार्यकर्त्ताओं को एक साथ ही रहना चाहिए।" इतने बड़े आदमी होते हुए भी मुझ-जैसे साधारण आदमी का भी उनको कितना खयाल था?

: २० :

उनकी महान देन

वैकुंठलाल मेहता

उन लोगों में, जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता-संघर्ष के १९१७ से १९४७ तक के दौर को देखा है, कम ही ऐसे होंगे जो राष्ट्रीय कार्य की बढ़ोतरी में श्री जमनालाल बजाज के २५ वर्षों से भी अधिक काल तक के उनके महान् योगदान से अपरिचित हों। लेकिन इसमें से भी कई श्री जमनालालजी को कांग्रेस के कोषाध्यक्ष, कांग्रेसी मंच के एक प्रमुख व्यक्ति तथा कांग्रेस को उदारता से चंदा देनेवालों में एक के रूप में ही जानते थे या उन्होंने उनके बारे में ऐसा ही सुन रखा था। जमनालालजी यह सब तो थे ही, लेकिन उनकी प्रसिद्धि के लिए उनका यह अकेला ही दावा नहीं है।

चालीस साल से भी ज्यादा हुए, मेरी श्री जमनालालजी से जान-पहचान हुई। यह उनके राजनीति-जगत में प्रवेश करने से पहले की, पर व्यापार-जगत् में घुसने के करीब की ही बात है। वर्धा में व्यापार में सफलता प्राप्त कर लेने के बाद श्री जमनालालजी ने अपनी फर्म बंबई में शुरू की। अपने शुरू-शुरू के दिनों में वह अंधेरी (बंबई की एक उप-बस्ती) में रहा करते थे। और मैं पहली बार हमारे परिवार के 'टेनिसकोर्ट' पर उनके संसर्ग में आया। वह मुझसे भी ज्यादा बेदिली से टेनिस खेलते थे, लेकिन उन्होंने जल्दी ही टेनिसकोर्ट के छोटे-से दायरे में और मेरे मकान तक में अपने प्रभाव को महसूस करा दिया। मेरे पिता और उनके बीच आयु का अंतर उनके बीच मित्रतापूर्ण तथा व्यक्तिगत संबंधों के पैदा होने में बाधक नहीं बना। वास्तव में, श्री जमनालालजी मेरी अपेक्षा पिताजी के अधिक निकट थे, विशेषकर इसलिए कि दोनों कई संस्थाओं के सह-संचालक थे।

१९३४ के अंत में जब मैं पहली बार वर्धा गया और बजाजवाड़ी

में ठहरा, तो मुझे यह बताया गया कि कोई आधा वर्धा श्री जमनालालजी का है और कस्बे में उनकी मरजी कानून है । यह घोर अतिशयोक्ति-पूर्ण कथन था, लेकिन एक बात साफ थी कि उन्होंने और उनके परिवार ने वर्धा के विकास में किसी भी स्थानीय व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक योगदान किया था और अपन लोक-कार्य के कारण श्री जमनालालजी को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था । यह भी ठीक है कि श्री जमनालालजी की भूमि-विकास के भावी क्रम के बारे में बड़ी पकी हुई समझ थी । अपने साधनों से वह ऐसी संपत्ति को, जिसके मूल्य के बढ़ने की संभावना होती थी, खरीद-कर रिहायशी या व्यापारी प्रयोजनों के लिए बेचने के लिए उपलब्ध कर देते थे । अंधेरी की 'गार्डन कालोनी', जहां मैं अब रहता हूं, केवल जमनालाल-जी की इस दूर-दृष्टि के कारण है कि उन्होंने धान के खेतों को खरीदकर मकान बनाने के मतलब के बनाकर उपलब्ध कर दिया था ।

व्यवसायियों में वह गांधीजी के जादू में आनेवालों में सबसे पहलों में थे । उनका जीवन—निजी और सार्वजनिक—गांधीजी के साथ उनके संसर्ग से इतना ढल गया था कि यह कहा जा सकता था कि गांधीजी ने उन्हें आदमी के रूप में फिर से बनाया । लेकिन यह कथन अंशतः ही ठीक होता—जमनालालजी में चरित्र के ऐसे गुण विद्यमान थे जिनके कारण वह कहीं पर भी आदर और सम्मान प्राप्त करते । पुरानी सरकार ने वास्तव में उनको एक खिताब दिया भी था—बहुत करके उनके इन गुणों के कारण, और बहुत करके उन सेवाओं के कारण, जो उन्होंने छोटी आयु से ही अपने माने शहर वर्धा में की थी ।

वह केवल गांधीजी की मंडली के अंग के रूप में ही नहीं चमके । राष्ट्रीय संग्राम के प्रारंभिक दिनों में ही श्री किशोरलाल मशरूवाला तथा श्री गोकुलभाई भट्ट के साथ जमनालालजी ने विलेपार्ले छावनी के चारों ओर कार्यकर्ताओं का एक ऐसा गिरोह एकत्र कर लिया, जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य जहां भी कर्तव्य की पुकार हो वहां सेवा करना था । मुख्यतः इन्हीं तीनों ने एक ऐसे संगठन की नींव डाली, जिसने सभी मोर्चों

पर एक अद्वितीय ढंग से राष्ट्रीय संघर्ष चलाया। रचनात्मक *गतिविधियों पर संभवत: इतना अधिक ध्यान और कहीं नहीं दिया गया, जितना कि* बंबई की उपबस्ती के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने दिया।

यह श्री जमनालालजी के व्यावहारिक दृष्टिकोण और कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग में उनकी दिलचस्पी के कारण ही था कि वह गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के सभी बहिर्मुखी पहलुओं में कई और तत्कालीन कांग्रेस-कार्यकर्ताओं की अपेक्षा कहीं अधिक सजीव एवं सक्रिय भाग ले पाय। जमनालालजी का भाग कोई शास्त्रीय ढंग का न था, जो लिखने, भाषण देने या समिति-सभाओं में सहायता देने तक ही सीमित रहता। योजना के कार्यक्रम का कोई पहलू मुश्किल से ऐसा होगा, जिसकी पूर्ति में जमनालालजी ने खासा योगदान न किया हो। गांधीजी को तो बस एक बार अपनी योजनाओं के परिणामों के बारे में निश्चित होने और किसी नये कार्यक्रम को निश्चित करके यह बताने भर की जरूरत थी कि उनके कार्यक्रम की आवश्यकताएं क्या हैं। बाद में तो जमनालालजी सभी जरूरी चीजों को गांधीजी की सेवा में देने को सदा तैयार थे! यदि जमनालालजी से भूमि, धन, बिना ब्याज के कर्ज आदि के रूप में अधिक सहायता नहीं ली गई, तो यह इसलिए नहीं था कि जमनालालजी की तरफ से कोई हीला-हवाला था, बल्कि इसलिए कि गांधीजी ने इसकी सीमाएं निश्चित कर दी थीं कि सहायता कहांतक जा सकती है। मुझे संदेह है कि हमारे राष्ट्रीय, सामाजिक तथा आर्थिक आंदोलन के दौरान में कोई और ऐसा साधन-संपन्न दाता था जिसने इतनी अधिक, इतनी स्वार्थहीनतापूर्वक तथा इतने अरसे तक सहायता दी हो, जितनी जमनालालजी ने दी।

वह विनम्र, आडंबरहीन, मित्र-भावपूर्ण, भलाई के लिए सदा तैयार और भाषा तथा व्यवहार में सदा मधुर थे।

: २१ :

पूर्णतः धार्मिक

केशवदेव नेवटिया

मेरा और जमनालालजी का संपर्क इस प्रकार हुआ कि मेरी खुद की रुचि भी समाज-सुधार की ओर थी और कुछ राजनीति की तरफ भी। मैंने अपने जन्म-स्थान फतेहपुर (राजस्थान) में ही सुना था कि जमनालालजी इन दोनों ही बातों में बड़े योग्य हैं और पूरा रस ले रहे हैं।

उन दिनों मेरी अवस्था १९-२० वर्ष की थी और उनकी १७-१८ की। बम्बई से फतेहपुर (राजस्थान) लौटनेवाले लोग जमनालालजी की प्रशंसा किया करते थे। मैंने पहले-पहल उन्हें १९१४ ई. के बाद ही बिड़लों के यहां बम्बई में देखा।

अवसर इस प्रकार आया कि श्री रामेश्वरदासजी बिड़ला ने एक मकान किराये पर ले रखा था। जाति-बिरादरीवालों को वे वहीं भोजन कराया करते थे। उस दिन जब सब भोजन करने बैठे तो रामेश्वरदासजी ने कहा—"बाजरे की रोटी और राबड़ी बनाई है, जमनालालजी! आदत बनानी होगी—व्यापार में नुकसान है।" मैंने उनकी बातों से समझ लिया कि जमनालालजी बजाज यही हैं। अभी तक उनसे मिलने का मौका इस-लिए नहीं आया था कि न तो वे ही हमेशा बम्बई रहते थे, न मैं ही।

मेरा जमनालालजी से व्यापार में साथ इस प्रकार हुआ कि मेरे भतीजे रामेश्वर नेवटिया की शादी की बातचीत जमनालालजी की लड़की कमला के साथ चली। मुझे लिखा गया तो मैंने इस संबंध पर अपनी मुहर लगा दी। सगाई होगई। बाद में शादी भी।

मैं बम्बई में अपनी दुकान खुलने के २-३ वर्ष बाद आया। उस समय बम्बई के बाजार में मारवाड़ी समाज में सूरजमलजी मुख्य थे। वैसे तो

शायद १९०६-७ में ही बम्बई आया, पर फतेहपुर आता-जाता रहता था। इसलिए उनसे कई साल बाद ही परिचय हो पाया।

जमनालालजी से संबंध और परिचय होने के कारण जब मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का अधिवेशन वर्धा में हुआ तो मैं वहां गया। उसके बाद यह अधिवेशन बम्बई में हुआ, जिसका स्वागत-मंत्री मैं हुआ। जमनालालजी ने इस अधिवेशन में भाग लेकर उसे सफल बनाया। जातीय कोष भी उन्हीं-के प्रयत्न से बन गया।

इस बीच जमनालालजी से व्यक्तिगत संपर्क हो जाने के कारण घनिष्ठता बढ़ी। उनके साथ मेरा व्यापारिक संबंध तब हुआ, जब मेरे बड़े भाई कन्हैयालालजी की मृत्यु से मेरे अपने घर के व्यापार में नुकसान रहने लगा। मेरे चाचाजी भी थे, पर मैं दुकान से हट गया। इसी सिलसिले में जब जमनालालजी से बातचीत हुई तो उन्होंने सलाह दी कि मैं बच्छराज जमनालाल पेढ़ी में उनका भागीदार बन जाऊं। मुझे बात पसन्द नहीं आई, पर जब रामनारायणजी रुइया आदि की राय से उन्होंने अपनी पेढ़ी को लिमिटेड कंपनी बना दिया तो मैंने भागीदार बनना मंजूर कर लिया। यह कम्पनी १९२६ ई. में स्थापित हुई और १९२७ में इसकी रजिस्ट्री लि. कम्पनी के रूप में होगई। इस कम्पनी में श्री नारायणलालजी पित्ती और रामनारायणजी रुइया भी थे। इस कम्पनी में जमनालालजी की तथा आढ़तियों की रुई बिकने के लिए आने लगी।

उन्होंने व्यापार में हिस्सेदार बनने के समय मुझे हिदायत दी—"व्यापार में ईमानदारी और सचाई से ही काम होना चाहिए, चाहे नफा भले ही कम हो।" मेरी खुद की रुचि भी ऐसी ही थी। इसलिए मैंने स्वीकार कर लिया और हमारा कभी भी मतभेद नहीं हुआ।

जब मैं जमनालालजी से मिला तो उसके पहले ही वे एक बीमा कम्पनी (न्यू इंडिया इंश्योरेन्स कं. लि.) बना चुके थे। इस कम्पनी का संपर्क बड़े-बड़े लोगों से होगया। जमनालालजी व्यापार के सिलसिले में हमेशा बड़े-बड़े व्यापारियों से मिलते-जुलते थे, परन्तु बीमा कम्पनी बन जाने के बाद

जब उनके साथ व्यापारियों ने देखा कि जमनालालजी की रुचि मुख्यतः नफा कमाने की नहीं है तो उनकी रुचि उधर कम होगई। रामनारायणजी, डेविड सासुन आदि ने इसमें ज्यादा भाग लेना शुरू किया, परन्तु टाटावालों ने इन सबसे अधिक दिलचस्पी ली।

बाद में जमनालालजी बीमा कम्पनी से अलग होगये, क्योंकि भागीदारों की अमर्यादित मुनाफाखोरी की नीति से वे सहमत नहीं हुए।

मेरे साथ जमनालालजी का संपर्क अन्त तक सुचारु रूप से निभा। वे बम्बई में शुरू-शुरू में मेरे पास ठहरते थे—भाई-भाई की तरह रहते—जानकीदेवी और कमलनयन भी हमारे यहां घरेलू तरीके पर ही रहते थे।

तिलक स्वराज्य फंड इकट्ठा करने में जमनालालजी ने पूरी कोशिश की और उसकी पाई-पाई का हिसाब पूरी ईमानदारी के साथ रखा। इस फंड का धन कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति की मंजूरी से ही खर्च होता था। हिसाब-परीक्षक नियुक्त थे।

कांग्रेस की रकम सुरक्षित रखने की जमनालालजी सदा कोशिश करते रहे। उन दिनों पुलिस छापा मारती थी। उससे कांग्रेस का धन बचाने का जमनालालजी ने पूरा प्रयत्न किया। ४॥ लाख रुपये जो जमा थे वे निजी गारंटी देकर बैंक से निकाल लाये और मित्रों में बांटकर रखे। उन दिनों खुफिया पुलिसवाले पीछे लगे रहते थे। १९३२ के आन्दोलन में महात्मा-गांधी के रहने से रुपया छिपाया नहीं गया और तिलक स्वराज्य फंड का हिसाब दिखाने के लिए वे जनता को आमंत्रित करते थे।

जमनालालजी की व्यापारिक बुद्धि स्वाभाविक रूप में बड़ी ही प्रखर थी। वे प्रत्येक बात पर बारीकी से विचार करते और बच्छराज कम्पनी का काम-काज देखते थे।

अपने अंतिम दिनों में वे मुझे अपने साथ रहने के लिए महात्माजी के सामने कहा करते थे, जिससे मैं इन्कार न कर सकूं और मेरेलिए एक और झोंपड़ा बनवा देने को कहा था, पर इसी बीच वे स्वयं ही चले गये।

उनपर सबसे अधिक प्रभाव महात्मा गांधी, श्रीकृष्णदास जाजू और वृद्धिचन्द्र पोद्दार का पड़ा। वास्तव में वे पूर्णतः धार्मिक और वैरागी पुरुष थे।

: २२ :

स्नेह-मूर्ति

महाबीरप्रसाद पोद्दार

अज्ञात रूप से भाई जमनालालजी का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा है। मेरे वे सच्चे मित्र थे, मुझे उनकी मित्रता का गर्व था। मेरे प्रति उनके हृदय में बहुत अधिक स्नेह था। वैसे तो मेरा परिचय उनसे मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के प्रथम अधिवेशन के कई वर्ष पहले होगया था पर उस अधिवेशन के समय से तो यह मालूम होने लगा था कि मुझपर उनका विशेष स्नेह है। मैं समझता हूं कि उनका स्नेह जैसा मैंने अनुभव किया, वैसा ही और बहुतों ने किया होगा। कुछ खास आदमियों के प्रति खास स्नेह तो हम सभीमें रहता है। पर बहुत आदमियों के प्रति बहुत स्नेह रखना आम आदमियों के लिए संभव नहीं होता। मालूम होता है कि श्री जमनालालजी में बहुतों के प्रति बहुत स्नेह रखने की महान् शक्ति थी। शायद यह हरकोई समझता था, जैसे मैं समझता हूं कि वह उसपर खास स्नेह रखते हैं। इस दृष्टि से वह स्नेहमूर्त्ति थे जिससे सदैव स्नेह की आभा प्रकट होती रहती थी। जिनपर वह अधिक स्नेह रखते थे, उनको प्राय: काम पड़े खूब डांटते और लताड़ते थे और यह कभी-कभी ही नहीं, बराबर, पर उस स्नेह के कारण वह डांट कितनी मीठी लगती थी ! वह डांट क्या होती थी, शिक्षा होती थी। कोई काम ठीक नहीं बनता था तो उसे बतलाते-समझाते थे। सबसे बड़ी फटकार तो उनकी तब पड़ती थी, जब हम किसी दूसरे आदमी के साथ व्यवहार में कोई अन्याय करते थे। वह मुझसे अक्सर कहा करते थे कि तुम दूसरों के आराम का खयाल नहीं करते हो, यह कभी नहीं कहते थे कि करना चाहिए। जहां मेरी गलती होती थी उसको सामने रखकर जरा जोर से कहते थे। मेरे-जैसे लक्कड़ आदमी पर किसीकी बात का कोई असर पड़ता है ? पर उनकी बात हृदय पर प्रभाव डालती जान

पड़ती थी; इसलिए नहीं कि वे मुझसे मोटे-ताजे ज्यादा थे या लम्बाई में अधिक थे, या पैसे उनके पास अधिक थे या उन्होंने कोई पोथियां मुझसे ज्यादा पढ़ी थीं। इन सबको तो मैं अति तुच्छ मानता हूं। मैं देखता था कि वह मुझसे दूसरों के आराम का खयाल रखने को जितना कहते थे, उससे कहीं अधिक वह दूसरों के हृदय का खयाल खुद रखते थे। उनके वचन से, कार्य से, और मन से भी किसीको ठेस न पहुंच जाय, इसका उन्हें बड़ा ध्यान रहता था। यह तो मैं नहीं कह सकता कि उनसे किसीको ठेस पहुंची ही नहीं होगी, पर वह जितने व्यापक क्षेत्र में काम करते थे, और जितने काम उन्होंने उठा रक्खे थे, और इसकी वजह से जितने अधिक आदमी उनके संपर्क में आते थे, उस भारी संख्या को देखते हुए मेरा खयाल है कि शायद ही हम लोगों के परिचितों में कोई ऐसा निकले, बापू को छोड़कर, कि जिसने अपने व्यवहार से दूसरों का दिल कम-से-कम दुखाया हो। आज के जमाने में धनी से—धन से नहीं—द्वेष करनेवालों की कमी नहीं है, और धनी में और चाहे जितने गुण हों, पर एक धन होना ही उसके सारे दुर्गुणों का कारण मान लिया जाता है और फिर उसकी निन्दा-ही-निन्दा की जाती है। भाई जमनालालजी भी ऐसे द्वेषियों के द्वेष के शिकार होने से बिल्कुल तो नहीं बच पाये, पर और किसी भी धनी के मुकाबले में उनके प्रति इस द्वेष-परायण वर्ग का द्वेष कम-से-कम था। यह उनको बख्शता हो, सो नहीं, यह वर्ग बख्शने के तो पक्ष में ही नहीं रहता। ऐसे लोगों को भी, मैंने देखा कि जमनालालजी के प्रति कुछ कहते-सुनते तनिक संकोच होता था। यह कोई कम बात नहीं थी और आज तो ऐसे लोगों को भी यह पता चल गया होगा कि जमनालालजी ने अपना अधिकांश जन-सेवा के लिए ही अर्पण कर दिया था। तन, मन धन, तीनों जन-सेवा के लिए अर्पण करनेवाले बहुत थोड़े होते हैं। उनमें उनका स्थान बहुत ऊंचा था। यही सब चीजें थीं जो उनकी डांट मुझ-जैसों को बर्दाश्त करने के लिए बाध्य करती थी और जब उनसे अलग होता था तो मन में उन चीजों पर ऊहापोह करता रहता था।

इस बार जब मैं वर्धा गया था, तब की दो-एक बातें कहूंगा। नाम छोड़ देता हूं। एक सज्जन से मैंने कुछ काम लिया था। मेरे मन पर उनके लोभी

होने का कुछ संस्कार था और मैंने सुना कि वह भी मुझको अच्छा आदमी मन में नहीं समझ रहे थे। बाहरी व्यवहार हम दोनों का बहुत अच्छा था। मैंने अपने मानसिक संस्कार भाई जमनालालजी पर प्रकट कर दि और कुछ मित्रों पर और। भाई जमनालालजी ने उस आदमी से बातें कीं और मेरी बातों को किसी अंश में ठीक मानने के बाद भी मुझे आड़े हाथों लिया और उसका नतीजा यह हुआ कि मुझे अपने संस्कार बदलने पड़े। उन्होंने कहा कि इस तरह की बातों से तुम उसका कोई सुधार नहीं कर सकते। मजाक में मैंने उनसे कह तो दिया कि भाईसाहब, यह सुधार वगैरा का ठेका आपके ही पास है, हम लोग तो उन आदमियों में हैं जो मन में आती है, वह साफ-साफ खरी-खरी कह देते हैं कि 'सत्यवक्ता न दोषभाक्'। वह जवाब सुनकर मुस्करा दिये, पर उपरोक्त वाक्य कहते समय ही विवेक अन्दर से कहता था कि कैसे तो तुम सत्यवक्ता और कहां के साफ कहनेवाले ? वह खरी नहीं, खुरखुरी कहते हो, जो दूसरों के हृदयों को छील देती है। अगर डूबकर देखो तो किसीके बारे में कोई बुरा वचन निकालने की गुंजाइश ही नहीं। डांट खाकर आदमी उत्तेजित होता है, या तो पस्त हो जाता है। उनकी डांट से न उत्तेजना आती थी, न पस्ती। हँसते-हँसते मन अपनी भूल स्वीकार कर लेता था और वह सारा असर था उनके आचरण का, कहने का नहीं। सिर्फ कहने वाले की वाणी कानों तक ही परिमित रहती है, मन में पैठती ही नहीं। मैं उनकी वाणी का नहीं, आचरण का कायल था, उसमें वह महान् थे।

एक छोटी-सी बात कहता हूं। उनका देहान्त होने से कुछ ही दिन पहले, ३० जनवरी की बात है, मैं गोपुरी में उनकी नई बनी हुई झोपड़ी में उनके साथ ठहरा था। वह रात को नौ बजे मौन ले लिया करते थे और वह मौन प्रातःकाल साढ़े चार बजे तक चलता था। वह नौ बजे सो भी जाते थे। जिस दिन की बात है, आकाश बादलों से खूब घिरा हुआ था। हवा बहुत जोरों की चल रही थी। मैं सवा-नौ के लगभग वहां पहुंचा। देखा कि वह झोंपड़ी के बाहरी हिस्से में अपने तख्त पर सोये हुए हैं। बूंदा-बांदी का भी कुछ सामान था, हवा भी जोरों की थी। यों तो मैं भी बाहर तख्त पर ही सोया

करता था, पर उस दिन के मौसम में बाहर सोने की इच्छा नहीं हो रही थी और चाहता था कि उन्हें भी कहूं कि आप भी अन्दर सोयें तो अच्छा। फिर सोचा कि अब सो गये हैं तो सो जाने दो। रात को पानी बरसेगा तो उठकर तख्त भीतर डलवा देंगे। मैं अपनी रजाई ओढ़कर अन्दर सो रहा। रात को पानी बरसा, उनके ऊपर खूब टपका, सवेरे मालूम हुआ कि मेरी रजाई पर भी कुछ टपके गिरे थे, पर इतने कम कि मुझे जगा न सके, लेकिन उनके तख्त के आस-पास तो जैसे 'ओरियानी' चूती हो, इस तरह तख्त के चारों ओर का हिस्सा भीगा दिखाई दिया। उनके कपड़ों पर भी खूब टपके पड़े होंगे। प्रातःकाल बात होने पर मालूम हुआ कि कुछ टपके तो पड़े-पड़े ही सहे। फिर दो बजे से उठकर बैठ गये और बिस्तरा सिकोड़ते रहे। उनका सेक्रेटरी चि० गोपीकृष्ण, नौकर विट्ठल और मैं, ये तीन आदमी वहां थे। उनका तख्त दो आदमियों से उठने लायक था और वह चाहते तो, जिस तख्त पर मैं सोया था, वह भी बहुत लम्बा-चौड़ा था और उसपर गद्दा पड़ा था, आकर उसपर सो सकते थे। पर शायद मेरे जाग जाने के खयाल से और दूसरे दो व्यक्तियों के आराम में खलल न डालने के खयाल से वह साढ़े चार बजे तक अपने तख्त पर बैठे हवा और पानी का प्रकोप सहते रहे और इसकी चर्चा तक न की और मन में महसूस भी किया जान नहीं पड़ा। यों कष्ट सहना और मौज में रहना उनके लिए स्वाभाविक-सी बात थी। हम एक दिन रेल में कहीं भीड़भाड़ में तकलीफ पा लेते हैं तो महीनों उसके किस्से गाया करते हैं। मनुष्य के पास चर्चा के लिए बड़ी चीजें बहुत कम होती हैं। अधिकतर वह तुच्छ बातों की ही चर्चा करता रहता है और जिनमें अपनी तकलीफों की और दूसरों के गुण-अवगुणों की मात्रा प्रधान रहती है, पर भाई जमनालालजी में ये दोनों बातें नहीं थीं। अपनी तकलीफों की चर्चा तो वे जानते ही न थे। गुण-अवगुणों की चर्चा भी काम भर को ही करते थे।

: २३ :

वे अमर होगये

सीताराम सेकसरिया

शायद सन उन्नीससौसत्रह की बात है। जमनालालजी कुछ मित्रों के साथ कलकत्ते के बोटानिकल बाग में घूमने गये थे। वहां साइकिल की दौड़ लगाने की बात चली तो जमनालालजी सबसे पहले तैयार। लोगों ने कहा, "आप इतने मोटे आदमी हैं, साइकिल पर से गिर पड़ेंगे।" वे बोले—"मैं तो देहाती आदमी ठहरा ! वहां तुम्हारे-जैसी मोटरें थोड़े ही हैं। जल्दी का काम होता है तो साइकिल ही काम आती है।" खैर साहब, जमनालालजी साइकिल पर चढ़े। देर तक घूमते रहे। कई लोग जो अपनेको साइकिल चलाने में बड़ा तेज मानते थे, उनसे भी जमनालालजी मीर निकले। परन्तु अन्त में सामने से एक मोटर गाड़ी आई और वे अपना तौल नहीं सम्हाल सके, गिर ही पड़े। लोग सहम गये। उन्होंने समझा, मोटर का धक्का लग गया। मगर जमनालालजी तुरन्त खड़े होगये और बोले, "कुछ नहीं हुआ।" पर दाहिने घुटने से बराबर खून बह रहा था। योंही पोंछ-पांछकर घर आये।

दर्द सख्त था, पर मुंह से कहते नहीं थे। डाक्टर को बुलाया गया। उसने कहा—"चोट मामूली नहीं है।" सबसे बड़े सर्जन को बुलाया गया। उन्होंने कहा, "मांस के भीतर कंकर घुस गये हैं, आपरेशन करना होगा। आपरेशन के लिए क्लोरोफार्म भी देना पड़ेगा।" जमनालालजी ने कहा, "क्लोरोफार्म की क्या जरूरत है ?" डाक्टर बोला—"बिना क्लोरोफार्म के आपरेशन नहीं हो सकेगा।" जमनालालजी ने कहा, "अच्छी बात है। आप क्लोरोफार्म का इन्तजाम रखिए और आपरेशन बगैर क्लोरोफार्म के शुरू कर दीजिए। मैं न सह सका तो आप बेशक क्लोरोफार्म दे दीजिए।" डाक्टर को यह बात पसंद तो नहीं थी, लेकिन उसने सोचा

कि ये अपने-आप ही क्लोरोफार्म मांगने लगेंगे। इतना दर्द सहना कोई खेल थोड़े ही है!

बिना क्लोरोफार्म के आपरेशन शुरू हुआ। आपरेशन के समय जो लोग मौजूद थे, वे कहते थे कि मांस के अन्दर से डाक्टर जब कंकर चिमटे से खींच-खींचकर बाहर निकालता था, उस दृश्य को देखना मुश्किल था। लेकिन जमनालालजी ने चूं तक न की। डाक्टर दंग रह गया। बोला, "ऐसा सहने वाला आजतक नहीं देखा। मुझे तो विश्वास नहीं था कि यह आपरेशन क्लोरोफार्म के बिना हो सकता है।" ऐसी थी जमनालालजी की सहनशक्ति और धीरज!

... ...

जमनालालजी से पहले-पहल मैं उस आपरेशन के समय ही मिला। उस समय उनकी उम्र कुल सत्ताइस साल की थी। पर उसके पहले ही वह कई सार्वजनिक कार्य शुरू कर चुके थे और देश के अच्छे-से-अच्छे लोगों के सम्पर्क में आ चुके थे। जहां कहीं जाते या किसीसे मिलते, तो बराबर यह कोशिश करते रहते कि किसी कार्यकर्त्ता से परिचय हो जाय। कोई नया कार्यकर्त्ता तैयार हो, इसीकी तलाश में रहते। इस आपरेशन के समय उन्हें कई दिन कलकत्ते में रहना पड़ा। शाम को उनके पास कलकत्ते के मारवाड़ी युवकों का जमघट लगता। और लोग भी आते, जिनमें श्री अम्बिकाप्रसादजी बाजपेयी, स्व० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी, आदि प्रमुख थे। समाज-सुधार और राजनैतिक विषयों पर बातें होती रहतीं। बीच-बीच में चतुर्वेदीजी के हास्य-विनोद के फव्वारे सबकी तबीयत को तर कर देते और कलकत्ते के बाग-बाजारवाले नामी रसगुल्लों का स्वाद भी मिल जाता।

थोड़े ही दिनों बाद उन्नीससौसत्रह के बड़े दिनों की छुट्टियों में श्रीमती एनी बेसेंट की अध्यक्षता में कांग्रेस का अट्ठाईसवां अधिवेशन हुआ। उसमें उस समय के कर्मवीर गांधी भी आनेवाले थे। लोकमान्य के नाम की धूम थी। गांधीजी तो जमनालालजी के ही अतिथि थे। उन दिनों वह काठियावाड़ी वेश-भूषा में रहते थे। वही बलदार पगड़ी और लम्बा अंगरखा; लेकिन

जूते नदारद । हम लोगों को जमनालालजी ने गांधीजी से मिलाया। वैसे तो वहां का सारा काम हमीं लोगों के जिम्मे था। उस समय जिन्होंने जमनालालजी को गांधीजी का आतिथ्य करते देखा है, उन्हें याद है कि उस समय भी गांधीजी के साथ उनका सम्बन्ध जितना गहरा था और उन्हें गांधीजी के प्रति कितनी गहरी श्रद्धा थी। बाद में तो गांधीजी 'महात्मा' हो गये और सारे देश के बापू बन गये। जमनालालजी की विशेषता यह थी कि उन्होंने गांधीजी को पहले ही पहचान लिया था और वह अपनेको उन्हें सौंप चुके थे।

सन् उन्नीससौबीस में लाला लाजपतरायजी के सभापतित्त्व में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें गांधीजी ने असहयोग का प्रस्ताव पेश किया। कांग्रेस के सभी पुराने महारथियों ने उस प्रस्ताव का जमकर विरोध किया, तो भी जमनालालजी गांधीजी के साथ थे। उनके कारण बड़े बाजार के सभी लोग गांधीजी के पक्ष में रहे। उन दिनों आजकल की तरह प्रतिनिधियों का चुनाव तो होता नहीं था। इसलिए हम लोग बहुत बड़ी संख्या में प्रतिनिधि बन गये थे। हम लोग तो यही मानते रहे कि हमारे वोटों की बदौलत महात्माजी की जीत हुई। बंगाल के ुख्य नेता देशबन्धु चित्तरंजनदास, विपिनचन्द्र पाल, व्योमकेश चक्रवर्ती तथा महामना मालवीयजी महाराज और अन्य सभी धुरंधर नेताओं ने गांधीजी के प्रस्ताव का घोर विरोध किया। प्रस्ताव का एक अंश यह भी था कि सरकारी उपाधियां लौटा दी जायं। जमनालालजी ने तुरन्त अपनी 'रायबहादुर' की उपाधि छोड़ दी।

... ...

पच्चीस वर्षों म न मालूम कितनी बार उनके साथ दौरे पर रहा और महीनों उनके पास रहा। उनके जिस विशेष गुण का मेरे चित्त पर गहरा असर पड़ा, वह है कार्यकर्त्ताओं के प्रति उनकी आस्था। उन्नीससौइक्कीस के गांधी-अर्विन समझौते के बाद की बात है। देश में चारों तरफ एक तरह से उल्लास, उत्साह और जोश की लहर-सी उठ रही थी। कांग्रेस की जीत हुई।

हमारा आन्दोलन सफल होगया। इसी खुशी में लोग मगन थे। लेकिन जमनालालजी को यह फिक्र थी कि आन्दोलन की वजह से कितने कार्यकर्त्ता बीमार होगये हैं ? सरकार की दमन-नीति के प्रहार से कितनी संस्थाएं नष्ट होगई हैं ? मारपीट और गोलाबारी की बदौलत कितने आदमी अपंग और अपाहिज होगये हैं ? उन सबसे मिलना चाहिए। उन्हें दिलासा देकर उनकी मदद करनी चाहिए। गुजरात, बम्बई और वर्धा के आस-पास के कार्यकर्त्ताओं से मिलने के बाद उन्होंने बंगाल जाने का विचार किया। मुझे पत्र लिखा कि फलानी तारीख को पहुंच रहा हूं। डाक्टर सुरेश बनर्जी और डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र घोष से, जो अभय-आश्रम के सभापति और मंत्री हैं, मिलना है। सुरेशबाबू को जेल में टी. बी. होगई है, दूसरे कार्यकर्त्ताओं से भी मिलना है, तुम्हें साथ चलना होगा।

वह कलकत्ते आये। यहां के लोगों से मिले। जिन मारवाड़ी युवकों ने आन्दोलन में भाग लिया था, उनसे वह बहुत प्रेम से मिले। उन्हें इस बात की विशेष चाह थी कि मारवाड़ी-समाज के लोग देश-सेवा में ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा लें। वे कोरे व्यापारी ही न बने रहें। जमनालालजी युवकों को बराबर यह प्रेरणा देते रहे।

हां, तो हम डाक्टर सुरेश बनर्जी से मिलने कुमिल्ला गये। सुरेशबाबू को तो प्लास्टर ऑव पेरिस में सुला रखा था। उठना-बैठना तो दूर, वह करवट भी नहीं बदल सकते थे। जमनालालजी सीधे उनके पास गये और उसी हालत में उनके गले लिपट गये। सुरेशबाबू बोले—"जमनालालजी, मैं क्या कहूं ! आप इतनी दूर से खास मुझसे मिलने आये और जिस प्रेम से मुझे गले लगाया, उससे तो मेरी बीमारी दूर हुई-सी मालूम होती है। मैं अपने में एक नया बल और स्फूर्त्ति अनुभव करता हूं।"

जमनालालजी कार्यकर्त्ताओं की तकलीफ समझ सकते थे। उनके त्याग और देश-प्रेम की कद्र करते थे। वह कार्यकर्त्ताओं के प्रशंसक ही नहीं, बल्कि उनके भक्त थे। वह जब उनकी सहायता करते थे तो यह नहीं मानते थे कि मैंने कोई अहसान किया है, बल्कि यह मानते थे कि ऐसे पुण्यवान व्यक्तियों

की सेवा का सुअवसर मुझे मिला, यह मेरे अहोभाग्य हैं। उनकी निगाह में कार्यकर्त्ताओं का स्थान बहुत ऊंचा था। वह उनको अपने घर के लोगों से ज्यादा प्रेम करते थे। अपने साथ काम करनेवाले देशसेवकों के दिल में अपने बर्ताव से, अपनी भावना से और अपनी कृतियों से उन्होंने यह विश्वास पैदा कर दिया था कि यदि किसी कार्यकर्त्ता को कोई शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक या सामाजिक तकलीफ हो तो वह उसकी हर तरह से मदद करेंगे। यही कारण है कि जमनालालजी के चले जाने से आज हजारों लोग यह अनुभव करते हैं कि उनका एक जबर्दस्त सहारा जाता रहा!

कुमिल्ला में ही मैंने जमनालालजी से पूछा कि आप डाक्टर सुरेश बनर्जी से मिलने इतनी दूर से क्यों आये? यद्यपि मैं सुरेशबाबू और प्रफुल्लबाबू का परिचय १९३० की जेल में ही प्राप्त कर चुका था, तो भी इनकी संस्थाओं से मेरा संबंध नहीं था। जमनालालजी ने वहां के कार्यकर्त्ताओं तथा अभय-आश्रम के आजीवन सदस्यों की एक छोटी-सी बैठक की। संस्था का परिचय कराया गया। सदस्यों के बारे में जो कुछ वहां बताया गया, वह अद्भुत था। उमका चरित्र इतना उज्ज्वल था, इतना त्यागमय था कि आज वर्षों के बाद भी वह दृश्य मेरी आंखों के सामने से नहीं हटता।

थोड़े में उनके कहने का आशय यह था कि यह संस्था उन्नीससौइक्कीस के आन्दोलन के बाद स्थापित हुई। डा. सुरेश बनर्जी और डा. प्रफुल्लचन्द्र घोष ने उसकी स्थापना की। इसके उनतीस आजीवन सदस्य हैं, जिनमें से अट्ठाईस अविवाहित हैं। देश के आजाद होने से पहले विवाह न करने का उनका प्रण है। जो कुंवारे हैं, वे अपने व्यक्तिगत खर्च के लिए केवल पन्द्रह पये मासिक लेते हैं। इसमें भोजन, वस्त्र, डाक तथा अन्य खर्च, जो उनका अपना खर्च कहा जा सकता है, शामिल है। एक सदस्य, जो विवाहित हैं, वह पचास रुपये लेते हैं। वह एक कालेज में सुयोग्य प्रोफेसर थे। वेतन भी अच्छा पाते थे। सुरेशबाबू और प्रफुल्लबाबू तो हजार-हजार, आठ-आठसौ की सरकारी नौकरियां छोड़कर संस्था में आये हैं। अन्य सभी सदस्य डाक्टर, वकील या वैज्ञानिक हैं और विश्वविद्यालयों की उच्च परीक्षाएं पास

हैं। डा. नृपेन बोस, जो एक अच्छे डाक्टर हैं, आश्रम के अस्पताल में हैं और वहां के एक सौ दस कार्यकर्त्ताओं की सेवा करते हैं। उसके बाद डाक्टरी का पेशा करते हैं, जिसमें करीब बारह सौ रुपये मासिक की आमदनी होती है, वह सब आश्रम को जाती है। वह आश्रम के सदस्यों का नियत वेतन केवल पन्द्रह रुपया ही लेते हैं।

जमनालालजी बोले, "बतलाओ, अगर ऐसे लोगों से मिलने या उनके दर्शन करने न आऊं, तो किससे मिलने जाऊं? यही लोग तो आज गांधीजी की भावना और विचारों के अनुसार उनके कार्यों को चला रहे हैं। तुम्हारे बंगाल में आज जो खादी का काम हो रहा है, इस आन्दोलन में जितना कुछ काम हो सका है, वह इन सबकी या ऐसे ही दूसरे सब लोगों की मेहनत का फल है।"

इसी तरह वह दूसरी जगह के कार्यकर्त्ताओं से, जिन्हें उस आन्दोलन में तकलीफ हुई थी, मिलने गये। श्रीहट्टी के श्री धीरेन्द्रनाथ दास तथा ढाका की श्री आशालता सेन के बारे में सुना था कि उन्हें बड़ी तकलीफ सहनी पड़ी। आशालता का आश्रम जला दिया गया था। धीरेन्द्रबाबू को पुलिस की लाठियों की बहुत मार पड़ी। उन्हें तुरन्त तार देकर बुलाया। उनसे बड़े प्रेम और आदर से मिले और उनके आश्रम के लिए रुपयों का इन्तजाम करने का भार मुझे सौंपा।

.. .. ..

ऐसे-ऐसे न मालूम कितने उदाहरण आज मेरी आंखों के सामने नाच रहे हैं।

एक दिन का जिक्र है कि वर्धा के गांधीचौक में सभा थी। जमनालालजी सभापति थे। जानकीबहन ने भी व्याख्यान दिया और सभापतिजी को तो देना ही था। लौटते समय रास्ते में मैंने कहा, "आपसे तो जानकीबहन का व्याख्यान ज्यादा अच्छा हुआ।" वे बोले—"यह तो ठीक है, तुम्हारा और उनका तो अच्छा होगा ही। मुझे तो इस बात की चिन्ता थी कि मैं कोई ऐसी बात न कह जाऊं, जिसको जीवन में उतार न सकूं या कर न

पाऊं; और तुम लोग शायद यह सोचते होगे कि 'हमारा व्याख्यान सुनने-वालों को अच्छा लगना चाहिए।' वे हर समय यह सोचते थे कि मेरा जीवन बाहरी और भीतरी एक हो। वे समाज-सुधार की वही बातें कहते, जो खुद अपने घर में करते। जानकीबहन के पर्दा छोड़ने के पहले उन्होंने पर्दे के विरुद्ध कुछ नहीं कहा। जानकीबहन तथा अपने परिवार के अन्य लोगों की राष्ट्रीय जीवन की तैयारी कराने के लिए वे आज से अठारह वर्ष पहले पूज्य गांधीजी के पास साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम में सपरिवार जाकर रहे और बड़ी लड़की कमला का विवाह आश्रम में ही किया। सन् १९२७ में उन्होंने अपना प्रसिद्ध लक्ष्मीनारायणजी का मन्दिर हरिजनों के लिए खोल। वे क्रांतिकारी मनोवृत्ति के आदमी थे; पर वे उस क्रांति को अपने घर से, अपने जीवन से शुरू करते थे। सचमुच उन्होंने अपने जीवन में क्रांतिमूलक सुधार किये थे।

.. .. ..

वे उग्र थे अपने प्रति और कोमल थे दूसरों के प्रति। वे अपनी छोटी-सी कमजोरी को खोजते थे और उसको हटाने का जोरदार प्रयत्न करते थे, पर दूसरों के गुणों को ही देखते थे। उनके गुणों की प्रशंसा करते थे। उन्होंने किसीके अवगुणों को देखा तो उसकी अवहेलना की। मैंने उनके मुंह से किसी-की निन्दा नहीं सुनी। वे केवल बड़ी-बड़ी बातों में ही नहीं उलझते थे। वे तो हर चीज में आनन्द ले लेते थे। उनके पास बहुत-से आदमी आते और उन सबके नाना तरह के सवाल रहते। उनमें से कई-कई तो बहुत ही जटिल हुआ करते, जिनका सुलझाना तो दूर, सुनने से घबराहट होती, पर वे सहज धीरज से उन्हें सुनते और उन आनेवाले सज्जनों की सहायता करते। यह सहायता केवल आर्थिक नहीं, बल्कि बहुत तरह की होती थी। उन्होंने न मालूम कितने परिवारों को डूबने से बचाया है, कितने कार्यकर्त्ताओं की कितनी समस्याएं हल की हैं। आर्थिक समस्या तो रुपये देकर हल की जा सकती है। देनेवाला उदार और भला कहला सकता है, पर कहीं स्त्री-पुरु का झगड़ा है, तो कहीं बाप-बेटे का, कहीं सैद्धांतिक कारणों से परस्पर झगड़ा है, तो कहीं बाप-बेटी में। कहीं

विवाह की समस्या हल नहीं हो रही है। वे सबका समाधान करते। साबरमती-आश्रम टूटने के पहले महात्माजी कांग्रेस के समय से पन्द्रह-बीस दिन पहले वर्धा-सत्याग्रह-आश्रम में आ जाया करते थे और वहीं से कांग्रेस में जाते। उन दिनों वहां अन्य कार्यकर्त्ता भी आ जाते। गांधी-सेवा-संघ, चर्खा-संघ आदि की मीटिंगें भी हो जाती। इतने बड़े सत्संग के लालच में मैं भी वर्धा चला जाता या जमनालालजी बुला लेते थे। सन् १९२९ की लाहौर-कांग्रेस के बीस दिन पहले जब मैं वर्धा गया, उस समय की एक घटना है। रात के ग्यारह बजे के करीब पंद्रह-सोलह बरस की एक लड़की उनके पास आई। पूज्य बापूजी ने उसे भेजा था। सुबह की गाड़ी से लड़की के माता-पिता भी आये। बात यह थी कि माता-पिता लड़की का विवाह करना चाहते थे। लड़की विवाह नहीं करना चाहती थी। वह महात्माजी का 'नवजीवन' तथा अन्य पुस्तकें पढ़ा करती और सेवा करना या पढ़ना चाहती थी। माता-पिता जबर्दस्ती विवाह की बातें करने लगे तो लड़की गांधीजी के पास भाग आई। जवान लड़की, रात में गांधीजी उसे कहां रखते और फिर यह समस्या तो जमनालालजी को ही हल करनी थी। इसलिए महात्माजी ने रात में ही उसे जमनालालजी के पास भेज दिया। लड़की के माता-पिता सख्त नाराज थे। वे गुस्से में भरे पड़े थे। लड़की कहती थी, "मैं आपके घर नहीं जाऊंगी, मैं गांधीजी के पास आश्रम में रहूंगी और अपना सारा जीवन वहीं बिताऊंगी।" पर गांधीजी इस तरह माता-पिता को नाराज करके लड़की को कैसे रखें? मामला बड़ा जटिल था, पर जमनालालजी ने उसे ऐसी चतुराई से सुलझाया कि लड़की के माता-पिता बाग-बाग होगये और स्वयं जाकर लड़की को साबरमती-आश्रम में भरती कर आये। लड़की वहां कई वर्ष रही। १९३० के आन्दोलन में उसने खूब काम किया, जेल गई, आश्रम के नियमों का बड़ी अच्छी तरह पालन किया। जमनालालजी ने अपने स्नेह-भरे हृदय से कई लोगों को मोह लिया और उनकी बुराई को भलाई में बदल दिया। जिनका पतन होनेवाला था, उनका उत्थान होगया, वे सच्चे देश-सेवक बन गये। ऐसे कितने ही काम जमनालालजी द्वारा होते रहते थे।

जमनालालजी की मृत्यु से कुछ ही दिन पहले की बात है—शायद २७-२८ जनवरी की। वर्धा में चक्षु-सुधार-यज्ञ था। जमनालालजी इसे अपने सीधे-सादे शब्दों में आंखों का मेला कहते थे, जिससे वे देहाती लोग, जिनकी आंखें ठीक करनी थीं, और जिनकी चिन्ता उनको थी, इस यज्ञ का मतलब समझ सकें। इस समय एक घटना हुई। भाई महाबीरप्रसादजी पोद्दार, श्री रामकुमारजी भुवालका और मैंने इस विषय में कुछ बातें जमनालालजी से कहीं। उस समय तो वे कुछ नहीं बोले। गोपुरी की झोपड़ी में हम लोगों ने सुबह चार बजे प्रार्थना की। इसके बाद कुछ आपसी चर्चा में जमनालालजी ने पोद्दारजी से और मुझसे कहा, "आप लोगों की जो विचारधारा है, वह ठीक नहीं है। सार्वजनिक सेवक को यदि सेवा करनी है और उसे अपना सेवा-क्षेत्र बढ़ाना है तो उसको शक्तिशाली नये-नये सेवकों को लाना होगा और उन सेवकों की खोज करनी होगी, जो किसी भी अच्छे इल्म की ताकत रखते हैं। उन ताकतवाले लोगों में चाहे कितने भी अवगुण हों, लेकिन सेवक को तो उन्हें प्यार और आदर से अपने सेवा-क्षेत्र की ओर आकर्षित करना होगा। उनके अवगुणों की वजह से हमें उनसे नाराज नहीं होना चाहिए। हमारे दिल में उनकी भलाई कर की भावना हो और उनके द्वारा देश-समाज की जो भी सेवा बन सके, वह लेनी हो, तो उनको आप आदर से और प्रेम से ही अपनी ओर खींच सकेंगे। निन्दा करके तो हम उन्हें खो भले ही दें।" उस बात को खुलासा लिखा नहीं जा सकता, क्योंकि वह व्यक्तिगत बात थी, पर सचमुच हमपर उनकी बात का बहुत असर हुआ और हमने उसपर अच्छी तरह से सोचा तो मालूम हुआ कि दर असल हमारी भूल थी। वे हर चीज में गहरे उतरते थे और यही कारण है कि वे इतनी सेवा कर सके और हजारों के हृदयों का प्यार पा सके।

.. .. ..

वे बराबर कार्य-निष्ठ थे, पर इस बार जबसे उन्होंने गो-सेवा-संघ का काम लिया तबसे तो वे इस काम के पीछे पागल-से होगये थे। सुबह जब गोपुरी की झोपड़ी पर गाय आती तो वे स्वयं उसकी सेवा करते। उसको

पोंछते-पपोलते और खिलाते। एक दिन ऐसा करते देखकर मुझे राजा दिलीप की याद आगई।

वे तमाम दिन मिलनेवालों से गोरक्षा, गो-सुधार, गो-वंश की वृद्धि की चर्चा किया करते। उनकी प्रबल इच्छा थी कि इस एक वर्ष में कम-से-कम एक हजार गो-सेवा-संघ के सदस्य बना लूं और सबसे गाय के दूध, घी और अहिंसक चमड़े के व्यवहार की प्रतिज्ञा करा लूं।

एक दिन रामेश्वरजी नेवटिया (उनके बड़े दामाद) आये। कुछ व्यापार-सम्बन्धी बात करने लगे। उन्होंने कहा—ये बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं। गो-सम्बन्धी या कोई दूसरी सार्वजनिक बात हो तो मेरा समय लो, नहीं तो जाओ।" वे तो घर के आदमी थे, इसलिए ऐसा कह दिया, पर सचमुच अन्य बातों में वे रस नहीं लेते थे।

इस बार नागपुर-जेल में वे बीमार हुए और अवधि से पहले छोड़ दिये गए तो स्वभावतः उनसे मिलने की इच्छा हुई। पर मैं कभी उनसे बिना पूछे या बिना बुलाये उनके पास नहीं गया; क्योंकि वे बराबर हर बार याद कर लिया करते थे। तो भी इस बार आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी की बैठक के पहले मैं उनके दर्शन नहीं कर सका। १४ जनवरी को जब मैं वर्धा पहुंचा तो वे सामने ही मिले। मैंने उन्हें इतना दुबला-पतला पहले कभी नहीं देखा था। उनके शरीर की हालत देखकर मैं सहम गया। मैंने कहा, "आप तो बहुत कमजोर होगये हैं।" उन्होंने कहा, "कमजोर? नहीं, दुबला-पतला हो गया हूं। कमजोर तो दूर, मैं तो पहले से भी ज्यादा शक्ति महसूस करता हूं।"

आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी की बैठक के बाद पूरे बीस दिन मैं उनके पास रहा। गांधीजी की आज्ञा से उन्होंने 'गो-सेवा-संघ' का काम अपने ऊपर ले लिया था। उसी समय 'गोपुरी' का नामकरण हुआ और वहीं एक टीले पर एक सुन्दर घास-फूस की झोपड़ी में वे रहने लगे। मेरा अधिक समय उनके साथ ही बीतता था। मित्रवर महाबीरप्रसादजी पोद्दार भी हम लोगों के साथ रात को वहीं सोते थे। विभिन्न विषयों पर उनसे बातें होती रहती थीं।

एक दिन कुछ जोर की वर्षा होने लगी। मैंने कहा कि झोपड़ी में तो बौछार आवेगी, शायद पानी चूने लगेगा। उन्होंने मारवाड़ी बोली में कहा, "मैं तो जाट जन्मा था और जाट ही मरना चाहता हूं। मुझे वर्षा का क्या डर है? यहां तो तुम-जैसे नवाबों को तकलीफ हो सकती है।" (मुझे वे मजाक में 'नवाब' कहा करते थे।)

•• •• ••

मुझे क्या पता था कि पांच-दस दिन में ही यह निधि यों लुट जायगी! इन बीस दिनों में कितनी बातें हुईं। हम लोग चार बजे से पहले उठ जाते थे। प्रार्थना के बाद आपसी चर्चा होती थी, जिसमें अपनी-अपनी गलतियां सोची जाती थीं। उन्होंने कई बातें बताईं, जिनका वर्णन इस समय नहीं किया जा सकता। वह निरन्तर अन्तर्मुख होकर आत्म-परीक्षण में रत रहते थे।

जमनालालजी का कहना था कि मैं किसीकी भी सेवा लिए बिना मरना चाहता हूं। मेरे एक घनिष्ठ मित्र की हृदय की गति रुक जाने से मृत्यु हो जाने पर जमनालालजी ने एक बार मुझे लिखा था, "ऐसी मृत्यु तो भाग्यशाली व्यक्तियों की होती है। वह ईश्वर की कृपा का लक्षण है। आदमी इस कमरे में मरे, तो बगल के कमरेवाले को बाद में पता चले, ऐसी मृत्यु होनी चाहिए।"

जमनालालजी की मुराद पूरी हुई। उनके-जैसी मृत्यु तो सचमुच ईश्वर की कृपा का ही लक्षण है। वे तो अमर होगये। हजारों हृदयों में उनकी स्मृतियां सदा हरी-भरी रहेंगी।

: २४ :

सहृदय और स्नेहशील

भागीरथ कानोड़िया

गांधी-युग में हिन्दुस्तान की जिन कुछेक विभूतियों का दर्शन देश-वासियों को मिला है, उनमें जमनालालजी अपना एक खास स्थान रखते थे। उनका सारा जीवन राष्ट्र-निर्माण की विविध प्रवृत्तियों से इतना जुड़ा और गुंथा हुआ रहा है और सार्वजनिक क्षेत्र के हरएक पहलू में उनकी सेवाएं इतनी गहरी रही हैं कि वे अपने-आपमें स्वयं एक संस्था बन गये थे।

जमनालालजी का जीवन समाज में शिक्षा-प्रचार तथा अन्य समाज-सुधार के कार्यों से शुरू होकर राजनैतिक और रचनात्मक कार्यक्षेत्र से गुजरता हुआ एक आत्मनिरीक्षक और अन्तर्मुखी साधक के रूप में समाप्त हुआ है। उनकी सारी उम्र एक सच्चे कर्मयोगी की तरह 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' में बीती। उन्होंने अपने धन और शक्ति का भोग 'तेनत्यक्तेन भुंजीथा:' के सिद्धांत पर किया।

दूसरी बहुत-सी खूबियों के साथ उनमें सबसे बड़ी खूबी यह थी कि जबतक वे अपने जीवन में किसी सिद्धांत को आचरण में नहीं उतार लेते थे, तबतक लोगों में उसका प्रचार नहीं करते थे। निकटस्थ मित्रों को भी वैसा करने को नहीं कहते थे। सामाजिक सुधार या राजनैतिक क्षेत्र में जो भी काम उन्होंने किया, उसकी शुरुआत बराबर स्वयं अपने से और अपने घर से की। मारवाड़ी समाज में सबसे पहले वे ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने अपनी लड़की का विवाह बड़ी उम्र में और व्यर्थ की रूढ़ियों को तोड़कर अत्यन्त सादगी के साथ साबरमती-आश्रम में किया। आज तो समाज थोड़ा आगे बढ़ा हुआ है और इस तरह के विवाह करनेवाले दूसरे लोग भी नजर आते हैं, लेकिन जिस वक्त उन्होंने अपनी लड़की कमला का विवाह किया था, उस समय इस तरह से

विवाह करना जरा हिम्मत का काम था। हरिजनों के लिए उन्होंने अपना वर्धा का श्री लक्ष्मीनारायणजी का सुप्रसिद्ध मन्दिर उस समय खोला था, जिस वक्त कि हिन्दुस्तान में शायद ही किसी दूसरे मन्दिर में हरिजन प्रवेश पा सके हों। इस मन्दिर को खोलने में उन्हें अपने कुटुम्बियों और संबंधियों का विरोध भी कुछ कम नहीं सहना पड़ा था। लेकिन उनमें गजब का धैर्य और सहिष्णता थी। किसीसे नाराज होना तो वह जानते ही नहीं थे। उन्होंने उस सारे विरोध का मुकाबला सहज दृढ़ता और नम्रता से किया। उन्होंने अपने सिद्धांतों में जीवन भर कहीं भी समझौता नहीं किया,पर साथ ही विपक्षी के भावों के प्रति भी वे सदा ज्यादा-से-ज्यादा आदरशील रहे। अपने सिद्धांत पर अटल रहते हुए वे इस बात का बराबर ध्यान रखते थे कि विपक्षी दल के लोगों की भावना को कहीं ठेस न लगे और आड़े वक्त पर विरोधियों की मदद उतनी ही तत्परता और सहृदयता से करते थे, जितनी कि किसी भी स्वजन की।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' उनमें दानशीलता, परोप-कार, स्वाभिमान, स्वावलम्बन और स्वदेश-प्रेम की भावना बहुत छोटी उम्र से ही थी और उन्होंने हरएक मौके पर लोगों के सामने इसका उदाहरण रखा। गवर्नमेंट के उपाधिधारी होने पर भी सरकारी अफसरों से वे जब भी मिले या जब भी उन्हें अपने घर पर दावत वगैरा दी तो बराबर देशी पोशाक में में और हिन्दुस्तानी ढंग से ही। देश की पुकार होने पर उन्होंने सर्वप्रथम उपाधि का त्याग किया और बराबर जेल गये।

वे गांधीजी को अपना परम गुरु मानते थे और हर चीज को गांधी-विचारधारा और गांधी-दर्शन के अनुसार सोचते और देखते थे। उनके विचारों और कार्यों में पूर्ण ऐक्य था। उन्होंने जीवनभर इस बात का सतत प्रयत्न किया कि वे अपने कार्यों में कहीं भी अपने विचारों से पीछे न रहें और वे इसमें सफल हुए।

जमनालालजी में ऐसी कई विशेषताएं थीं, जो कई बड़े-से-बड़े नेताओं में भी मुश्किल से पाई जाती हैं। अक्सर यह देखा जाता है कि एक आदमी दूर से बहुत अच्छा दीखता है और उसपर श्रद्धा भी होती है, लेकिन उस व्यक्ति

के निकट जाने पर और उसकी गहरी जानकारी होने पर वह श्रद्धा कम हो जाती है, किन्तु जमनालालजी में दूसरी बात थी। कोई भी आदमी उनके जितना निकट जाता था और जितनी ज्यादा सच्ची जानकारी उनके बारे में हासिल करता था, उतनी ही उसकी श्रद्धा उनके प्रति गहरी होती जाती थी। मैं जब-जब उनसे मिला, तब-तब हरएक मिलन में मेरी श्रद्धा उनके प्रति ज्यादा -से-ज्यादा होती गई। वे कितने निरभिमान पर कितने स्वाभिमानी थे, कितने मितव्ययी पर कितने उदार थे, कितने नम्र पर कितने दृढ़ थे, कितने सीधे और सरल पर कितने प्रखर थे। वे अपने प्रति जितने अनुदार और कठोर थे, दूसरों के प्रति उतने ही उदार और स्निग्ध थे। वह एक अत्यन्त सहृदय और स्नेहशील व्यक्ति थे। देश की बहुव्यापी प्रवृत्तियों में संलग्न रहते हुए भी वे लोगों की, खासकर नेताओं और कार्यकर्त्ताओं की, व्यक्तिगत और कौटुम्बिक समस्याओं का बराबर ध्यान रखते थे। कार्यकर्त्ताओं के अलावा और भी कोई व्यक्ति यदि अपनी किसी भी तरह की मुश्किल लेकर उनके पास पहुंच जाता था तो वे बराबर उसकी बात सहानुभूतिपूर्वक सुनते थे और अपनी बुद्धि व शक्ति लगाकर उसे सुलझाते थे। वे इस मामले में सहानुभूतिशील होने के साथ-साथ अत्यन्त पटु भी थे। कार्यकर्त्तागण तो उन्हें अपनी ढाल मानते थे और आज उनके वियोग में अनेक कार्यकर्त्ता अपनेको पितृहीन या आश्रय-हीन-सा अनुभव करते हैं। वे जिस किसी भी आदमी के संपर्क में आते, उसके कुटुम्ब की, उसकी स्थिति की, उसके दुःख-सुख की, उसके जीवन के भावी उद्देश्य की और दूसरी हर तरह की छोटी-बड़ी बात की जानकारी हासिल करते और आवश्यकतानुसार उसकी रहनुमाई करते थे।

वे अपनेको मिशनरी मानते थे और दरअसल एक खास मिशन लेकर ही वे आये थे, जिसके अनुसार उन्होंने अपने जीवन-भर काम किया। उनका यह उद्देश्य था कि समाज के नवयुवकों और नवयुवतियों में ऐसी प्रवृत्ति पैदा करें, जिससे वे अपने जीवन को जनसेवा के मार्ग में लगावें। आज मारवाड़ी, गुजराती और मराठी समाज में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जिनकी जीवनधारा जमनालालजी ने गलत रास्ते से सही मार्ग की ओर मोड़ दी। जमना-

लालजी से रहनुमाई और राहत पाये हुए अनेक व्यक्ति आज देश के विभिन्न भागों में जन-सेवा का कार्य कर रहे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के अलावा भी कितने ही व्यक्ति और कुटुम्ब हैं, जिनको जमनालालजी ने सलाह और सहायता देकर डूबने से उबार लिया। विद्या का ज्ञान अल्प होने पर भी वे अपने महान् व्यक्तित्व और उज्ज्वल कृतियों द्वारा वर्धा-जैसे एक साधारण कस्बे को एक महान् तीर्थ बनाने में सफल हुए, जहां आज इस देश के विभिन्न मतों, मजहबों संप्रदायों और श्रेणियों के बड़े-से-बड़े लोग तथा यूरोप, अमरीका, और चीन आदि विदेशों के अनेक लोग इसलिए आते हैं कि वहां आकर वे जीवन का सच्चा रहस्य समझ सकें और वहां से सभी लोग कृतकृत्य होकर लौटते हैं।

चर्खा-संघ, गांधी-सेवा-संघ, गो-सेवा-संघ तथा उनकी दूसरी अनेक महत्वपूर्ण रचनाएं और देश एवं समाज के प्रति की हुई उनकी चतुर्मुखी व्यापक सेवाएं उन्हें अमर रखेंगी। जमनालालजी की नश्वर देह भले ही नष्ट होगई हो, लोगों के हृदयों में वे अमर हैं और अमर रहेंगे।

●

आज नववर्ष का दिन है।······आपकी याद आई दो तरह से। आप स्नेही रूप में तो हैं ही, परन्तु पूज्य जन भी हैं। आपको संबोधन करने में मैं संयम से काम लेता हूं। पूज्य भाव को मन में छिपाकर आमतौर पर संबोधन करता हूं। परन्तु आज तो व्यक्त करने का मन हो आया ह। समुद्र की तरह आपके हृदय की विशालता और बालक की तरह हृदय की सरलता पूजनीय है। इस नववर्ष के उपलक्ष्य में आपको मेरा प्रणाम है।

सत्याग्रहाश्रम, साबरमती। मगनलाल का प्रणाम

: २५ :

कठोर, पर कोमल

हरिभाऊ उपाध्याय

स्व. श्रद्धेय जमनालालजी के संस्मरण जब-जब याद आते हैं तो उनकी एक लड़ी आंखों के सामने आ जाती है ।

एक बार राजस्थान के कई कार्यकर्त्ता गांधी-आश्रम, हटूंडी (अजमेर) में एकत्र हुए, इस विचार से कि राजस्थान के संगठन और सेवा का मार्ग प्रशस्त किया जायगा । उन दिनों स्व. पथिकजी राजस्थान के नेताओं में प्रमुख थे, परन्तु उनकी और जमनालालजी की कार्यनीति मिलती नहीं थी । जमनालालजी ने कई घंटे उनसे बातचीत में लगाये । मैं राजस्थान में आकर वहां के व्यक्तियों और नेताओं से बखूबी परिचित होगया था । मुझे खास आशा नहीं थी कि पथिकजी से जमनालालजी की कार्य-नीति के बारे में कोई मेल बैठ सकेगा । मैंने उनसे कहा—"आप क्यों अपना समय बरबाद करते हैं ? पथिकजी के दिमाग में कोई बात बैठ भी जाय तो जो कार्य-प्रणाली बरसों से उनकी रग-रग में भरी हुई है, वे उसके प्रभाव से सहसा कैसे छूट सकेंगे ? उन्होंने जवाब दिया, "नहीं, मैं अपने बारे में गलतफहमी दूर कर रहा था । मेरी यह इच्छा है कि मरते समय एक भी व्यक्ति ऐसा न रह जाय, जिसके मन में मेरेलिए गलतफहमी रहे, मतभेद भले ही रहे ।" मैं मानों नींद से चौंक पड़ा । अहिंसा की, अपनेको निर्दोष बनाने की, उससे बढ़कर साधना क्या हो सकती है ? इतना धीरज उसी व्यक्ति में हो सकता है, जो सेवा को, देश या राष्ट्र के कार्य को अपनी आत्मा का अंग समझता हो ।

.. .. ..

बापू के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हुए भी, बापू के अन्ध-अनुयायी माने जाते हुए भी, जमनालालजी अपनी स्वतंत्रता रखते थे । कई अवसर ऐसे

आये हैं जब बापू के साथ जमनालालजी लड़े हैं, जोरदार बहस की है और एक बार तो उनके खिलाफ ए. आई. सी. सी. में वोट भी दिया था। पटना में ए. आई. सी. सी. की मीटिंग थी। जहांतक मुझ याद पड़ता है, सत्याग्रह को स्थगित करने-संबंधी प्रश्न था। जमनालालजी के गले वह बात उतर नहीं रही थी। बापू ने उन्हें बहुत समझाने का प्रयत्न किया। अकसर जमनालालजी बापू की बात मान लिया करते थे, भले ही उनकी युक्ति के कायल न हुए हों। परन्तु इस बार उन्हें लगा कि बापू गलती कर रहे हैं। उनका दिल किसी तरह मान नहीं रहा था। उन्होंने बापू से कहा, "आज मेरा दिल बहुत दुखी है। अपने मत से आपके मत को सदैव मैंने श्रेष्ठ माना है। उसे उच्चता और तरजीह दी है, परन्तु आज मैं मजबूर हूं। आज आपके विरोध में मत देने के लिए स्वतंत्र रहूंगा।" और संभवतः विरोध में मत दिया भी था। बापू ने उनके विरोध की, इस स्वतंत्र वृत्ति की, कदर की, जैसी कि वे अक्सर किया करते थे और उसके कारण प्रतिपक्षी भी उनका आदर करते थे।

जमनालालजी वादा कम करते थे, ऊपर से निरुत्साहित कर देते थे, परन्तु दरअसल मन में गुंजाइश ज्यादा रखते थे। प्रत्यक्ष काम ज्यादा कर देते थे। इससे शुरू में व्यक्ति दुखी, नाराज, निराश भले ही हो जाय, अन्त में वह उनका भक्त बन जाता था। पैसे-टके के खर्च में पाई-पाई का खयाल रखते थे। अपने साथियों पर भी इस मामले में कड़ी निगाह रखते थे और उन्हें सावधान रखते थे। एक बार मैं एक बड़े आदमी के बुलाने से ग्वालियर गया। आने-जाने का खर्च मुझे पास से करना पड़ा। मैं नपा-तुला पैसा हिन्दी 'नवजीवन' से लेता था। जमनालालजी जानते थे कि यात्रा-खर्च उसमें से नहीं निकल सकता था। उनकी व्यवहार-बुद्धि ने उन्हें यह भी संकेत कर दिया था कि यह पैसा हरिभाऊ के सिर पर पड़ेगा। बुलानेवाले पूछेंगे नहीं, यह लिहाज-शर्म से उनसे कहेंगे नहीं। लौटने पर मुझसे पूछा—"यात्रा-खर्च का क्या हुआ ?"

मैंने कहा—"कुछ नहीं।"

उन्होंने उत्तर दिया—

"उन्होंने नहीं दिया ?"

"जी नहीं।"

"मैं जानता था। अब क्या करोगे ?"

"पास से दिया है।"

"इतना रुपया बचा है ?"

मैं चुप। थोड़ी नसीहत की बात कहकर मुझे वह खर्च अपने पास से दे दिया।

.. .. ..

एक बार एक ए. आई. सी. सी. की मीटिंग में मैं गया। बिना ज्यादा सोचे ही मैंने मन में मान लिया कि खर्च जमनालालजी से ले लेंगे। नया-नया ही साबका था। कार्यकर्त्ताओं के सहायक के रूप में उनकी बड़ी ख्याति थी। कइयों का खर्च चलाते थे। ऐसे अवसरों पर कइयों की सहायता करते थे। मैं 'नवजीवन' कार्यालय से कर्ज लेकर वहां गया। जब यह बात उनके सामने आई तो मुझसे पूछा—"इस कर्जे का क्या होगा ? इसको कैसे चुकाओगे ?"

"मैंने सोचा था कि आपसे ले लूंगा।"

उन्हें यह जवाब अच्छा नहीं लगा। जरा तिनककर बोले, "क्यों ? क्या आप मुझसे पूछकर वहां गये थे ? मैंने कोई आपसे वादा किया था कि खर्च आपको दे दूंगा ?"

मुझपर तो घड़ों ठंडा पानी पड़ गया। जिस व्यक्ति को इतना उदार समझते थे, वह ऐसा रूखा, कठोर है! मैंने मन-ही-मन अपने कान पकड़े कि बड़ी भूल की, जो इनसे आशा की। मैंने धीरे-से कहा—"जी नहीं, आपसे तो पूछा नहीं था।" मैं अपना-सा मुंह लेकर चला आया।

बाद में मालूम हुआ कि उन्होंने वह रुपया अपने नामे डलवा दिया।

: २६ :

समूचे भारत की संपत्ति

शिवरानी प्रेमचन्द

जमनालालजी हमें छोड़कर परलोक सिधार गये। वह कितने महान् थे, यह कैसे बताऊं? वह सच्चे साधु थे। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्र के वीर पुत्र थे। उनकी सम्पत्ति संसार की सम्पत्ति थी। भारत-माता की करुण पुकार सुनकर उन्होंने उसे गुलामी से मुक्त करने के लिए अनेक बार जेल की कठोर यातनाएं सही थीं। जेल की यातनाओं से ही शायद उनका शरीर इतना जीर्ण हो गया कि वे हमारे बीच नहीं रह सके। मुझे ऐसा वीर, साहसी, त्यागी पुरुष दूसरा नहीं दिखाई पड़ता।

ऐसी आत्माओं का आगमन कभी-कभी ही संसार में होता है। वे अपने लिए नहीं आते, लोगों के—विशेषकर गरीबों के कल्याण के लिए ही उनका अवतार होता है। हमारे देश का एक ऐसा रत्न खो गया, जिसकी चमक पर कोई भी गौरव कर सकता है।

जमनालालजी को मैंने बहुत निकट से देखा था। जयपुर-स्टेशन पर सन् १९४० में मैंने उनके अन्तिम दर्शन किये थे। मैं जयपुर-स्टेशन पर रेल में बैठी थी। मालूम होने पर वह मेरे डिब्बे के पास आकर बोले—"कहिए, आप कुशल से तो हैं न!" स्नेह-वश उन्होंने अपने भतीजे और एक और सज्जन को मेरे डिब्बे में इसलिए भेज दिया कि मैं सकुशल रात की यात्रा पूरी कर सकूं।

मैं और वे साथ-साथ उदयपुर पहुंचे। उन्हें खादी-प्रदर्शिनी का उद्घाटन करना था। मैं महिला-सम्मेलन का सभापतित्व करने वहां गई हुई थी।

हिन्दी-साहित्य के भी वह एक चमकते हुए तारे थे। वे सम्मेलन के सभापति भी रह चुके थे। उनके कामों की गिनती करना मुश्किल है।

जमनालालजी समूचे भारत की सम्पत्ति थे।

: २७ :

दानवीर, तपोवीर, सेवावीर

दादा धर्माधिकारी

जमनालालजी नहीं रहे। मैंने उनके पार्थिव अंश को भस्मसात् होते हुए अपनी आंखों से देखा। लेकिन फिर भी मैं अबतक यह महसूस नहीं कर सकता कि जमनालालजी दरअसल नहीं रहे हैं। वर्धा के आसपास का सारा वायुमण्डल उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से छलक रहा है, उनके सुकृतों की सुगंध से महक रहा है। जिन थोड़े-से व्यक्तियों ने मेरे जीवन को प्रभावित किया है, उनमें से जमनालालजी का एक विशेष स्थान है। लेकिन फिर भी मैं उनसे बहुत कम मिलता था। मेरा कार्यक्षेत्र ही ऐसा था कि शिक्षा-मंडल या महिला-सेवा-मण्डल की बैठकों के सिवा, साल भर में मुश्किल से आठ या दस बार उनसे मुलाकात के मौके आते थे, इसलिए उनके शरीर के भस्म हो जाने पर भी मुझे यह अनुभव नहीं होता कि अब जमनालालजी नहीं रहे। सारा वातावरण उनके समृद्ध और पवित्र जीवन के प्रभाव से शराबोर है।

... ...

ग्यारह तारीख को जमनालालजी का कनिष्ठ पुत्र रामकृष्ण लगभग तीन बजे अपने 'घनचक्कर' मित्रों के साथ गपशप कर रहा था। इतने में एक नौकर से उसे खबर मिली कि 'काकाजी' एकाएक सख्त बीमार होगये। मुझे यह खबर करीब सवा तीन बजे मिली। हम लोग तुरन्त चल पड़े। लेकिन उनकी कोठी के फाटक पर ही मालूम हुआ कि वह नहीं रहे। करीब पौन घंटे में सारा खेल खतम. होगया।

जिस कमरे में उनका शव पड़ा था, वहां पहुंचने पर हमने जो अद्भुत दृश्य देखा, उसका वर्णन करना असम्भव है। वह दृश्य जितना करुण था,

उतना ही उदात्त था; जितना गंभीर था, उतना ही प्रेरणाप्रद था। जमनालालजी के शव के पास गांधीजी और जानकीदेवी बैठे थे और चर्चा कर रहे थे। शोक के उद्रेक से दोनों का हृदय विदीर्ण हो रहा था; लेकिन दोनों को यह चिन्ता थी कि उनका क्या कर्त्तव्य है। जानकीदेवी अपने श्वसुर-तुल्य और गुरु-स्वरूप बापूजी से पूछ रही थी, "अब मेरा क्या कर्त्तव्य है? सती-धर्म का आचरण करने के लिए मुझे क्या करना चाहिए?" उस गंभीर अवसर पर बापू जमनालालजी के शव के समीप बैठकर सतीधर्म की व्याख्या अपनी अनुपम सीधी-सादी और घरेलू भाषा में कर रहे थे। उन्होंने कहा, "जिस कार्य के लिए जमनालालजी जीये, जिसका अनुशीलन और चिन्तन करते हुए वह यहां से चले गये, उस काम को अपना सारा जीवन और सम्पत्ति समर्पण करना ही सच्चा सहगमन है, यही यथार्थ सतीधर्म है, यही सहधर्माचरण है।"

उस शोकाकुल स्थिति में भी जानकीदेवी ने अपने पतिदेव के नश्वर शरीर को साक्षी रखकर नम्रतापूर्वक, सकुचाते हुए, यह पवित्र और गंभीर संकल्प किया। बापू और विनोबा से उन्होंने विनय की—"भगवान् से प्रार्थना कीजिए कि वे मुझमें उनकी शक्ति, बुद्धि और गुण भर दें, जिससे उनका कार्य आगे चला सकूं।"

यह सारा संवाद मेरे समाजवादी मित्र डा. राममनोहर लोहिया सुन रहे थे। वह कहने लगे, "भई, गांधीजी गजब के आदमी हैं।"

गांधीजी ने कहा है, "जमनालालजी बड़े तगड़े आदमी थे।" लेकिन जब-जब यह दृश्य याद आता है तो मैं सोचने लगता हूं, "जानकीदेवी दबंग स्त्री हैं!" अपने अनुरूप साहस, निष्ठा और त्याग देखकर जमनालालजी की आत्मा कृतकृत्य हुई होगी!

यह दृश्य पुराणकाल की याद दिलानेवाला था। उसके बाद विनोबा की मधुर-गंभीर ध्वनि में गीता के बारहवें अध्याय के पाठ ने उस अवसर को एक पुण्यपर्व का रूप दे दिया। पुण्यात्मा का प्रयाणकाल भी एक शुभ मुहूर्त ही होता है। इसीलिए वह पुण्यतिथि के रूप में मनाया जाता है।

गांधीजी ने कहा है—जमनालालजी एक दिग्गज पुरुष थे। कहीं भी भीड़ में खड़े होते थे तो दूर ही से उनकी गर्दन और सिर दिखाई देता था। उनका डील-डौल लम्बा-चौड़ा और भारी-भरकम था। एक कहावत है कि चंगे शरीर में चंगा मन रहता है। जमनालालजी के ऊंचे-पूरे और विशाल शरीर में उतनी ही विशाल आत्मा और उन्नत हृदय था। उनकी विशालता में स्वाभाविकता थी। उनका शरीर कसरत या व्यायाम से कमाया हुआ नहीं था। उसी तरह उनकी बुद्धि में भी आधुनिक शिक्षा की चमक-दमक नहीं थी। फिर भी उसमें स्वाभाविक संस्कारिता, कुशाग्रता तथा मूलगामिता की कमी नहीं थी। उनकी बुद्धि की उदारता और शक्ति उनके साथ अनेक संस्थाओं में काम करनेवाले उनके सहकारी भलीभांति जानते हैं, उनके हृदय की विशालता का अनुभव तो सभीको है। उनके शरीर की ऊंचाई मानो उनके विचारों की उच्चता की द्योतक थी।

... ...

यों तो संसार में पैदा होनेवाला हरएक व्यक्ति अपूर्व और अद्वितीय ही होता है। एक के जैसा दूसरा नहीं होता। इसलिए हरएक को पहचान सकते हैं। इस प्रकार हरएक की शक्ल-सूरत एक-सी नहीं होती। परन्तु जमनालालजी एक विशेष अर्थ में अपने ढंग के एक ही आदमी थे, वह केवल दानवीर ही नहीं, तपोवीर और सेवावीर भी थे। सत्कर्मों में आर्थिक मदद देने तक ही उनकी सत्कार्य-निष्ठा सीमित नहीं थी, वह उन कार्यों में एक सच्चे साधक की तरह अद्भुत लगन और तत्परता के साथ जुट जाते थे और सेवा तथा सदाचार के व्रतों को अपने जीवन में चरितार्थ करने की निरन्तर और अविरत चेष्टा करते थे। उन्होंने केवल सत्याग्रहाश्रम को द्रव्यदान देकर वर्धा में उसकी नींव ही नहीं डाली, अपितु सत्याग्रह के लिए आवश्यक व्रतों का अनुशीलन अपने जीवन में सचाई के साथ करने का यत्न किया। गृहस्थ होते हुए भी वह कई वर्षों से ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और अपने जीवन की सादगी तथा कष्ट-सहन की शक्ति से विरक्त कार्यकर्ताओं को भी चकित कर देते थे। इसीलिए यह कहने में

अत्युक्ति नहीं है कि वह जनकादि राजर्षियों के एक प्रामाणिक अनुयायी और वंशधर थे।

... ...

जमनालालजी में व्यवहारज्ञान और तत्त्वनिष्ठा, दातृत्व और हिसाबीपन, सज्जनता और विवेकशीलता का बड़ा मनोरम संगम था। संसार में सम्पन्नता और शुचिता, वैभव और पावित्र्य, कांचन और चारित्र्य एक साथ विरले ही पाये जाते हैं। जमनालालजी में इन परस्पर-विरोधी गुणों का मधुर मिलाप था। वह जब कोई रकम या सम्पत्ति किसी पुण्यकार्य के लिए देते थे तो उसे 'दान' नहीं समझते थे। उपनिषद् की आज्ञानुसार वह बड़े सकुचाते हुए, विनयपूर्वक, देते थे—'ह्रियादेयम्'। इसीलिए उनका दान निरपेक्ष और करीब-करीब निर्दोष होता था। वह कहा करते थे कि जिस सम्पत्ति की व्यवस्था का भार मुझे सौंपा गया है, उसके सदुपयोग का सुयोग मुझे जिन संस्थाओं, व्यक्तियों या कार्यों की बदौलत प्राप्त होता है, उनकी बड़ी कृपा है। इसीलिए जब वह किसी कार्य में श्रद्धा से आर्थिक सहायता देते थे तो सत्ता या यश की अभिलाषा तनिक भी नहीं करते थे। उल्टे, उनका यह प्रयत्न रहता था कि हरएक संस्था या कार्य किसी जिम्मेदार और योग्य व्यक्ति को सौंपकर खुद दूसरा काम शुरू कर दें। इसीलिए उनके धन से कोई व्यक्ति आश्रित या पंगु नहीं बनता था। संस्था के संचालकों की आत्ममर्यादा और आत्मनिष्ठा ही उसकी आत्मा है, यह वह भली प्रकार जानते थे।

मैं कह चुका हूं कि जमनालालजी बड़े हिसाबी और व्यवहार-चतुर थे। विनोबा अक्सर कहा करते हैं कि परमार्थ उत्कृष्ट हिसाब है। केवल आर्थिक दृष्टि में अधकचरा और अपूर्ण हिसाब होता है। पारमार्थिकता में ही सच्ची आर्थिक वृत्ति है। जमनालालजी अपनेको एक कुशल बनिया कहते थे। इसलिए वह कहा करते थे, "मैं अगर पैसे से प्रतिष्ठा, प्रशंसा और सत्ता खरीदूं, तो उससे मेरा पतन होगा, देश की हानि होगी और जनता के साथ प्रतारण होगा। अगर मैं अपने आस-पास चापलस और मतलबी लोगों

को इकट्ठा करूंगा तो मेरी आत्मा का विकास नहीं हो सकता ।" इसलिए एक दूरदर्शी और अग्रसोची व्यापारी की तरह वह अपने द्रव्य का विनियोग ऐसी संस्थाओं और कार्यों में करना चाहते थे जो उनकी आत्मोन्नति में सहायक हों ।

यही कारण है कि वह इतने त्यागी और तपस्वी समाज-सेवकों का संग्रह कर सके । उनकी लोकसंग्रह की अपूर्व शक्ति का यही रहस्य है। जिन-जिन सन्तों और कर्मयोगियों को जमनालालजी की निष्ठा और निर्व्याज प्रेम बरबस वर्धा खींच लाया, उन्हें केवल धन के जोर पर कुबेर भी नहीं खरीद सकता । इस दृष्टि से जमनालालजी केवल आदर्श अतिथि-सेवक ही नहीं, आदर्श 'यजमान'—'यजन करने वाले'—भी थे । उन्होंने ईश्वर और मनुष्यता की उपासना तथा आराधना सन्तों, सेवकों और सत्प्रवृत्त सज्जनों के रूप में की । क्या यह उत्कृष्ट हिसाबी वृत्ति और सच्चा व्यवहार-कौशल नहीं है ?

... ...

उनकी दानशीलता उनकी जीवन-व्यापी निष्ठा का केवल एक अंश थी । उनके चारित्र्य ने उनके सारे परिवार में क्रान्ति उपस्थित कर दी है। उनकी पत्नी, उनके पुत्र, उनकी लड़कियां—सभी उनकी जीवननिष्ठा के कायल हैं । उनके दोनों पुत्रों ने जेलखाने की सजाएं ही नहीं भुगती हैं, बल्कि विनोबा के आश्रम में पाखाने साफ करने में अपनेको गौरवान्वित माना है । उनकी लड़कियों ने भी विनोबा के चरणों में बैठकर रामायण और ज्ञानेश्वरी का अध्ययन किया है और सफाई तथा शरीरश्रम की प्रतिष्ठा के पाठ सीखे हैं। बापू और विनोबा जब कोई नया प्रयोग करना चाहते थे तब जमनालालजी और उनके कुटुम्बी उनकी सेवा में हाजिर रहते थे । राधाकृष्ण बजाज जैसा चरित्र्यवान् और अध्यवसायी कुशल सेवक उन्हीं-की तो देन है । इस प्रकार जमनालालजी के कुटुम्बी उनके अनुयायी भी हो गये हैं । यह कमाई कुछ कम नहीं है । देश में इस तरह के परिवार कितने हैं ?

जमनालालजी की एक और विशेषता का उल्लेख करना जरूरी है। उन्होंने अपनी कर्मभूमि और सेवाभूमि को अपनी जन्मभूमि से अधिक प्रिय और सेव्य माना। वर्धा से उन्हें जो प्रेम था और उस नगरी की शोभा और महिमा बढ़ाने के लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया, वह उनकी इस वृत्ति का परिचायक था। नागपुर प्रांत की जनता और भाषा से भी उन्हें विशेष अनुराग था। विनोबा को वह अपना गुरु मानते थे और उनके सभी बच्चों ने विनोबा के पास बैठकर मराठी के अनुपम काव्य 'ज्ञानेश्वरी' का अध्ययन किया है। लेकिन वह अपनी जन्मभूमि को भी बिल्कुल नहीं भूले। जयपुर राज्य प्रजामण्डल का कार्य उनके जन्म-भूमि-प्रेम का साक्षी है।

... ...

जमनालालजी संस्थाओं की संस्था थे। सत्याग्रहाश्रम, महिला-सेवा-मंडल, मारवाड़ी शिक्षा-मंडल, कामर्स कालेज, गो-सेवा-चर्मालय, गो-सेवा-संघ, ग्राम-उद्योग-संघ, चरखा-संघ, गांधी-सेवा-संघ, आदि कितनी ही संस्थाओं की नींव उन्होंने डाली। प्रेरक और आद्य-प्रवर्तक अलबत्ते गांधीजी ही रहे; लेकिन जमनालालजी केवल इन संस्थाओं के प्रतिष्ठित और आश्रय-दाता ही नहीं थे, उनके साथ उनका जीवित संपर्क था। महिलाश्रम की महिलाएं और लड़कियां तो 'काकाजी' को हर माने में अपने पिता और पालक मानती थीं, उनके लिए तो जमनालालजी के रिक्त स्थान की पूर्ति होना असम्भव ही है।

... ...

जिसका जीवन इतना समृद्ध और उपयोगी था, उसकी मृत्यु भी उतनी ही वैभव और सम्यक और ईर्षास्पद् हुई। मरने में भी जमनालालजी ने अपनी बनिया-वृत्ति से काम लिया। न बीमार हुए, न लाचार हुए और न किसीकी सेवा ही ली।

... ...

वह अपने जीवन द्वारा तत्त्वनिष्ठ व्यवहार-कुशलता का जीवन और असाधारण उदाहरण उपस्थित कर गये।

: २८ :

सच्चे भारतीय

सुन्दरलाल

भाई जमनालालजी बजाज गांधीजी के अनन्य भक्त और बड़ी शुद्ध और ऊंची आत्मा के आदमी थे। त्यागी तो वह बहुत बड़े थे ही। यदि गांधीजी की सूझ, आत्म-शक्ति, तपस्या, प्रेरणा और त्याग ने असहयोग-आन्दोलन को सफल बनाया तो जमनालालजी की तपस्या, दानशीलता और दूसरों से पैसा खींच लाने की शक्ति ने भी उस आन्दोलन को सफल बनाने में कुछ कम भाग नहीं लिया। देश की वह एक विभूति थे। मारवाड़ी-समाज के तो वह शिरोमुकुट थे ही। मुझे इस समय दो-तीन छोटी-छोटी घटनाएं याद आ रही हैं।

पहली यह कि मेरा जमनालालजी से परिचय कब और कैसे हुआ। सन् १९०८ के बाद की बात है, मैं उन दिनों नौजवान था। अरविन्दबाबू के क्रांतिकारी दल का मेम्बर था। एक मारवाड़ी सज्जन श्री दामोदरदास राठी (कृष्ण मिल, ब्यावर के मालिक) भी हमारे सच्चे मददगारों में से थे। धन से भरपूर सहायता करते थे। मैं नए-नए मददगारों की खोज में रहता ही था। दामोदरदासजी ने मुझसे कहा कि वर्धा में एक बहुत अच्छा होनहार मारवाड़ी युवक रायबहादुर जमनालाल है, तुम उससे जरूर मिलो। मैं पूना से लौटते हुए जमनालालजी से पहली बार वर्धा में मिला। खूब बातें हुईं। तब से अन्त तक जमनालालजी से प्रेम बढ़ता गया। पर जमनालाल-जी शुरू से बहुत ही सीधे, सच्चे और भले आदमी थे। वह उन दिनों स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले के प्रशंसक और अनुयायी थे। लोकमान्य तिलक का वह आदर करते थे, पर उनके विचारों से उतना अपनापन महसूस न कर पाते थे। मैं भी स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले का बड़ा आदर करता था। पर

मैं अनुयायी था तिलक महाराज का। जो हो, जमनालालजी की नेकी और सच्चाई का आदर उसी दिन से मेरे दिल में बढ़ता चला गया।

यह एक स्वाभाविक बात थी कि जमनालालजी-जैसे आदमी को देश-सेवा के मैदान में गांधीजी ही पूरी तरह खींच सकते थे। जमनालालजी के दिल को कोरी राजनीति उतनी अपील नहीं करती थी, जितना सत्य और अहिंसा और गांधीजी ने तीनों को एक कर ही दिया था। यही गांधीजी में जमनालालजी की अटूट श्रद्धा और जमनालालजी के साथ गांधीजी के वात्सल्य-प्रेम का कारण था।

दूसरी घटना असहयोग-आन्दोलन के शुरू हो जाने के बाद की है। यह भी वर्धा ही की है। गांधीजी वर्धा में जमानालालजी के बाग में ठहरे हुए थे। मैं भी वहीं था। असहयोग का ऐलान हो चुका था। जमनालालजी को एक धर्म-संकट उत्पन्न हुआ। वह किसी शिक्षा-संस्था को कोई निश्चित रकम सालाना देने का वादा कर चुके थे। जहांतक मुझे याद पड़ता है, वह कर्वे साहब की महिला यूनिवर्सिटी थी। जमनालालजी ने मुझसे पूछा कि असहयोग शुरू हो जाने के बाद उन्हें रकम देनी चाहिए या नहीं। मैंने कहा—हर्गिज नहीं। जमनालालजी को मेरी राय ठीक न लगी। उन्हें लगता था कि जिसे वचन दिया है, उसे पूरा करना ही चाहिए। आखिर मामला गांधीजी के पास गया। उन्होंने हम दोनों की बात सुनकर मेरी राय को ठीक माना। उनके समझाने से जमनालालजी समझ भी गए। यहां दलीलें दुहराने की आवश्यकता नहीं है। यह घटना मैंने केवल यह दिखाने को लिखी है कि जमनालालजी कितने ईमानदार और अपनी बात के कितने पक्के थे।

तीसरी घटना झंडा-सत्याग्रह की है। सन् १९२३ की बात है। देश में दो पार्टियां हो चुकी थीं, एक कौंसिल जाने के पक्ष में और दूसरी कौंसिल-बहिष्कार जारी रखने के पक्ष में। गांधीजी जेल में थे। राजाजी, जमना-लालजी, और हम लोग 'नो चेन्ज' (अपरिवर्तनवादी) विचार के थे। सवाल यह था कि कौंसिल न जाकर हम लोग क्या करेंगे? तय हुआ कि

कोई-न-कोई सत्याग्रह शुरू करके जेल जाया जाय और इस तरह गांधीजी के चलाए हुए आन्दोलन को जीवित रखा जाय। पर क्या सत्याग्रह किया जाय और किस बात पर किया जाय ? मैं जबलपुर प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का प्रेसीडेंट था। उन दिनों राजाजी के साथ प्रान्त का दौरा कर रहा था। जबलपुर म्युनिसिपैलिटी ने प्रस्ताव पास किया कि एक खास अवसर पर जबलपुर टाउनहाल के ऊपर राष्ट्रीय तिरंगा झंडा फहराया जाय । सरकार ने उस प्रस्ताव को रद्द कर दिया और हुकुम दिया कि टाउनहाल पर तिरंगा झंडा न लगाया जाय। इंगलिस्तान की पार्लमेंट में भी वहां की सरकार ने खुले आम कहा कि तिरंगा झंडा सरकारी इमारतों पर नहीं लग सकता और न उसके जलूस की इजाजत दी जा सकती है। पुलिस ने टाउनहाल को घेर लिया। समाचार मिलते ही मैंने फौरन तय किया कि इसी बात पर प्रान्त में सत्याग्रह शुरू कर दिया जाय । राजाजी की भी राय मिल गई। झंडा-सत्याग्रह जबलपुर में शुरू होगया। देशभर में खूब जोश पैदा होगया। कई बार बड़ी सुन्दरता के साथ टाउनहाल पर भी झंडा फहराया गया। इसी बीच मुझे पकड़कर जेल में डाल दिया गया। मैं उस समय सत्याग्रह का संचालक था, जिसे उन दिनों 'डिक्टेटर' कहते थे। महात्मा भगवानदीनजी नागपुर में थे। मैंने जेल जाते समय उन्हें अपनी जगह संचालक नियुक्त कर दिया। उन्होंने जबलपुर की जगह नागपुर को सत्याग्रह का केन्द्र बनाया। तुरन्त नागपुर में पांच आदमियों की एक सत्याग्रह-कमेटी बन गई, जिसके प्रधान महात्मा भगवानदीनजी थे । इस कमेटी के एक मेम्बर जमनालालजी भी थे। उनकी सहायता और उनके सहयोग ने बहुत बड़ा काम किया। अन्त में सत्याग्रह की पूरी विजय रही और और देशभर में तिरंगे झंडे के जुलूस निकालने और सार्वजनिक इमारतों पर झंडा फहराने की इजाजत हो गई।

जमनालालजी सच्चे 'भारतीय' थे । सचमुच, गांधीजी के दत्तक पुत्र थे।

: २९ :

एक अंग्रेज की श्रद्धांजलि

वेरियर एल्विन

पिछले कुछ सालों में मैं जमनालालजी को बहुत ही कम देख पाया था, हालांकि एक समय ऐसा था, जब हम एक-दूसरे के काफी नजदीक थे। ऐसा कोई क्षण मुझे याद नहीं पड़ता, जब मैंने प्रेम और कृतज्ञता के साथ उनका स्मरण न किया हो।

दस साल पहले जब मैं धूलिया जेल में जमनालालजी से मिलने गया और उन्हें 'सी' क्लास में रहते देखा, तो मुझे इतना आघात पहुंचा कि मैंने उसी समय प्रतिज्ञा की कि जबतक हमारे देश में ये बातें होती रहेंगी, मैं नंगे पैर ही घूमूंगा। मैं आज भी नंगे पैर ही घूमता हूं, और यह एक ऐसी घटना है, जो प्रायः मुझे अपने मित्र का स्मरण करा दिया करती है।

आज से दस बरस पहले वर्धा में जमनालालजी के उस छोटे-से सीधे-सादे घर में उनके मेहमान बनकर रहना एक अद्‌भुत चीज थी। अपने जीवन में जमनालालजी ने कभी सादगी का त्याग नहीं किया। बाद में जब वर्धा ने राजधानी का रूप ले लिया तो सहज ही वहां बहुत-सी नई इमारतें और संस्थाएं खड़ी होगईं और जो थीं वे भर गईं। मगर १९३१-३२ में तो उनके घर में साधु की कुटिया की तरह शांति और सादगी का वातावरण मानो मुंह से बोलता था।

जमनालालजी में कई ऐसे गुण थे, जो पश्चिम-वालों को खूब पसन्द आते। उनकी सादगी और स्वाभिमान, उनकी सच्चाई और स्पष्ट-वादिता, और जीवन के प्रति क्वेकरों-सी उनकी वृत्ति पश्चिम-वालों पर अपना प्रभाव डाले बिना न रहती।

उनके-जैसे धनी आदमी में सत्य का इतना आग्रह क्वचित ही पाया

जाता है। उनके मुंह से निकलनेवाले प्रत्येक शब्द को आप जब चाहें कसौटी पर पूरा उतार सकते थे। आपको विश्वास रहता था कि उनकी भावुकता में कोई परिवर्तन न होगा और उनके आदर्श में कोई कमी न आवेगी। मैं उनको दिल से प्यार करता था, और आज जब वे चले गये हैं, मैं अपने जीवन में एक बड़े अभाव का अनुभव कर रहा हूं। मैं यह भी अनुभव करता हूं कि वर्धावासियों और देश की जनता को उनके समान शुद्ध हृदय, प्रेमी, उदार और व्यापक सहानुभूतिवाले व्यक्ति का अभाव कितना खटक रहा होगा।"

मैंने आज अपना एक मित्र खो दिया और राष्ट्र ने एक सच्चा सेवक। १९२० से देश की सेवा में उन्होंने अपना जीवन समर्पण कर दिया था। तबसे जीवन के अन्त तक वे देश की सेवा करते रहे। वह अपनी विविध प्रवृत्तियों के कारण प्रथम श्रेणी के राष्ट्रीय नेता होगये थे।

उनका हृदय और उनके घर का द्वार राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के स्वागत के लिए हमेशा खुला रहता था। वे सफल व्यवसायी थे। उन्होंने केवल पैसा कमाना ही नहीं सीखा था, वे उसे व्यय करना भी जानते थे। भारत में ऐसी कई राष्ट्रीय संस्थाएं हैं, जो उनकी सहायता की बदौलत ही जी रही हैं। आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, परन्तु उनकी सेवाओं के फल हमेशा हरे रहेंगे और उनकी याद कभी धुंधली नहीं होगी।

—अबुलकलाम आजाद

: ३० :

मन की मन में रह गई

माधव विनायक किबे

श्री जमनालालजी का और मेरा परिचय उस समय हुआ जब इंदौर में प्रथम बार अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन महात्माजी की अध्यक्षता में हुआ। सम्मेलन के बाद सेठजी फिर मिले और मेरी पूर्व जागीर के गांव राऊ में, जो इंदौर से छः मील पर है, कांच और थायमाल कारखानों को देखने की इच्छा प्रकट की। मैंने व्यवस्था कर दी। इसके बाद बहुत दिनों तक मिलना नहीं हुआ। मैं लन्दन की गोलमेज-परिषद् से वापस आया और राज्य की सेवा से मुक्त हुआ। उसके बाद मुझे भारत-सरकार ने, बम्बई प्रान्त के सरदार, इनामदार, जागीरदार, तालुकेदार मंडल के अध्यक्ष की हैसियत से उनके प्रतिनिधि के रूप में पार्लमिंटरी कमेटी के सामने उनके हित का विवरण रखने के लिए लंदन बुलवाया। मैं वहा गया और गवाही देकर ३-४ महीने बाद वापस आया। सेठजी से मेरा पत्र-व्यवहार होता रहा। बाद में हम लोग वर्धा गये और सेठजी के यहां ठहरे। वहां की संस्थाएं देखकर इंदौर आये। महात्माजी से हम लोगों का परिचय लंदन में हो गया था। कुछ वर्ष घर-गिरस्ती की व्यवस्था करके मैंने महात्माजी के पास जाने का विचार किया और सेठजी को लिखा। उन्होंने मुझे वर्धा बुलाया। मैं गया। वहां और भी नेता थे। सेठजी दो बार मुझे महात्माजी के पास ले गये। महात्माजी ने मुझे अपने पास रखना स्वीकार किया; परन्तु कहा कि जेल जाने की वहां तैयारियां हो रही हैं, इसका मैं विचार कर लूं। मैं इंदौर लौटा। घर की व्यवस्था करके वर्धा जाना चाहता था कि सेठजी के देहान्त की सूचना मिली। मन की मन में रह गई। मेरी पत्नी और मुझे दोनों को बड़ा धक्का लगा। सेठजी का मधुर स्वभाव, महान उदार व्यक्तित्व, परोपकार-पटुता, इन गुणों से हम दोनों बहुत प्रभावित हुए थे।

: ३१ :

धनिकों में अपवाद

के० संतानम्

मैं १९२०-१९२२ में जमनालालजी के सम्पर्क में आया। कई बार मैं वर्धा में उनका मेहमान बना। वे मुझसे बड़ी दयालुता का व्यवहार केवल इसलिए नहीं करते थे कि सीधे उनकी देखरेख में मैं खादी का काम करता था, बल्कि वे राजाजी के गहरे मित्र और प्रशंसक थे और उनके साथ काम करनेवालों को बहुत चाहते थे।

वे महात्माजी के बहुत बड़े भक्त थे, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे उनके अन्ध-भक्त या आज्ञा-पालक मात्र थे। अपने क्षेत्र में उनके स्पष्ट और निश्चित विचार थे और वे अक्सर औरों को उन्हें स्वीकार करने के लिए समझाने-बुझाने में सफल हुआ करते थे।

वे मानव-प्रकृति को समझने में कुशल थे, हृदय की भावना छिपाने में कुशल नहीं थे। जो कोई रचनात्मक काम करता, वह उनके पास जरूर जाते थे। उनका जीवन तपस्यामय था। वे जितना खा सकते, उतना ही भोजन परोसने देते और कभी खाने का कोई कण भी नहीं छोड़ते थे। वे लाखों का दान देकर भी छोटी रकमों के बारे में बहुत खयाल रखते थे।

जमनालालजी की मिसाल सामने होने के कारण ही महात्माजी ने देश के अमीरों को अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी होने की सलाह दी। जमनालालजी धनिकों में एक अपवाद थे। उन्होंने महात्माजी को कांग्रेस के कार्य में जो मदद दी थी उसके कारण ही आज कांग्रेस एक समाजवादी राज्य की धारणा बना सका है। जमनालालजी सभा और प्लेटफार्मों पर सबसे पीछे बैठते थे, पर मुझे निश्चय है कि गांधीजी के बाद स्वाधीनता के आरम्भिक संग्राम में उनका हाथ सबसे अधिक था।

: ३२ :

उनकी हिन्दी-भक्ति

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'

इन्दौर में मध्यभारत हिन्दी-साहित्य-समिति के जन्म के बाद हिन्दी म 'कुछ विशेष' करने की धुन में मैं यहां (झालरापाटन में) राजपूताना-हिन्दी-साहित्य-सभा स्थापित करके बम्बई गया था। सन् '१५ की बात थी। बम्बई में कांग्रेस थी, हिन्दू महासभा थी और कई महासभाओं के उत्सव थे। हिन्दू महासभा के सभापति थे माननीय मदनमोहन मालवीय और वेदी पर बैठे हुए थे (स्वर्गीय) सर प्रभाशंकर पट्टणी, श्रीमती सरोजिनी नायडू, आदि-आदि। हिन्दी का प्रस्ताव मुझे करना था, वह मैंने किया। मेरे पौन घण्टे के भाषण से जो लोग प्रसन्न हुए, उनमें २४-२५ वर्ष का मारवाड़ी युवक भी था। इस युवक का नाम सेठ जमनालाल बजाज था।

'महात्मा' गांधी उस समय तक 'कर्मवीर' गांधी थे। 'महात्मा' नहीं हुए थे। काठियावाड़ी पगड़ी, लम्बी अंगरखी पहनते थे और मारवाड़ी विद्यालय में उतरे थे। मैं एक रात उनके साथ ही रहा। इसके बाद मैं एक रोज जमना-लालजी के यहां गया और उनसे हिन्दी के सम्बन्ध में काफी बातें हुई। उन्होंने हिन्दी के लिए जो-कुछ किया वह एक सच्चे हिन्दी-भक्त की तरह से ही किया।

एक बार वे दिल्ली आये हुए थे। उनके कान में पीड़ा थी। मेरी उनसे भेंट हुई। कान से पीड़ित होने पर भी हिन्दी की सेवा के लिए उन्होंने उपयोगी परामर्श दिया। उनके न रहने से ऐसा मालूम होता है कि हमने एक विशिष्ट पुरुष को खो दिया।

शान्त, विवेकी, शुचि-हृदय, सत्यनिष्ठ, नर-भाल।
वसु नव निधि महि तजि मिले प्रभु में जमनालाल॥

: ३३ :

उनकी छाप

दामोदरदास खंडेलवाल

स्वर्गीय सेठ जमनालालजी बजाज से सर्वप्रथम मेरा साक्षात्कार २३ दिसम्बर १९२६ को मेरे निवास-स्थान पर हुआ था। इसके पहले मैंने सेठजी को दूर से ही एक या दो बार देखा होगा।

उस समय मैं खादी से नफरत करता था। महात्माजी ने सेठजी से मेरे सामने कहा कि खादी के बारे में कुछ बातें इन्हें बतलाओ। सेठजी के सामने ही मैंने उनसे कहा, "ये मुझे नहीं समझा सकेंगे। मैं इनसे समझना भी नहीं चाहता। मैं तो आपसे ही समझना चाहूंगा।"

महात्माजी ने बड़ी नम्रता और प्रेम से उत्तर दिया, "मैं तुम्हें जरूर समझाऊंगा, किन्तु इस समय तो तुम सेठजी से ही बात करो। महात्माजी के इस आग्रह पर मैंने सेठजी से बात करना स्वीकार कर लिया। मेरा खयाल था कि सेठजी से बात करने का विरोध उनके सामने ही मेरे द्वारा होने से वे नाराज हो जायंगे और बात नहीं करना चाहेंगे, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। उन्होंने बड़े आदर और प्रेम से मुझसे बातें कीं। खादी के विषय में उनकी बातों का मुझपर कोई असर नहीं हुआ, किन्तु मैंने देखा कि इसके बाद से सेठजी मेरे प्रति बहुत स्नेह और कृपा करते रहे। मेरा भी उनके प्रति आदर-भाव और प्रेम रहा। हम दोनों एक-दूसरे के नजदीक आते गए।

महात्माजी और सेठजी दोनों चाहते थे कि मेरी ज्येष्ठ पुत्री कृष्णा का विवाह दूसरी जाति में हो। सेठजी उसको अपनी पुत्री-जैसी समझने लगे थे और उसके प्रति बहुत स्नेह रखते थे। वे एक या दो बार मुझसे काशी में मिले। कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ, लेकिन कृष्णा स्वयं नहीं चाहती थी कि उसका विवाह अपनी जाति के बाहर हो। इसलिए अपनी जाति में ही

होना निश्चित हुआ। इसकी सूचना मैंने सेठजी को दे दी। उनका पत्र मिला, जिसमें उन्होंने इच्छा प्रकट की कि लड़की की खुशी हो तभी जाति तोड़ी जाय और उसके पूर्ण सन्तोष का खयाल रखा जाय। इस पत्र में उनकी उदारता, उनके हृदय की विशालता, दूसरों की भावना के प्रति आदर, सच्ची सलाह एवं स्नेह आदि का नमूना मिलता है।

बाद में सेठजी किसी कार्य से दौरे पर निकले और इलाहाबाद होते हुए बनारस पधारे। मेरे निवास-स्थान पर आये। चर्चा के बाद उन्होंने कृष्णा का विवाह अपनी जाति में ही करने की स्वीकृति दे दी। इतना ही नहीं, श्री राजेन्द्रप्रसादजी के साथ वे विवाह के समय घर पधारे और दोनों महानुभावों ने मेरी दोनों पुत्रियों को, जिनके विवाह एक ही दिन, एक ही समय, एक ही मंडप में हुए, तथा दोनों वरों को अपने आशीर्वाद दिये। महात्माजी उस समय मुगलसराय होकर पटना जा रहे थे। सेठजी ने दोनों कन्याओं और वरों को मुगलसराय साथ ले जाकर महात्माजी से भी आशीर्वाद दिलवाया। ऐसी थी उनकी उदारता।

अन्तिम बार मैं १९४१ के सितम्बर महीनें में वर्धा गया। स्टेशन पर वेटिंग रूम में सामान छोड़कर सेठजी से मिलने गया। वे भीतर कमरे में तेल मालिश करा रहे थे। ज्योंही उन्हें सूचना मिली, उन्होंने मुझे बुलाया। मैं जब मिला तो उन्होंने बड़े स्नेह से उलाहना दिया कि सामान स्टेशन पर छोड़कर खड़े-खड़े मिलने आये हो, यह क्या बात है? और यह भी क्या कि बिना बापूजी से मिले जाते हो! मैंने कहा, "जल्दी है।" पर उन्होंने एक न सुनी। हुक्म दिया कि एक सप्ताह ठहरना होगा। स्टेशन से सामान मंगवा लिया। छः दिन रहना पड़ा। यही मेरी उनके साथ अन्तिम भेंट थी।

सेठजी का स्नेहमय व्यवहार, ऊंचे दर्जे की शिष्टता, उदार-सहृदयता, दूसरों के प्रति आदर-भाव, मित्रता निभाने की नीति, परस्पर मिलना-जुलना, हमेशा प्रसन्न रहना आदि, अनेक बातों की छाप मेरे हृदय पर आज भी ताजी बनी हुई है।

: ३४ :

भाईजी भाईजी ही थे !

हीरालाल शास्त्री

१९२३ की बात है। मैं जयपुर से अहमदाबाद होकर बम्बई जा रहा था। हमारी गाड़ी घंटे-आध घंटे बाद आबूरोड स्टेशन पहुंचनेवाली थी। एक छोटे स्टेशन पर किसी कारण से गाड़ी रुकी। अचानक मेरे कान में 'बिड़लाजी!' यह आवाज आई। मैंने बाहर देखा कि एक पूरे कद का आदमी किसीको पुकार रहा है। एक मुसाफिर ने मुझसे कहा—"ये सेठ जमनालाल बजाज हैं।" मैंने कहा—"अच्छा, ये हैं सेठ जमनालाल बजाज !" जिनको आवाज लगाई जा रही थी, वे कोई दूसरे बिड़लाजी थे। मुझे उस घड़ी कुछ भी खयाल न था कि श्री जमनालालजी से और श्री घनश्यामदासजी से मेरा बहुत निकट का सम्बन्ध बननेवाला है।

•• •• ••

११ फरवरी, १९४२ को तीसरे पहर वनस्थली में मैं बड़ा बेचैन हो उठा। बेचैनी बढ़ती ही जा रही थी, लेकिन कारण समझ में नहीं आ रहा था। रात की गाड़ी से कुछ बच्चियां जयपुर से आनेवाली थीं। मुझे नींद नहीं आई, तो मैंने सोचा, बच्चियों के आने के बाद अर्थात् रात के १ बजे बाद सोऊंगा। जैसे-तैसे एक-डेढ़ घंटे तक पड़ा रहा। ठीक १ बजे उठ बैठा और चल दिया, यह देखने के लिए कि अब तो बच्चियां आ ही रही होंगी। जयपुर स्टेट रेलवे की कृपा से बच्चियां उस रात को २।। बजे पहुंचीं। वे सब-की-सब गुम-सुम थीं, लेकिन इस विचित्रता की ओर मेरा उस समय बिल्कुल ध्यान नहीं गया। चंद्रकला ने मेरे पास आकर पूछा—"आपको काकाजी का कोई पत्र मिला ?" मैंने कहा—"नहीं।" —"आपको और कुछ मालूम है ?" मैंने फिर कह दिया—"नहीं।" लड़की डरती हुई-सी बोली—"काकाजी

की तो बहुत बुरी खबर है।" आगे का वाक्य सुनकर मैं ज्यों-का-त्यों खड़ा रह गया। बाद में तो हम लोग जागते ही रहे।

१९२४ का वह दिन मुझे अच्छी तरह याद है, जब मैं जयपुर के बिड़ला-भवन में पहले-पहल सेठजी से मिला। सेठजी राष्ट्र-सेवा में लग सकनेवाले लोगों की खोज में रहा करते थे और इस प्रकार उन्होंने मुझे भी टटोल लिया था।

मैंने राज की नौकरी छोड़कर देश के काम में लगने का निश्चय कर रखा था। परंतु सेठजी के सहयोग से मेरा यह निश्चय जल्दी अमल में लाया जा सका। मुझे इस बात का जीवन-भर खयाल रहेगा कि सेठजी का अमूल्य सहयोग न मिलता तो न जाने मैं कबतक नौकरी के फंदे में फंसा रहता।

लड़कपन से ही मैंने सोच रखा था कि मैं किसी गांव में रहकर ग्राम-वासियों की सेवा करूंगा। नौकरी छोड़ने के बाद वनस्थली में 'जीवन-कुटीर' की स्थापना होने से पहले मेरे चुनाव करने के लिए एक से अधिक कार्यक्रम आते रहे। 'जीवन-कुटीर' का काम मैंने अपने खुद के आग्रह से और सेठजी की अनुमति के बिना शुरू किया था।

परन्तु सेठजी बहुत बड़े थे। एक बार उनको किसी मित्र से यह पता चल गया कि वनस्थलीवाले विशेष आर्थिक कठिनाई में हैं। इसीपर से सेठजी ने मुझे तार देकर बुलाया और अपने-आप ही सहायता की व्यवस्था कर दी। सेठजी वनस्थली को अपनी निजी चीज मानते थे। १९३६ का बड़ा जलसा उन्हींके सभापतित्व में हुआ।

.. .. ..

न जाने एक के बाद दूसरी कितनी बातें याद आती हैं। वर्धा में बारिश हो रही थी। हम लोग चार-पांच आदमी आजकलवाले नवभारत विद्यालय के बरामदे में टहल रहे थे। बड़ी गरमागरम बहस हो रही थी। सवाल यह था कि मुझे कहांपर कौन से काम में लगना चाहिए? घनश्यामदासजी का एक खयाल था, जमनालालजी का दूसरा, हरिभाऊजी का तीसरा, और मेरा खुद का चौथा, जिससे सीतारामजी सेकसरिया भी सहमत थे। भाईजी

कुछ जोश में आगये थे। आखिर हारकर बोले—"तुम्हारी समझ में बैठे सो करो, लेकिन इस तरह तुम्हें सफलता नहीं मिलेगी।" मैंने अपनी जिद को रखते हुए मजबूती के साथ कहा कि मुझे अवश्य सफलता मिलेगी और न मिलेगी तो आपके पास आ जाऊंगा। मैंने तो वनस्थली में जाकर अपनी कुटिया बना ही डाली। बाद में जिस तरह से भाईजी ने वनस्थली को अपनाया, वैसा और कोई आदमी शायद ही कर सकता था। उनका हृदय विशाल था।

.. .. ..

भाईजी के जरिये एक बार एक संस्था से सिर्फ २४००) की सहायता लेनी थी। भाईजी रुपया दिलवाना नहीं चाहते थे। संस्था की समिति हरिभाऊजी की और मेरी मांग को अस्वीकार कर चुकी थी। यह बात मुझे बहुत अखरी और मैंने नाराज होकर एक लम्बा-चौड़ा पत्र भाईजी को लिखा। न जाने मैंने क्या-क्या लिख मारा होगा। शायद मेरे उस पत्र का भाईजी ने कुछ-न-कुछ जवाब दिया था। उनके पत्र के जवाब में या वैसे ही मैंने एक दूसरा पत्र उनके पास और भेज दिया। नतीजा यह निकला कि हमें वे २४००) मिल गये। भाईजी कई बार कहा करते थे कि जब कोई मुझसे लड़ता है तो मुझे बहुत अच्छा लगता है। किशोरलालभाई ने मुझसे विनोद में जो-कुछ कहा उसका उस समय मैंने यह अर्थ समझा कि मुझ-जैसे 'मुंडचिरों' को बेचारे सेठजी रुपया न दिलावें तो क्या करें? अपने से झगड़नेवालों को प्यार करनेवाले भाईजी एक ही थे।

भाईजी ने अपनी नाप-तोल बना रखी थी। उनकी कसौटी स्पष्ट थी। वे सहज ही किसी बात के लिए 'हां' नहीं कहते थे। जब 'हां' कहते थे तब भी ऐसे ढंग से कहते थे कि सुननेवाला यह नहीं सोच सकता था कि कोई बड़ा फल निकलनेवाला है। लेकिन भाईजी की मामूली-सी 'हां' भी बड़ी ठोस होती थी। मैंने उनसे जयपुर-प्रजामंडल का सभापतित्व मंजूर करने के लिए कहा। उन्होंने कुछ-कुछ 'हां' की। बापूजी से पूछना जरूरी था। हम लोग बम्बई से वर्धा गये और फिर सेवाग्राम पहुंचे। बापूजी भी राजी होगये। तो मैंने अपना सितारा बुलन्द समझा। सेवाग्राम से वर्धा लौटते

हुए मोटर में मैंने कौन जाने क्या-क्या सोचा ! मानों मुझे एक अलभ्य वस्तु मिल गई थी ! जयपुर के मामलों में फिर भाईजी ने जो रस लिया वह भी किससे छिपा है ? उन्होंने अपने जीवन में बड़े-बड़े काम किये थे; लेकिन यह जाने बिना कि जाना कहां है, रातोंरात सैकड़ों मील मोटर में घुमाये जाना, पुलिसवालों के द्वारा जबरदस्ती उठाकर मोटर में डाला जाना, कपड़े फट जाना, खून आ जाना—यह सबकुछ भाईजी के लिए अपनी जन्म-भूमि में होना बदा था।

मेरे खयाल में बड़े-बड़े लोग भाईजी की कुशलता के कायल थे। लेकिन मुझे कभी-कभी वें बड़े भोले मालूम होते थे। कभी तो वे प्रतिपक्षी के सामने इतनी सीधी-सपाट बात कह डालते थे कि मैं सोचता ही रह जाता था कि ये भी कोई राजनीतिज्ञ हुए। मेरी जानकारी में कुशलता और सरलता का भाई-जी एक ही नमूना थे। मैं डरा करता कि उनसे अमुक बात कहूं या नहीं। सोचता कि इनसे कुछ कहा कि ये तो उसीसे कह देंगे, जिसकी बात है। अब मैं विचार करता हूं कि उनकी सरल स्पष्टवादिता के कारण उनके बारे में किसीको वहम हो ही नहीं सकता था।

भाईजी का घर क्या था, एक राष्ट्रीय धर्मशाला थी। उनका सबके साथ बठकर खाने का वह दृश्य देखने ही लायक था। बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे आदमी—पुरुष भी, स्त्रियां भी, हिन्दू भी, मुसलमान भी हरिजन भी—सब एक पंक्ति में। विनोद का वातावरण होता था। मुझे इस बात का गर्व है कि उस मंडली में मैं भी कई बार शामिल होता था। 'जीवन-कुटीर' के टूटे-फूटे गाने गवाये जाते सो सब जयपुर की बोली में। जो न समझते उन्हें भाईजी खुद समझाते। अक्सर मेरी भोजन-भट्टता का नमूना पेश होता। एक ही दो स्थान ऐसे और हैं, जहांपर मैं इतनी खुलावट के साथ भोजन कर सकता हूं, परन्तु वहां इतना बड़ा समाज नहीं जुट पाता। भाई-जी का सबसे प्यार था और न जाने कितने लोग यह समझते होंगे कि उन्हींके साथ उनका सबसे ज्यादा प्यार था। ऐसा लोक-संग्रह करनेवाला दूसरा व्यक्ति मेरे खयाल से हिन्दुस्तानभर में नहीं होगा।

: ३५ :

उदार और सदाशयी

महात्मा भगवानदीन

सेठ जमनालालजी से मेरा पहला परिचय सेठ चिरंजीलाल बड़जात्या की मारफत सन् १९१७ में वर्धा में हुआ था। मुलाकात तो कुछ मिनटों की थी, पर खासी घनिष्ठता होगई।

दूसरी बार सन् १९१९ में मिलना हुआ। ये दिन वे थे जब जलियांवाला बाग-कांड हो चुका था और मेरे नाम मेरी गिरफ्तारी के लिए दिल्ली पुलिस का वारन्ट था। गांधीजी की सलाह के अनुसार मैं दिल्ली पुलिस को अपना प्रोग्राम भेज चुका था। अब बचने-बचाने, छिपने-छिपाने की कोई बात ही न थी। सेठ जमनालालजी और सेठ चिरंजीलालजी दोनों पर यह बात खोल दी गई। इस खबर का कोई असर सेठ जमनालालजी पर नहीं हुआ। मैं पांच-सात रोज वर्धा ठहरा। करीब-करीब रोज ही घंटे-डेढ़घंटे बात होती थी। इन मुलाकातों से हम और भी पास आगये। सन् १९२० में कांग्रेस के अवसर पर मैं नागपुर में सेठजी के ही पास ठहरा। गांधीजी भी उसी बंगले में थे। हम दोनों बहुत पास आगये। सन् १९२१ के जनवरी महीने की पहली तारीख को नागपुर में 'असहयोग-आश्रम' खुल गया। उसकी जिम्मेदारी मेरे सुपुर्द हुई। उसके लिए धन जुटाने का काम सेठ जमनालालजी के सुपुर्द हुआ। 'जुटाने' का अर्थ देना ही समझिए; क्योंकि आश्रम का सारा खर्च सेठजी की दुकान से आता था। मैं कुल पचहत्तर दिन आजाद रह पाया और इन पचहत्तर दिनों में पांच दिन भी ऐसे नहीं मिले कि सेठजी और मैं किसी एक दिन भी पांच घड़ी मिल बैठ सकें। आश्रम का खर्च खूब था। सेठजी की दुकान से रुपया मिलने में कोई दिक्कत नहीं होती थी। मेरे जेल जाने के बाद भी मुझे जेल में खबर मिलती रही कि आश्रम

वालों को कभी कोई दिक्कत नहीं हुई।

सन् १९२२ में मैं जैसे ही जेल से छूटकर आया कि आश्रमवासियों ने पैसों का रोना शुरू कर दिया। मालूम हुआ दो-तीन महीने से वर्धा की दुकान से पैसे मिलने बंद हैं। आश्रम को उन दिनों सेठजी की दुकान से ३००) माहवार मिलते थे—आज के तीनसौ नहीं, सन् १९२२ के तीनसौ। इतनी बड़ी रकम का एकदम बंद हो जाना आश्रम के चलानेवाले १८-२० वर्ष के लड़के कैसे बरदाश्त कर सकते थे? आधे-पेट रह रहे थे। फटे कपड़ों में दिन काट रहे थे। देशभक्ति ही उनका सहारा थी। मेरी वापसी की आशा उनकी राह का मील का पत्थर था। उनकी यह हालत देखकर मेरा तन-बदन फुक उठा। मैं सीधा वर्धा पहुंचा और सेठजी से बुरी तरह भिड़ बैठा। वे जरा भी नहीं गर्माये। ठण्डे-ठण्डे सुनते रहे। मेरे चुप होने के बाद बोले, "आपने आश्रम का हिसाब देखा है? मेरे मुनीम का कहना है कि हजार रुपये की रकम जो आश्रम को भेजी गई थी, वह आश्रम के बही-खाते में जमा नहीं है।" मैं आगे कुछ न बोला। नागपुर वापस चला आया। हिसाब की जांच की। कोई गलती नहीं मिली। एक हजार रुपये की रकम, जो वर्धा की सेठजी की दुकान आश्रम को भेजी बताती थी, वह कभी आश्रम तक नहीं आई थी।

मैं फिर वर्धा पहुंचा और सेठजी को सारी बात समझाई। मैंने उनसे कहा कि आप मुझे अपना बही-खाता देखने दें और अपनी यह तसल्ली करने दें कि आखिर एक हजार की रकम किस तरह आश्रम के नाम डाली गई है। सेठजी ने उसी समय मुनीमजी को हुक्म दे दिया और मैंने कुछ मिनटों में ही मामले को समझ लिया और सेठजी को समझा दिया। उनकी तसल्ली हो गई। उसी वक्त मुझे रुपया मिल गया। फिर वे तीन सौ रुपये माहवार ३१ दिसम्बर सन १९२३ तक बराबर मिलते रहे।

गया-कांग्रेस में कांग्रेस ने एक पलटा खाया। गांधीजी जेल में थे। दो दल बन गये। एक दल कौंसिलों में जाना चाहता था, दूसरा कौंसिलों में जाना ठीक नहीं समझता था। सन् '२३ की कोकनाडा-कांग्रेस तक बड़ी उम्र के और वकील-पेशा सब कौंसिलवादी बन गये। कुछ जोशीले जवान बच रहे, जो

कौंसिलों में जाना पसन्द नहीं करते थे। कौंसिलवालों का दल सत्याग्रह से जी चुराता था। जो कौंसिलवाले नहीं थे वे सत्याग्रह की तरफ इस तरह दौड़ते थे, जिस तरह पतंगा दीपक की ओर। वे कोई मौका हाथ से नहीं खोना चाहते थे। आखिर सन १९२३ में जबलपुर में झण्डा-सत्याग्रह छिड़ गया। वहां सरकार ने दबाया तो वह नागपुर में जा फटा और वहां उसने बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया।

नागपुर का यह हाल था कि प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी कौंसिलवादी प्रधान थी। नागपुर की नगर-कांग्रेस-कमेटी सत्याग्रह-वादियों से भरी हुई थी। नगर-कांग्रेस-कमेटी ने अपने बल पर सत्याग्रह छेड़ दिया। अब कांग्रेस की वर्किंग कमेटी में ज्यादातर ऐसे आदमी थे, जो हर समय से फायदा उठाना चाहते थे। उन्होंने नागपुर के सत्याग्रह को नहीं रोका। एक तरह से मदद ही की। उसको चलाने के लिए पांच आदमियों की जो कमेटी बनी उसमें सेठ जमनालाल बजाज भी थे। खजांची की हैसियत से जमनालालजी आल इण्डिया वर्किंग कमेटी के सदस्य भी थे। मैं उस कमेटी का मेम्बर था। स्वयं-सेवक-विभाग मेरे सुपुर्द था। एक तरह से सत्याग्रह के संचालन का कार्य मेरे हाथ में था। धन इकट्ठा करने की जिम्मेदारी सेठजी पर थी। पर सेठजी थे वर्किंग कमेटी के मेम्बर। अगर वे किसी वजह से उस कमेटी को छोड़कर चल देते तो उनकी जगह किसी दूसरे को लेकर पांच की कमेटी काम चला सकती या नहीं, ऐसा कोई निर्णय देना मुश्किल है।

अब हुआ यह कि पहले ही दिन जो दस स्वयं-सेवकों का जत्था भेजा गया, वह गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरे दिन के लिए सिर्फ तीन स्वयं-सेवक थे और चाहिए थे दस। इस बात का पता मेरे सिवाय कमेटी के किसी मेम्बर को न था। मेरा यह विश्वास था कि सेठजी को इस बात का पता देना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि आल इण्डिया वर्किंग कमेटी, जिसके सेठजी सदस्य थे, उन दिनों सत्याग्रह में इतना पक्का विश्वास नहीं रखती थी, जितना मैं और मेरी नगर-कांग्रेस-कमेटी। मुझे यहांतक डर था कि स्वयं-सेवकों की इस कमी का कहीं यह असर न हो कि सेठजी मेम्बरी

छोड़कर अलग होजायं। अब सवाल यह था कि इस कमी को पूरा कैसे किया जाय ? पूरा करने के लिए कुछ समय की जरूरत थी। उतना समय मिल नहीं सकता था। मैंने सेठजी से अलहदा में सलाह की। उन्हें समझाया कि जब सत्याग्रह शुरू होगया है तो यह महीनों चलेगा। इसलिए ठीक यह रहेगा कि हफ्ते में एक रोज की छुट्टी रखी जाय।

सेठजी राजी होगये, बोले, "इतवार ठीक रहेगा।"

उनका सुझाया इतवार था तीसरे दिन और मुझे फिक्र थी दूसरे दिन यानी कल की। मैं तुरन्त बोला, "सेठजी, इतवार से शनीचर अच्छा। शनीचर का दिन होता भी मनहूस है। इतवार का दिन सरकारी दफ्तरों की छुट्टी का दिन होता है, और हम नहीं चाहते कि हमारा सत्याग्रह सरकारी नौकर न देख सकें। उनके लिए यही दिन बढ़िया दिन होगा। इसलिए इतवार के दिन जरूर सत्याग्रह होना चाहिए। छुट्टी शनीचर की ही रहेगी।

सेठजी ने यह बात मान ली और इतवार के दिन ग्यारह आदमियों का जत्था भेजा गया। शनीचर की कमजोरी का पता किसीको भी न चल पाया। बहुत दिनों बाद जब सेठजी को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने खुले दिल से कहा, "बेशक, अगर वक्त-के-वक्त मुझे पता चल गया होता तो जरूर मुझसे कोई ऐसा काम होगया होता, जिससे सत्याग्रह को धक्का पहुंचता, क्योंकि मैंने वर्किंग कमेटी को यह विश्वास दिला रक्खा था कि हमारे पास सत्याग्रह के लिए स्वयं-सेवकों की कोई कमी नहीं है और न पैसे और काम करनेवालों की।"

झण्डा-सत्याग्रह के बाद सन् १९२३ में सितम्बर के महीने में दिल्ली में स्पेशल कांग्रेस हुई। उस कांग्रेस में सत्याग्रहवादियों का जोर था। दिसम्बर के महीने में देहरादून में यू०पी० कांफ्रेंस हुई। उसमें 'देश-बन्धु' भी शामिल हुए। इसमें कौंसिलवादियों का जोर था। दिल्ली की स्पेशल कांग्रेस के बाद कोकनाडा में कांग्रेस का बाकायदा जलसा हुआ। इसके प्रेसिडेन्ट मौलाना मोहम्मद अली थे। वह कम सत्याग्रहवादी और ज्यादा कौंसिलवादी थे। राजगोपालाचारी भी पूरे-पूरे सत्याग्रहवादी न थे। नतीजा यह हुआ कि

जमनालालजी भी कौंसिलवाद की ओर झुक गये। सत्याग्रह के जन्मदाता और महारथी महात्मा गांधी यरवदा-जेल में थे। सर पर कफन बांधकर गांधीजी को जेल से छुड़ाने की बात वकीलपेशा लोगों को निरी मूर्खता जंची। उन्हें आसान यह ही मालूम हुआ कि वे सरकार के किले में घुसकर यानी कौंसिलों में शामिल होकर ही गांधीजी को छुड़ा सकते हैं।

आखिर कोकनाडा में दासबाबू और भाई मोतीलालजी की जीत हुई। कांग्रेस दो हिस्सों में बंट गई। एक कहलाये परिवर्तनवादी और दूसरे कहलाये अपरिवर्तनवादी। जमनालालजी परिवर्तनवादी थे और मैं था अपरिवर्तनवादी। कोकनाडा-कांग्रेस ३१ दिसम्बर १९२३ को खत्म हुई। उसके दूसरे दिन यानी पहली जनवरी सन् '२४ को कोकनाडा में ही सेठजी ने मुझसे अपना आर्थिक सम्बन्ध तोड़ लिया और अपनी ३००) रु० मासिक की मदद एकदम बंद कर दी।

ये सब होने पर भी उनकी-मेरी आपसी दोस्ती में कोई अन्तर नहीं आया। वे नागपुर आते तो मुझसे जरूर मिलते। मैं वर्धा जाता तो उनसे जरूर मिलता। सत्याग्रहवादियों की सभाएं तक सेठजी के ही मकान पर होतीं। उनकी खातिरदारी में उन्होंने कोई आगा-पीछा नहीं किया। यह कुछ कम मार्के की बात नहीं है। इस तरह का व्यवहार आजकल उठ-सा गया है। राजकाजी मामलों के मतभेदों ने न सेठजी को पागल बनाया, न मुझे। सन्' २४ में गांधीजी जेल से छूट गये। वे जुहू में ठहरे हुए थे। उन्होंने पंडित सुन्दरलालजी, सेठ जमनालालजी और मुझे बुलाकर आपस में फिर आर्थिक सम्बन्ध जुड़वाना चाहा, पर वे असफल रहे। उन्होंने मुझे यह कहकर जुहू से विदा किया कि सेठजी और तुम्हारे बीच में गंगा बहती है, उसका पुल तुम दोनों ही बांध सकते हो, मैं नहीं। चलते-चलते उन्होंने सलाह दी कि राजकाजी मामले बे-पसे नहीं चलते। किसी-न-किसी पैसेवाले को बनाकर रखना ही पड़ता है।

गांधीजी के जेल से छूट आने पर और उनके यह बात मान लेने पर कि कोकनाडा-कांग्रेस में सत्याग्रहवादी पक्ष यानी हमारा पक्ष ही ठीक था,

जमनालालजी और मैं उतने पास न आ पाये, जितने सन्, २३' में थे। इसका एक कारण यह भी रहा होगा कि मैं या हमारा असहयोग-आश्रम या हमारे कुछ साथी कभी-कभी कुछ ऐसे काम शुरू कर देते थे, जिनसे गांधीजी सर्वथा सहमत नहीं होते थे। कभी-कभी विरोधी भी होते थे। जमनालालजी चाहते थे कि मैं और हमारे साथी गांधीजी के हर बात में कट्टर भक्त बनें। मेरे खयाल से यही एक वजह हो सकती है, जिसके कारण वे मेरे पास आते और मुझसे दूर हो जाते थे। मिसाल के लिए सेठ पूनमचन्दजी की बुलाई हुई 'नागपुर विभाग राजकीय परिषद्' ही लीजिए, जिसके श्री सम्पूर्णानन्दजी सभापति थे। इस परिषद् के बारे में तो सेठजी की शिकायत पर गांधीजी ने खुद मुझसे पूछा था कि नागपुर में यह कांग्रेस के खिलाफ क्या हो रहा है ? और ताना देकर यह भी कहा, "तुम महात्मा बने फिरते हो ! यह अपने यहां क्या करा रहे हो ?"

मैंने जवाब में कहा, "नागपुर में कांग्रेस के खिलाफ कुछ नहीं होने का। जिस किसीने आपको खबर दी है, गलत खबर दी है।"

गांधीजी की तसल्ली होगई और परिषद् में वैसी कोई बात भी नहीं हुई। होनहार, गांधीजी से जब यह बात हो रही थी, उसी समय सेठजी वहां आ पहुंचे। गांधीजी हँसते हुए बोल उठे, "जमनालाल ने ही तो मुझसे कहा था।"

जमनालालजी भी हँस दिये। मेरे असहयोग-आश्रम के मेम्बर जनरल आवारी का उठाया हुआ 'तलवार-सत्याग्रह' भी ऐसा ही सत्याग्रह था, जिसे गांधीजी पसंद नहीं करते थे। उस सत्याग्रह के खिलाफ तो गांधीजी ने 'यंग इण्डिया' में नोट भी निकाला था।

बस, ऐसी ही कुछ बातें थीं, जिनके कारण सेठजी मेरे बहुत पास नहीं आ सकते थे और आर्थिक मदद तो कर ही नहीं सकते थे। सेठजी को मुझसे व्यक्तिगत कोई शिकायत न थी। शिकायत तो दूर उल्टे, मुझसे मोह था। इसलिए उनके कुटुम्ब-भर को मुझसे मोह था, और फिर मुझे उनसे मोह था और वह आजतक बना हुआ है। एक दिन सेठजी मेरे आश्रम में आये, मुझसे पूछा, "अब आपका काम कैसा चलता है ?"

मैंने कहा, "खासा चलता है। जब आपके तीन सौ मिल जाते थे तो परिश्रम नहीं करना पड़ता था और चिकनी-चुपड़ी मिल जाती थी। अब थोड़ा परिश्रम करना पड़ता है और रुखी-सूखी मिल जाती है ।"

वे बोले, "रुखी-सूखी भी तो बे-पैसे नहीं मिलती।"

मैं बोला, "नागपुर में ऐसे दातार हैं और इतने देशभक्त भी हैं, जिनसे काम चल जाता है।"

सुनकर वे चुप होगये, पर वहीं पड़ी हुई मेरी पासबुक उनके हाथ पड़ गई। उसे उठाकर देखने लगे। उसमें जमा थे कुल २०) रु० और ये रुपये भी उन्नीस-बीस बरस पुराने थे। उस किताब में न कभी एक पैसा जमा हुआ था और न निकाला गया था। उन्होंने वह किताब चुपचाप रख दी। थोड़ी देर और बैठे और चल दिये।

छठे-सातवें रोज सेठजी की दुकान से २५) रुपये का एक मनीआर्डर आ टपका। मैंने कबूल कर लिया। दो-एक महीने बाद यह रकम कुछ और बढ़ गई और दिसम्बर सन्' ३६ तक मुझे बराबर मिलती रही। असहयोग-आश्रम सन्' ३२ में ही खतम होगया। ये ही सब हैं मेरे उनके प्रति संस्मरण।

●

जमनालालजी के लिए यह कहा जाना सच है कि वह देश की उन्नति के लिए जिये और उनका एक भी काम ऐसा नहीं था, जो देशसेवा के लिए न हो। अपने प्रारंभिक जीवन से ही वह महात्मा गांधी के सच्चे अनुयायी मित्र व उनकी प्रवृत्तियों के समर्थक बन गये थे। अपने जीवन को ही उन्होंने इस पवित्र उद्देश्य के लिए समर्पित कर दिया था। उन्होंने अपने घर को प्रत्येक सार्वजनिक कार्य और कार्यकर्त्ता का तथा सेवाग्राम को गांधीजी का ही नहीं गांधी-आंदोलन से सम्बद्ध कई संस्थाओं का घर बना दिया था। उन्होंने ग्रामोद्योग-संघ, चर्खा-संघ, बुनियादी तालीम योजना को, जो महात्मा गांधी के जीवन, कार्य और विचारों के मूर्त स्वरूप थे, जन्म दिया था।

वे सदात्मा थे। स्वभाव से वे अत्यन्त प्रसन्नमुख थे और त्याग में तो देश के सार्वजनिक जीवन में वे अद्वितीय ही थे। —**भूलाभाई देसाई**

: ३६ :

सच्चे मित्र

रामनरेश त्रिपाठी

जमनालालजी की मूर्ति पंचतत्त्वों ने मिलकर निर्माण की थी, वह समय पूरा होने के पहले ही फिर उन्हीं पंचतत्त्वों में अदृश्य होगई। अब वे फिर कभी आंखों के आगे नहीं आ सकेंगे। मुस्कराहट के साथ मित्रों का स्वागत करने के लिए आगे बढ़ते हुए अब वे फिर नहीं दिखाई पड़ सकेंगे। प्रेम से भरे हुए व्यंग्य और नुकीले तानों से हृदय को गुदगुदानेवाली उनकी सरस वाणी अब फिर सुनने को नहीं मिलेगी। संयम, सेवाभाव, दानशीलता और सदा ऊंचे उठने की प्रवृत्ति आदि गुण जो उनके दैनिक जीवन में जगमगाते रहते थे, अब उनकी झलक नहीं दिखाई पड़ेगी। संसार में जन्म और मृत्यु की घटना सदा से होती आ रही है; पर मनुष्य आजतक स्वाभाविक वस्तु को अस्वाभाविक ही समझता रहा है और रहेगा भी, बल्कि अस्वाभाविकता उसके लिए अधिक स्वाभाविक होगई है।

जमनालालजी चले गये, हम सबको भी कभी-न-कभी जाना ही होगा; पर जाने के लिए अपनी इच्छा से हममें से कोई भी तैयार नहीं है। हम जमनालालजी को भी जाने देना नहीं चाहते थे। यह प्रवृत्ति ही हमारी वेदना का मूल कारण है।

जमनालालजी से मेरा पहला साक्षात्कार सन् १९१० या ११ में फतहपुर (सीकर) में हुआ था। उनके गुणों और उनकी ख्याति का परिचय देकर बजरंगलालजी लोहिया मुझे उनसे मिलाने को ले गये थे। मेरी-उनकी पहली मुलाकात सेठ रामगोपालजी गनेड़ीवाला के नौरे में हुई थी, जहां वे ठहरे हुए थे। मैं उन दिनों संग्रहणी रोग से पीड़ित होकर स्वास्थ्य सुधार के लिए फतहपुर (शेखावाटी) गया हुआ था।

उस समय जमनालालजी की अवस्था बाईस-तेईस वर्ष की रही होगी। उनकी मुखाकृति सुन्दर और आकर्षक थी। युवावस्था के सौंदर्य के साथ उनके संयमी जीवन की चमक भी उनके चेहरे पर थी।

हम लोग आधे घंटे तक बातें करते रहे। मारवाड़ी-समाज में फैले हुए अज्ञान, कुरीतियों, अपव्यय और अशिक्षा आदि की बातें उन्होंने मुझे बताईं और फिर मुझे उत्साहित किया कि मैं उनके दूर करने में उनकी कुछ सहायता करूं। तबसे उनके साथ मेरी निकटता उत्तरोत्तर बढ़ती गई और हम दोनों एक-दूसरे को मित्र समझने लगे। मृत्यु के कुछ ही महीने पहले तक हमारा एक-दूसरे से समय-समय पर मिलना और पत्र-व्यवहार होता रहा।

जमनालालजी स्वभाव के बहुत ही मधुर और बड़े ही विनोदी थे। गांधीजी के सम्पर्क में आ जाने के बाद से तो वे अपने वचन और कर्म में सत्य के स्वरूप को अधिक-से-अधिक स्पष्ट रखने की सावधानी रखने लगे थे।

उनके बहुत-से सुखद संस्मरण हैं, जो मेरे जीवन-संगी हैं। किसको लिखूं, किसको न लिखूं। पंद्रह-बीस वर्ष पहले मैंने उनका जीवन-चरित लिखा था। उसमें उनके उस समय तक के जीवन की खास-खास बातें आगई थीं। पर उसके बाद का उनका जीवन तो बहुत ही व्यापक और महत्वपूर्ण होगया था, जो अभी तक लिखा नहीं गया था। बीच में मैंने उसे पूरा करने की बात चलाई थी, पर उन्होंने रोक दिया था। यहां कुछ संस्मरण देता हूं, जिनसे उनके व्यक्तित्व का कुछ परिचय पाठकों को मिलेगा।

सन् १९१४ या १५ में मैं बंबई गया, तब उन्हींके पास ठहरा। सबेरे दस बजे के लगभग उनके नौकर ने आकर सूचना दी कि रसोई तैयार है। जमनालालजी ने मेरी ओर इशारा किया कि चलो, जीमें।

रसोई-घर की ओर जाते हुए वे तो लघुशंका करने चले गये और मैं हाथ-पैर धोकर चौके में गया। चौके में एक आसन के सामने चांदी की थाली, चांदी का लोटा-गिलास और चांदी की कटोरियां रक्खी थीं। नौकर ने उसीपर बैठने के लिए मुझे संकेत किया। बैठ जाने पर मैंने देखा कि बगलवाले आसन पर मुरादाबादी कलई की थाली, कटोरियां और गिलास रक्खे हैं।

मैं सोचने लगा कि बैठने में मुझसे भूल हुई है। चांदी के बर्तन तो सेठजी के लिए होंगे। इच्छा हुई कि आसन बदल लूं। पर यह सोचकर कि नौकर ने जहां बैठाया, वहां मैं बैठ गया, भूल हुई होगी तो उसकी जिम्मेदारी नौकर पर है, नौकर और मालिक निपट लेंगे, मैं बैठा ही रहा। सेठजी आये और बगलवाले आसन पर बैठ गये। भोजन परोसा गया। मेरे बर्तनों में कई तरह के स्वादिष्ट पदार्थ परोसे गये और उनके बर्तनों में बाजरा, मक्का और ऐसे ही एक और किसी अन्न की रोटियां, दही और बिना मिर्च के एक या दो शाक परोसे गये।

खाते-खाते मैंने अपनी शंका मिटाने के लिए कहा—चांदी के बरतनों में बाजरे की रोटी शोभा नहीं देती होगी।

कुशाग्र बुद्धि जमनालालजी ने तत्काल हँसकर उत्तर दिया—"तुमको भी पीतल की ही थाली मिलेगी। आज अतिथि हो, कल घर के हो जाओगे।" इसमें उनकी कितनी आत्मीयता प्रकट होती है। उनके उत्तर पर मैं तो मुग्ध होगया।

अगले दिन सचमुच वैसे ही कलई के बरतन मेरे सामने भी रक्खे गये, पर खाने के पदार्थों में अंतर बना ही रहा। वे रूखा-सूखा आहार क्यों लेते गये? मैंने पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया—"अभ्यास डालता हूं। कभी पास में पैसा न रहा तो गरीबी अखरेगी तो नहीं।"

जमनालालजी से जब मैं पहली बार मिला था, तब उनका शरीर बहुत ही मोटा था। उनकी तोंद धोती की सुर्री के बाहर चार-पांच अंगुल से ज्यादा लटकी हुई थी। लगातार उपवास करके, चरबी बढ़ानेवाली चीजों का परित्याग करके उन्होंने बाद में अपना शरीर सुडौल बना लिया था। खान-पान के प्रयोग उनके बहुत चलते रहते थे। मैं बम्बई अक्सर जाता रहता था। कभी वे चीनी छोड़े हुए मिलते, कभी घी। चने की दाल उन्हें बहुत पसंद थी, उसमें आसक्ति न होजाय, इस खयाल से एक बार उन्होंने उसे भी छोड़ रक्खा था।

जब कभी वे इलाहाबाद आते, समय निकालकर एक बार मेरे घर पर

भोजन करने जरूर आते। उनके इलाहाबाद आने का समाचार पाकर मैं प्राय: उनसे मिल आया करता था। उसी समय वे अपने आने का समय बता देते थे और मैं उनकी रुचि का सादा भोजन तैयार करा रखता था, भोजन में चने की दाल जरूर रखता। एक बार जब वे इलाहाबाद आये, मैं कहीं बाहर था। उनसे मिलने नहीं गया। पर वे तो अपने नियम को नहीं भूले। मेरी अनुपस्थिति में मेरे घर पर अचानक आये और उन्होंने नौकर से कहा—"कुछ खाने को हो तो लाओ।" खाना तैयार नहीं था। सड़क पर मक्के के भुट्टे बिक रहे थे। चार भुट्टे मंगवाये और भुनवाकर खाकर तब गये। इलाहाबाद से उनके चले जाने के बाद मैं आया तो यह किस्सा सुना। दूसरी बार जब मुलाकात हुई तो तब मिलते ही उन्होंने कहा—"तुम्हारी गैरहाजिरी में मैं तुम्हारे घर हो आया हूं और भुट्टे खा आया हूं।" उनका अकृत्रिम स्नेह, सरलता और सादगी देखकर मैं तो अवाक् रह गया। धनी होने का अभिमान तो उनको छू ही नहीं गया था।

कुछ दिनों तक उनके साथ रहने का अंतिम मौका मुझे भुवाली में मिला था। मैं नैनीताल गया था, वहां सुना कि सेठजी भुवाली में ठहरे हुए हैं। मैं एक दिन उनसे मिलने गया। वहां डाक्टर कैलासनाथ काटजू भी उनके पास ठहरे हुए थे। खाना खाते वक्त सेठजी ने कहा—"हमारी तुम्हारी मित्रता के पच्चीस वर्ष पूरे होगये।"

मैंने कहा—"आइए, रजत-जयंती मनाएं।"

उन्होंने कहा—"चलो, पहाड़ की पैदल सैर करें।"

अगले दिन बड़े सवेरे सेठजी, मैं, डाक्टर काटजू, श्रीमती जानकीदेवी और सेठजी की एक कन्या—याद नहीं मदालसा थी या ओम्—और डाक्टर सुशीला नैय्यर पैदल सैर को निकले। बिस्तरे और खाने-पीने का कुछ सामान कुलियों को सौंपकर और उनके साथ डाक्टर काटजू का एक नौकर करके हम लोग रामनगर की राह लगे। यह तय हुआ था कि हम लोग, जबतक किसी खास कारण से विवश न हों, तबतक पैदल ही चलेंगे।

मुझे चलने का अभ्यास कम था और पहाड़ी रास्ते का तो बिल्कुल ही

नहीं था। इससे मैं थक जाता था, पर थोड़ा सुस्ता लेने पर फिर ताजा हो जाता था। हम लोग तीन टोलियों में बंट गये थे। मेरा और डाक्टर काटजू का साथ था। डाक्टर काटजू बहुत तेज चलते हैं। मेरी थकावट का एक कारण यह भी था। सेठजी धीरे-धीरे चलते थे, पर बैठते कहीं नहीं थे। हम कहीं बैठकर दम लेने लगते, इतने में वे आ खड़े होते और कहते—"पहाड़ी रास्ते पर चलने का अभ्यास बढ़ाइए।"

स्त्रियां ज्यादा थक जाती थीं, पर बोलती नहीं थीं। हम लोग दिनभर चलते, शाम को कभी-कभी दस बजे रात तक किसी डाकबंगले में पहुंचते। वहां कुली और डाक्टर काटजू का नौकर पहले ही पहुंचकर खाने-पीने और सोने की व्यवस्था कर रखते थे।

तीसरे दिन की मंजिल जरा कड़ी थी। मकतेसर तक पहुंचते-पहुंचते तो मैं सचमुच अधमरा होगया था। डाकखाने के पक्के बरामदे में मैं तो जाकर फर्श पर बेहोश पड़ गया। लेटते-लेटते मैंने डाक्टर काटजू से कहा कि वे पड़ाव पर चले जायं, मैं कल आऊंगा। पर डाक्टर काटजू मुझे राह में अकेला छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। वे डाकखाने में बैठकर चिट्ठियां लिखने लगे।

इतने में सेठजी भी आगये। तबतक मैं कुछ स्वस्थ हो चुका था। हम लोग मकतेसर का हस्पताल देखने गये। वहां एक डाक्टर ने हमें चाय का निमंत्रण दिया। उस दिन की वह चाय मुझे कितनी प्यारी लगी, उसकी कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। चाय पीकर हम लोग अगले पड़ाव पर गये और रात में लगभग दस बजे पहुंचे। रास्ता जंगल के बीच से होकर गया था और रात भी अंधेरी थी। इससे भटक जाने की संभावना हरएक के सिर पर थी। इसका इलाज सेठजी के सुझाने से हम लोग यह करते थे कि पिछड़े हुए साथी को रास्ता बताने के लिए पूरे जोर से 'ओम्' की आवाज लगाते थे। उसे सुनकर पिछड़े हुए साथी को भी पूरे जोर से 'ओम्' का उच्चारण करके अपना पता देना पड़ता था।

सेठजी के पहुंच जाने पर तो पार्टी का हरएक सदस्य थकान भूल

जाता था। सेठजी हरएक के स्वभाव से परिचित-जैसे थे, यह उनमें विलक्षण गुण था। हरएक से उसीकी रुचि से मिलती हुई बात करके वे उसका मन-मोह लेते थे।

हम लोगों ने छः-सात दिनों में सत्तास्सी मील का सफर हँसते-बोलते बड़ी आसानी से पूरा कर लिया। रास्ते में एकबार मुझे थका देखकर श्रीमती जानकीदेवीजी ने कहा—"पंडिनजी बापड़ा तो थक गेया।" सेठजी की दृष्टि मुझपर गई। हँसकर कहने लगे—"थक गये हो तो घोड़ा ले लो।" मैंने कहा—"स्त्रियां पैदल चलें और मैं पुरुष होकर घोड़े पर चलूं!" पर दुःख-कातर सेठजी ने कहा—"उनके लिए भी घोड़े ले लो।" कई घोड़े ले लिये गए और थके हुए लोग उनपर सवार होकर साथ चले। पड़ाव पर पहुंच-कर घोड़े छोड़ दिये गए। पर उस दिन के बाद तो मैं श्रीमती जानकीदेवी का शिकार बन गया। मैं थका भी न रहूं तो भी वे प्रायः कह दिया करती थीं—"पंडितजी बापड़ा तो थक गेया।" और सेठजी उसी वक्त घोड़े मंगा देते थे। मैं समझ जाता था कि श्रीमतीजी थक गई हैं और चुपचाप अपने को थका हुआ स्वीकार कर लेता था। जब-जब वे मेरी थकावट की घोषणा करती थीं, तब-तब मुझे बड़ा आनंद आता था।

जमनालालजी का चरित्र बहुत शुद्ध था। यद्यपि वे शरीर से जैसे सुन्दर थे, उनकी धर्मपत्नी वैसी सुन्दर नहीं थी, पर दोनों के हृदय एक से बढ़कर एक सुन्दर थे, इससे दोनों में दाम्पत्य का आदर्श प्रेम था। सादा जीवन जैसा सेठजी को प्रिय था, वैसा ही जानकीदेवीजी को भी। एक बार वे अपनी एक कन्या के साथ बिहार का दौरा करके प्रयाग आईं और मेरे पास ठहरीं। मैंने उनको जीमने के लिए कहा तो वे अपना झोला लेकर रसोईघर में गई और उसमें से दो मोटी-मोटी रोटियां निकालकर कहने लगीं—मेरे पास तो मेरा खाना तैयार है। मैंने कहा—"मेरे यहां तो आपको मेरा ही खाना खाना होगा।" उन्होंने कहा—"रोटियां मैं खराब नहीं करूंगी।" फिर इस शर्त पर वे मेरे घर की ताजी रोटियां खाने को राजी हुईं कि उनकी रोटियां मेरे नौकर खा लें।

बिहार के दौरे में वे खाने-पीने में अधिक समय नहीं देती थीं। कई बार के लिए एक साथ ही रोटियां पकाकर झोले में रख लेती थीं और समय पर अचार, गुड़ या आसानी से बन सकी तो तरकारी बनाकर, उससे खा लिया करती थीं। सेठजी उस समय जेल में थे। जानकीदेवीजी इस तरह तपस्या करती हुई उनके मार्ग का अनुसरण कर रही थीं।

मेरे साथ जमनालालजी का अकृत्रिम प्रेम-भाव, आदि से अन्त तक एकरस रहा। एक बार मई १९२६ में बम्बई में हम लोग मिले थे। तब किसी बात में कुछ गलतफहमी होगई थी। प्रयाग आकर मैंने जमनालालजी को एक पत्र में अपने मन का संदेह लिख भेजा। उसके उत्तर में उन्होंने लिखा—

"आपका मेरा निर्मल प्रेम-सम्बन्ध जैसा रहता आया है, वैसा भविष्य में रहना बहुत संभव है, क्योंकि हम दोनों का परस्पर का संबंध कोई व्यक्तिगत लाभ को लेकर नहीं हुआ है, यह हम दोनों बराबर जानते हैं; फिर गैर-समझ कैसे हो सकती है। आपके मन में कुछ विचार आया हो तो बिल्कुल निकाल देवें। मन को आनन्द और उत्साह से भरा रखें। कवि होने का यही एक गुण और धर्म है कि सदा आनन्द में मस्त रहें, नहीं तो कवि होने से आत्मा को क्या लाभ ?"

एक बार की घटना तो बहुत ही मनोरंजक है। बम्बई के एक युवक से, जो मेरे मित्र हैं, एक बार अपनी स्त्री का इलाज कराने बनारस आये। मैं प्रयाग से उनसे मिलने गया और पांच-सात दिन उनके पास ठहरा रहा। अन्तिम दिन मैं विदा होने लगा तो उन्होंने पूछा—"आजकल क्या चिन्ता चल रही है।" मैंने कहा—"एक प्रेस खोलने की चिन्ता में हूं, पर प्रेस में सब रुपये एक साथ लगाने पड़ते हैं, जिनका संग्रह होना कठिन है। उस समय मेरे मन में जरा-सी भी यह वासना नहीं थी कि मेरी आवश्यकता सुनकर वे मुझे कुछ सहायता देने का विचार करें, पर हुआ ऐसा ही। बनारस से लौटकर मैं किसी काम से कलकत्ते चला गया। वहां हिन्दी-मन्दिर से एक पत्र पहुंचा, जिसके साथ मेरे उक्त मित्र का भी पत्र था। पत्र के साथ चार हजार

रुपये का इलाहाबाद बैंक के नाम एक ड्राफ्ट था और पत्र में लिखा था कि प्रेस के लिए एक मशीन इन पयों से खरीद ली जाय और सौ रुपये महीने के हिसाब से रुपया पटा दिया जाय। पये का ब्याज नहीं लिया जायगा। मित्र ने सौ रुपये महीने की शर्त इसलिए लगाई थी कि जिससे शर्त को पूरा करने के लिए मैं अधिक तन्मयता से काम करूं और प्रेस चल निकले। यह बात भी पत्र में लिखी थी।

प्रेस खोल लेने के बाद मैं प्रतिमास सौ रुपये नियम से भेजने लगा और पैंतीस महीने तक लगातार भेजता रहा। प्रेस की आर्थिक दशा अच्छी हो चली थी और मैं सोचने लगा था कि पांच सौ रुपये और देने हैं, सो किसी दिन एक साथ ही भेज दूंगा। इस सोच-विचार में दो-ढाई महीने बीत गये। इस बीच मैं वर्धा गया हुआ था और सेठजी के पास ठहरा हुआ था। शाम को एक सज्जन कार में बैठकर सेठजी से मिलने आये। सेठजी गद्दी में थे और मैं बगल के कमरे में था। उक्त सज्जन जब मिलकर जाने लगे तो मैंने उनकी झलक देखी। मुझे भ्रम हुआ कि वह मेरे बंबईवाले मित्र थे।

इसके बाद ही सेठजी उस कमरे में आये, जिसमें मैं था। मैंने पूछा—"आपसे मिलने कौन आया था ?" सेठजी ने बताया और फिर पूछा—"क्या इनको जानते हो ?"

मैंने 'जानता हूं' कहकर यह बात भी बताई कि किस तरह पोद्दारजी ने प्रेस के लिए रुपये भेजे थे और शर्त का पालन मैंने कहांतक किया था।

सेठजी सुनकर चुप रहे। हम लोग रसोई-घर की तरफ गये। वहां बरामदे में उनके मुनीमजी मिले। सेठजी ने उनसे कहा—"पांचसौ रुपये रामनरेशजी के नाम लिखकर अभी उन मित्र को भिजवा दो, वह रात में बम्बई चले जायंगे। रामनरेशजी इलाहाबाद जाकर रुपये भेज देंगे।"

मुनीमजी चले गये। फिर सेठजी मेरी ओर देखकर यह कहते हुए कि 'छोटे वादे को भी दृढ़ता के साथ पूरा करना चाहिए' रसोई-घर में गये।

सेठजी ने एक सच्चे मित्र का काम किया। मुझसे जो नैतिक भूल हो रही थी, उसे उन्होंने सम्हाल लिया।

: ३७ :

राम-अवतार

रहाना तैयब

पू० श्री जमनालालभाई से मैं सबसे पहले एक मित्र के रूप में बहुत साल पहले बड़ौदा में मिली थी। वह और श्री जानकी माताजी मुकर्रम बाबाजान और अम्माजान से मिलने आये थे। उसी वक्त मुझपर यह असर हुआ कि जमनालालभाई और माताजी मेरे लिए जरा भी अपरिचित नहीं हैं; बल्कि पुराने खान्दानी दोस्त हैं। यही उनके सादे, सच्चे और प्रेमल स्वभाव का महिमा थी। उस वक्त उन्होंने महिला-आश्रम की बात की और कहा, "एक बार हम तुम्हें जरूर वर्धा ले जायंगे। वहीं बिठा देंगे।"

बरस बीत गये। कभी-कभी जुहू पर, या मुसाफिरी करते, या किसी खास मौके पर उनके दर्शन हो जाते थे। ज़ाती परिचय, मगर, सन् '४० में पूना में हुआ, जब वह और मदालसाबहन बीमार होकर डा. मेहता के 'नेचर क्योर क्लिनिक' में इलाज के लिए रहे थे। उस वक्त उनके गाढ़ भजन-प्रेम का, उनकी गुप्त, मगर गहरी आध्यात्मिक रुचि का मुझे बड़ा सुन्दर अनुभव हुआ। मेरी कितनी खुशकिस्मती थी कि उनको भजन रोज सुनाने का शरफ (इज्जत) मुझे प्राप्त हुआ। उस वक्त अम्माजान बहुत बीमार रहती थीं। पू० बाबाजान तो सन् '३६ में ही जा चुके थे। जमनालालभाई ने मेरी भावी तनहाई का खयालकर मुझको अपना लिया। वे जानते थे कि मेरा कुटुम्ब बहुत प्रेमल होते हुए भी मुझको संपूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं कर सकेगा, क्योंकि मुझे अपनी स्वतंत्र जिंदगी बनाने की ख्वाहिश थी। उन्होंने मुझसे कहा—(मुझे उनके शब्द बराबर याद हैं) "रेहानाबहन, तुम्हारे बाबाजान और अम्माजान के लिए हमको हमेशा बड़ा प्रेम, बड़ा आदर रहा है। बाबाजान की व अम्माजान की हम कोई सेवा नहीं कर सके। तुम्हारे लिए जो

कुछ भी करें, अम्माजान व बाबाजान की सेवा ही समझकर करेंगे। तुम बिल्कुल डरो नहीं। कोई चिंता न करो। तुम मेरी छोटी बहन हो, मुझको अपना बड़ा भाई मान लो, हम तुम्हारा सब देख लेंगे।"

मेरे बारे में उनका हरएक कौल अल्लाह ने पूरा किया। वे मुझे वर्धा खींच ही लाये। मेरेलिए हजार तकलीफें गवारा करके मुझको यहां बसा देने में हर तरह से मदद की। पू० काकासाहब, जमनालालभाई और उनका परिवार वर्धा में मेरा बना-बनाया कुटुम्ब बन गया।

जब पहली बार वह मुझको वर्धा लाये तो मुझे अपने यहां ही रक्खा। मेरी तबीयत खराब थी। मेरे साथ एक बूढ़ी बाई (नौकरानी) भी थी, जो मेरी खबर रखती थी। जमनालालभाई ने मुझसे और उससे कुछ इस तरह का बर्ताव किया कि बड़ौदा में उनके देहत्याग का समाचार सुना तो वह बिलख-बिलखकर रोई, गोया उसके अपने खान्दान के बुजुर्ग आंखों से अदृश्य हुए हैं। उन्होंने उसे कभी महसूस न होने दिया कि वह नौकरानी है और रात-दिन मेरी ऐसी खबर रखते रहे कि अभी उसने मुझसे रोकर कहा, "साहब, आपके तो सहारा गये हैं, जो पिता-जैसे ही थे।" उनके घर में रहकर मेरी बूढ़ी सूरज और मैं इस बात से बेहद प्रभावित हुए कि पू० जमनालालभाई घर के मालिक होते हुए भी नौकरों-चाकरों पर बराबर अपनी धाक जमाते हुए संसार के, व्यवहार के, सब नियम और शिष्टाचार संपूर्णतया पालते और पलवाते हुए अमीरों और गरीबों में फर्क नहीं करते थे।

एक सुबह जमनालालभाई सरोजबहन को व मुझे श्री लक्ष्मीनारायण का मन्दिर दिखाने ले गये। उनकी ख्वाहिश थी कि मैं बहुत बार जब जी चाहे तब वहां बैठकर भजन गाऊं। वह जगह सचमुच है भी ऐसी ही। ज्योंही हम मोटर से उतरे, हमारे कानों में तम्बूरे के तारों की सुरीली तान पड़ी—एक बहुत ही मधुर आसावरी राग की तान। अन्दर गये तो देखा कि एक वृद्ध सूरदास भक्त आवेश में आकर श्री लक्ष्मीनारायण की मूर्त्ति के सामने भजन गा रहे हैं। हम (सरोजबहन व मैं) उनके पास बैठ गईं। उनके भावावेश में हम भी गर्क हो गईं। जमनालालभाई कुछ काम पूरा करके वहां आगये।

सूरदासजी का भजन खत्म हुआ तो जमनालालभाई ने कुछ अजब आदर और वात्सल्य-भाव से पूछा—"क्योंजी, कैसा चलता है, सब ठीक तो है न ? कोई तकलीफ तो नहीं है न ?" सूरदासजी ने उल्लास से जवाब दिया, "आपकी कृपा से बड़ा आनन्द है ! सुबह उठते हैं, कोई हमें अखबार सुना देता है, यहां आकर भगवान् के सामने भजन गाते हैं। हमारी सब आशाएं आपकी दया से पूर्ण होती हैं। बड़ा ही आनन्द है।" जमनालालभाई बोले "हां-हां, अच्छा—अच्छा"। और हमें वहां से ले चले। मगर उस घटना का असर हमारे दिल में गहरा जम गया। जमनालालभाई देश के लिए जो अनेक महान् कार्य करते रहे, वे तो जग-प्रसिद्ध हैं। मगर इन अंधे सूरदासजी और शायद उनके जैसे हजारों बेबस और अनाथ गरीबों की अंधेरी जिंदगी में उनके प्रेम, सहानुभूति और आकिल (दया) ने कितनी रोशनी फैलाई होगी, वह कौन जान सकता है, सिवा अल्लाह के !

एक और भी इस किस्म की घटना यहां देती हूं।

आश्रम का तांगेवाला रामाधीन एक रोज मुझसे अपनी रामकहानी कहने लगा। उसने कहा कि किस तरह घोड़ा-गाड़ी का त्याग करके मोटर इख्तियार कर लेने पर जमनालालभाई ने उसे इस तांगे के काम पर लगा दिया। फिर जोश में आकर बोला, "बहनजी ! सेठजी हमारे लिए तो भगवान् हैं। हमने भगवान् को कहां देखा है ? हमारे लिए तो बस, यही भगवान हैं, यही मालिक हैं। हम और किसीको नहीं जानते।" फिर आंखों में आंसू लाकर गद्गद् हो कहने लगा—"सेठजी जेल जा रहे थे। स्टेशन पर बड़े-बड़े लोगों की भीड़ जमा थी। हम दूर पीछे खड़े देख रहे थे। उस गड़बड़ की घड़ी में भी सेठजी ने हमारी तरफ मुस्कराकर हमें आश्वासन दिया। इतने बड़े आदमी, जाने की घड़ी और इतनी गड़बड़, मगर उस वक्त भी हमारे सरकार हमको नहीं भूले ! बहनजी ! हमारे लिए तो वे राम-अवतार ही हैं, और कोई माने या न माने।"

जिस बूढ़े ने उमरभर उनकी चाकरी की, उसकी दिल की गहराई से दी हुई इस सनद के सामने कौन-सी सनद या बिसात रख सकती है ?

: ३८ :

साधन और साधनावान

वल्लभस्वामी

जमनालालजी और मेरा प्रथम संबंध, जब हम एक-दूसरे को नहीं पहचानते थे, तभी आया था। बात ऐसी है कि जब मैं शायद छः साल का बच्चा था तब सूरत से करीब दस मील दूरी के डुम्मस गांव की पाठशाला में पढ़ता था। डुम्मस से करीब दो मील की दूरी पर समुद्र-किनारे का भीमपोर नामक गांव हवा खाने का स्थान माना जाता है और अक्सर बंबई के कई श्रीमान लोग गर्मियों में वहां आते रहते है। जमनालालजी भी वहां आते थे। एक दिन उनकी मोटर हमारे स्कूल के पास ठहरी। वे उतरकर हेडमास्टर के पास गये और उन्होंने पाठशाला के सभी बच्चों को अपने यहां भोजन का निमंत्रण दिया। बच्चों में मैं भी था। जब कई सालों के बाद मैं वर्धा-आश्रम में विनोबाजी के साथ पहुंचा तो उन्होंने मेरी जानकारी प्राप्त करने के बाद विनोबाजी से कहा कि वल्लभ का और मेरा संबंध आपसे भी पुराना है और वल्लभ को मैंने आपको दिया है।

... ...

१९२० में नागपुर-कांग्रेस के बाद वर्धा मे आश्रम की स्थापना हुई। लेकिन जमनालालजी का कार्य मुख्यतया राजनैतिक क्षेत्र में रहा, विनोबाजी का मुख्यतया आश्रम का और ग्रामसेवा का। इसलिए हम बच्चों से जमनालालजी का बहुत कम संबंध आता। जब कभी वे आश्रम में आते हमारे साथ अनाज चुगने आदि कामों में शरीक होते और अक्सर पीसने को भी बैठते। विनोबाजी से धर्म-कर्म चर्चा तो अवश्य ही होती। १९२८-२९ के बारडोली-सत्याग्रह के समय वे कुछ दिनों के लिए अपने साथ मुझे ले गये। छोटी-मोटी बातों में भी वे मुझे सिखलाते थे। एक स्थान पर हम गये।

वहां कोई परिषद थी। वहां जाने पर मैंने कपड़े धोने के लिए वहां के लोगों से साबुन मांगा, क्योंकि आश्रम में हमें आदत थी कि अपने पास हम कोई संग्रह नहीं रखते थे। जब कोई जरूरत होती तो आश्रम के व्यवस्थापक से मांग लेते थे। जमनालालजी ने मुझे बाद में समझाया कि हमको साबुन अपने पास रखना चाहिए। जहां जाते हैं, वहां से नहीं मांगना चाहिए।

१९३९ से वर्धा से आठेक मील की दूरी के सुरगांव में ग्रामसेवा के लिए मुझे विनोबाजी ने भेजा था। मेरेलिए ही वे एक तरह से एक बार सुरगांव आये। उनकी इच्छा उस दिन सुरगांव में रहने की थी, लेकिन मुझे संकोच हो रहा था कि जमनालालजी को वहां कैसे ठहरावें, उनके अनुकूल उचित व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? फिर भी वे आग्रहपूर्वक ठहर गये और ठहरने के बाद सुरगांव में सबसे बूढ़ा आदमी कौन है, इसकी जानकारी प्राप्त करने वे उनके पास पहुंचे। उनसे बातें कीं और पूछा, उन्हें कुछ जरूरत है क्या ? वे वयोवृद्ध आदमी भी एक तरह से स्वसंतुष्ट थे। इसलिए उन्होंने कुछ नहीं मांगा। जमनालालजी-सरीखे श्रीमान् मनुष्य नम्रता से अपने यहां आये, इसका उन्हें बहुत ही आनन्द था। आखिर में जमनालालजी ने ही मुझसे कहा कि इनके लिए दूध और कुछ मीठे की व्यवस्था कर दी जाय और उसका खर्च मेरे से मांग लिया जाय। दूसरी बार वे श्री घनश्यामदास बिड़ला के पुत्र को साथ लेकर आये और परिचय करवाते हुए उन्होंने कहा कि इनकी मालिकी की पांच हजार मोटरें हैं। इन्हें इसलिए यहां लाया हूं कि गरीबों के पैसे से यह सारा वैभव इन्हें प्राप्त हुआ है तो कभी-न-कभी गरीबों की सेवा में उसमें से लगावें, ऐसी प्रेरणा देहात में आकर और गरीबों की दशा देखकर इनको हो। इस तरह जब कभी वे आते, अक्सर किसी-न-किसी श्रीमान् को भी अपने साथ ले आते।

जब आते, अपने खाने का ले आते, क्योंकि वह किसी भी तरह से गांव-वालों पर बोझ-रूप होना नहीं चाहते थे। जमनालालजी उस सारे क्षेत्र में लोक-सेवा के कारण सुपरिचित थे। गांव-गांव के प्रमुख लोगों से व्यापार या अन्य निमित्त से उनकी पेढी का संबंध आता था और कोई भी उनका

आतिथ्य करने में अपनेको गौरवान्वित मानता। लेकिन जमनालालजी हमेशा यह वृत्ति रखते कि देहात में मैं जाता हूं तो वहां के लोगों की सेवा के लिए जाता हूं, उनका आतिथ्य लेने के लिए नहीं। एक बार उनके साथ के लोग खाने का तो लाये थे, लेकिन पत्तलें या केले के पत्ते नहीं लाये थे, क्योंकि उन्होंने सोचा था कि सुरगांव में केले के काफी बगीचे हैं, वहीं से पत्ता मांग लेंगे। भोजन की तैयारी करते हुए साथ के लोगों ने गांव-वालों से कहा कि केले के पत्ते ला दीजिए। यह सुनते ही जमनालालजी को बहुत दुःख हुआ और कुछ झुंझलाकर उन्होंने साथ के लोगों से कहा कि अपने साथ में पत्ते क्यों नहीं लाये ?

.. .. ..

सुरगांव का एक गरीब मुसलमान किसान था। उसका खेत नीलाम में जमनालालजी के पेढ़ी के किसी आदमी ने लिया था। जब उन्हें यह मालूम हुआ तो उन्होंने उस किसान से कहा कि जितनी रकम में वह खेत नीलाम में खरीदा गया है, उतनी ही रकम में वह खेत तुझे वापस मिल जायगा। कुछ दिनों के बाद जब मैं वर्धा गया तो उन्होंने याद रखकर मुझसे कहा कि उस दिन उस किसान से मैंने जो कहा था उसके अनुसार उस खेत के बारे में मैंने बात कर ली है और उस किसान को खबर दे दी जाय कि वह आकर अपने खेत को छुड़ा ले।

.. .. ..

श्रीमान् होते हुए भी जमनालालजी को श्रीमंती का कोई स्पर्श नहीं था। उल्टा हमेशा वे श्रीमंती को दूसरों की, विशेषतया गरीबों की, सेवा में उपयोग में लाने की चिंता करते थे। किसीने कहा है कि कुछ दाता ऐसे होते हैं, जो अपने पास कोई मांगने आने पर मुश्किल से देते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जो मांगनेवाले के आने पर खुशी से देते हैं, लेकिन कुछ दाता ऐसे होते हैं जो अपने दान के लिए उचित पात्रों को ढूंढ़ते रहते हैं, और उन्हें स्वयं आगे होकर दान देते हैं। जमनालालजी इस विरल श्रेणी के दाता थे और दान देने के बाद उस चीज पर किसी भी तरह से अपना अधिकार या अंकुश नहीं

मानते थे। पवनार में जो बंगला उन्होंने बनवाया और बाद में जिसमें बिनोबाजी रहने लगे और अब 'परमधाम' के नाम से जो प्रसिद्ध है, उसके बारे में एक घटना उनके इस स्वभाव को अच्छी तरह प्रकट करती है। शायद १९४०-४१ की बात है। वैयक्तिक सत्याग्रह में विनोबाजी जेल गये हुए थे। जमनालालजी जेल से छूटे थे और शहर से दूर कहीं कुछ दिन रहना चाहते थे। स्वाभाविक रूप में उनकी नजर पवनार के बंगले पर गई। वहांपर आश्रम के एक-दो लड़के रहते थे, जो उसकी देखभाल करते थे। उसमें से एक तेज मिज़ाज का था। जमनालालजी उस बंगले में आकर रहना चाहते थे, इसलिए उससे पूछा गया। उसने कहा कि बंगले में तो आकर वह रह सकते हैं, लेकिन जो स्नान-घर है उसका उपयोग नहीं कर सकेंगे, क्योंकि स्नानघर के लिए जिस कमरे में से जाना होता था, उस कमरे में अनाज पीसने की चक्की रखी हुई थी। जमनालालजी के अलावा उस कमरे से नौकर आदि भी गुजरते और वह कमरा खुला रहता। कुत्ते आकर चक्की को चाटते, इसलिए उसने कहा कि नया स्नान-घर पहले अलग से बनवा लें और फिर बंगले में आकर रह सकते हैं। मुझे कई दिनों के बाद यह किस्सा मालूम हुआ। मालूम होते ही मैं जमनालालजी के पास पहुंचा और उनसे कहा कि आप उस बंगले में तुरंत आ सकते हैं और नहाने के कमरे का भी उपयोग कर सकते हैं। चक्कियां दूसरी किसी जगह रखेंगे। लड़के ने जो कुछ कहा है, उसपर कोई ध्यान न दें। जमनालालजी ने मेरी बात सुन ली, लेकिन उस लड़के के बारे में कोई शिकायत नहीं की। मेरे आग्रह के बावजूद वे दूसरा स्नान-घर बनवाकर ही उस बंगले में रहने के लिए गए। दूसरा कोई दाता होता तो कम-से-कम वह उस लड़के की शिकायत करता, उसके मन में कुछ दुःख होता, लेकिन जमनालालजी के मन में या चेहरे पर शिकायत या दुख का कोई भाव मैंने नहीं देखा। शायद एक प्रकार का उन्हें मजा ही आया होगा कि ऐसे भी लड़के हैं, जो मेरी भी परवा नहीं करते हैं।

जमनालालजी के और भी कुछ संस्मरण दिये जा सकते हैं, लेकिन कुछ चुने हुए प्रसंग मैंने इसलिए दिए हैं कि वे उनके स्वभाव को विशेष रूपसे प्रकट

करते हैं। जमनालालजी की याद के साथ ही "शुचीनाम् श्रीमताम् गेहे योग-भ्रष्टः अभिजायते"—(अर्थात् साधनवान श्रीमानों के यहां योग-भ्रष्ट जन्म लेते हैं)—इस गीता वाक्य का स्मरण होता है। जमनालालजी साधनवान तो थे ही, लेकिन साधनों के साथ ही साधनावान भी थे। बचपन से आखिर तक इनके जीवन में यह साधना दीख पड़ती है। स्कूली शिक्षा उन्हें बहुत कम मिली थी, लेकिन गुरुजनों की सेवा, वृद्धों की सेवा, संतों की सेवा और सहकारियों की सेवा से उन्होंने अत्युत्तम शिक्षा पाई थी और साधना को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए ही वे देह छोड़ गये।

●

मेरे सामने मारवाड़ी जाति में धन का उपयोग लोककल्याण के लिए करनेवाले, अपनी संपत्ति के मालिक नहीं, ट्रस्टी बनकर देशहित के लिए उसे लुटानेवाले त्याग, सेवा और तप से परिपूर्ण तीन व्यक्ति रहे हैं—सेठ जमनालालजी, सेठ जुगलकिशोरजी बिड़ला और सेठ रामगोपालजी मोहता।

भाई जमनालालजी का रायबहादुरी की पदवी को ठुकराना, महलों को छोड़कर कुटियों में रहना, देशहित के लिए बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करने की भावना ही नहीं रखना, बल्कि उसे चरितार्थ करना, जेलों में अनेक संकट उठाना, असहयोग-आन्दोलन की समरभेरी बजाना, सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन में अग्रभाग लेना, नागपुर में झंडा-सत्याग्रह करना, जयपुर में सत्याग्रह चलाना और अन्त में गोपुरी में रहकर गोमाता की सेवा करने ने उन्हें अमर बना दिया है।

उनकी सादगी, मिलनसारी, पारिवारिक कठिनाइयां सुलझाने की शक्ति, सबके प्रति आत्मीयता, अपने चुम्बक के समान आकर्षण से नवयुवक-युवतियों को सामाजिक क्रांति के पथिक बनाने की शक्ति ने उन्हें सबके आदर का पात्र बना दिया था। मेरे सामने उन्होंने कई देवियों का पर्दा छुड़वाया और उन्हें खादीधारिणी बना दिया।

यद्यपि मातृभूमि का वह जगमगाता लाल आज हमारे बीच में नहीं है, तथापि उनकी छोड़ी हुई कृतियां हमारे सामने हैं। —चांदकरण शारदा

: ३६ :

मनुष्यता का एक दुर्लभ 'टाइप'

रामनाथ 'सुमन'

जमनालालजी बहुत दूर होकर भी मेरे बहुत नजदीक थे। बहुत कम बार हम मिले हैं, बहुत कम बार पत्र-व्यवहार हुआ है, फिर भी बड़ी ही निकटता हम दोनों के बीच सदा रही। पहली बार जब मैं उनसे मिला, तब मैंने स्पष्ट बातें कीं। दूसरी बार मैंने आलोचना की। तीसरी बार उनपर अपनी झुंझलाहट और खीझ व्यक्त की और चौथी बार मैंने कहा—आप 'होपलेस' हैं। और वह थे कि देखते रहे, मुस्कराते रहे, शायद मुझे अन्दर-अन्दर तौलते रहे। फिर बाद में खूब खुलकर बातें हुईं। मुझे उन्होंने अपनी बनाई हुई एक संस्था का भार लेने को कहा। मैंने उसमें काम करनेवाले तीन आदमियों की कसकर टीका की और कह दिया कि इन लोगों पर मुझे भरोसा नहीं है और मैं इनके साथ काम न कर सकूंगा। क्षणभर को वह विरक्त हुए और बोले—"आलोचना करने की तुम्हारी आदत है, पर अमुक को मैं कैसे छोड़ सकता हूं ? वह बहुत पुराने कार्यकर्त्ता हैं।" मैंने कहा—"मैं समझता था, आप आदमियों को पहचानते हैं, पर अब मुझे अपनी राय बदलनी पड़ेगी। शीघ्र ही आप जान जायंगे कि कौन कितने पानी में है।"

मैं चला आया, पर छः महीने के अन्दर ही जब वह मिले तो बोले—"तुमने मुझसे ठीक कहा था। क्या अब तुम मेरे साथ रह सकते हो ?"

मैं उनके साथ रहना तो चाहता था, पर रह न सका। कुछ घरेलू कठिनाइयां थीं। पर तबसे वह मेरे बहुत निकट आगये। कई अवसरों पर बिना कुछ कहे, केवल मालूम होने पर उन्होंने मेरी सहायता की। दान के रूप में मैंने कभी उनकी कोई सहायता स्वीकार न की। इस सम्बन्ध में मेरा अहंकार सदा बाधक रहा, पर बाधकता उलटे मुझे उनके निकट खींच लाई। एक बार

उन्होंने लिखा—"मैं इसको समझता हूं और तुमसे नाराज नहीं, खुश हूं।" जीवन में मुझे इसके उलटे अनुभव हो चुके हैं।

स्पष्टवादिता को इस सीमा तक सहन करनेवाला आदमी हमारे जीवन में दूसरा नहीं था। लोग उनसे इस तरह लड़ते थे, इस तरह आलोचना करते थे, जैसे अत्यन्त घनिष्ट और बराबरी के मित्रों के साथ करते हैं—जहां अन्देशा नहीं कि उसका कोई खराब असर होगा।

संसार में महान् पुरुष कई प्रकार के होते हैं। कुछ तो ऐसे होते हैं, जो महावृक्ष की भांति अपने इर्द-गिर्द किसी पौधे को पनपने नहीं देते। अपने ही जीवन के लिए पर्याप्त रस उन्हें नहीं मिलता। अपने तेज से केवल वे चमकते हैं, दूसरों का प्रकाश ठंडा हो जाता है। दूसरे वे हैं जो कुटुम्ब के सरदार की तरह सबके साथ सबको पोषण देते और बढ़ाते-उठाते हुए बढ़ते हैं। जमनालालजी दूसरे प्रकार के थे। उन्होंने हजारों कार्यकर्त्ताओं को आगे बढ़ाया और जिसको साथ लिया, उसे अपनी तरफ से कभी न छोड़ा। वह दूसरों को सदा उत्साहित करते थे, और जब जान लेते थे कि आदमी सोने का है तब चाहे वह विरोधी हो, उसके प्रति सदा सम्मान का भाव प्रकट करते थे।

मैं यह तो नहीं कह सकता कि गांधीजी की धनवान की कल्पना का आदर्श उनमें पूर्ण हुआ, पर इतना मैं निस्संकोच कह सकता हूं कि धन का अभिमान उनमें जरा भी न था। उनके साथ बातचीत में किसी कार्यकर्त्ता को यह अनुभव कभी न होता था कि वह किसी धनवान से बात कर रहा है।

महान् पुरुष और नेता संसार में कम नहीं हैं, पर आदमी—ऐसा आदमी, जिसके सामने आदमी अपनेको आदमी अनुभव करे, जिसके सामने वह अपने विश्वास और गौरव से अपदस्थ न हो, जिसमें मनुष्य अपने अन्दर जो कुछ आशाप्रद है, जो कुछ सच्चा है, उसका दर्शन करे—ऐसा आदमी आजकल के विज्ञापन के बाजार में दुर्लभ होगया है। फरिश्ते बहुत हैं, आदमी कम। मैं मानता हूं, जमनालालजी ऐसे ही एक आदमी थे।

: ४० :

अनेक गुणों से विभूषित

मो० सत्यनारायण

"मैं तो सिर्फ मंत्र दिया करता था; लेकिन वे उसको रूप दिया करते थे। मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मुझे यह दिन देखने को मिलेगा। उन्होंने मुझसे वादा किया था कि मेरे बाद, मेरे सभी कार्यों को वे संभाल लेंगे। मगर वे मुझसे पहले ही चले गये।" ये वेदना-पूर्ण शब्द दिवंगत जमनालालजी के संबध में महात्माजी के थे। जमनालालजी के कई मित्र महात्माजी के निमंत्रण पर हिन्दुस्तान के कोने-कोने से आये हुए थे। जमनालालजी के श्राद्ध का दिन था। आगत मित्रों में श्री जमनालालजी के सहकर्मी, सहचर, सह-व्यापारी और सहयोगी थे। उनमें कई क ोड़पति थे तो कई भिक्षुक भी। उनके हृदयों में श्री जमनालालजी के वियोग की बड़ी पीड़ा थी। उनके स्मरण के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। सभीके मन में अपने किसी पारिवारिक सदस्य की मौत से होनेवाली वेदना-सी छाई हुई थी। उन सबकी तरफ से महात्माजी ने प्रतिनिधि-स्वरूप आंसुओं से उनकी स्मृति पर जलांजलि छोड़ी।

साधारणतया यह सुनने में आता है कि महात्माजी को क्या है, उनको तो जमनालालजी-जैसे करोड़पति की शक्ति और धन प्राप्त है। वे क्या नहीं कर सकते हैं? लोगों का यही खयाल रहता था कि जमनालालजी एक बड़े सेठ हैं। कुशल व्यापारी हैं। खूब रुपया कमानेवाले हैं। महात्माजी को अपने पास रखे ए हैं और उन्हें भरपूर धन दिया करते ैं। बहुत कम लोग यह जानते थे कि जमनालालजी एक बहुत ही बड़े सहृदयी, अपने साथियों के ेमी, कार्यनीतिज्ञ, संचालन-दक्ष, निपुण निर्माता तथा बड़े ही तेज बुद्धि के व्यक्ति थ। बीस वर्ष के पहले हिन्दुस्तान के नक्शे पर वर्धा को कोई नहीं पहचान सकता था। वह एक मामूली कस्बा था। एक रेलवे जंकशन और दो-चार

कपास के कारखानों को छोड़कर कोई विशेष बात वर्धा में नहीं थी। आज वह सारे भारत का क्या, सारे संसार का केन्द्र बन गया है। वर्धा को इतना मशहूर होने और इतना महत्व मिलने का एकमात्र कारण स्व. जमनालालजी बजाज ही थे। अगर महात्मा गांधी वर्धा के प्रकाशमान सूर्य थे तो जमनालालजी उस सूर्य के दर्शनार्थ आनेवाले हजारों लोगों को जगह देनेवाले आधार-भूमि थे।

सन् १९२३ की बात है। कोकनाडा में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के एक विशेष अधिवेशन की भी तैयारियां थीं। बाबू राजेन्द्रप्रसादजी उस अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये थे। मगर अस्वस्थता के कारण वे कोकनाडा नहीं पहुंच पाये। श्री जमनालालजी ने इस कार्य को संभाला। पहली बार उनके मैंने दर्शन वहींपर किये। चूंकि मैं स्वागत-समिति का एक मंत्री था, इसलिए मुझे बार-बार उनसे मिलने और उनके साथ अधिक समय व्यतीत करने का सौभाग्य मिला। उनके सौजन्य की बात मैं पहले ही सुन चुका था, फिर भी उनके बहुत बड़े धनी लखपती होने की बात मैं भूल नहीं सकता था। लेकिन एक-दो दिन की संगत से ही उनकी सहृदयता, व्यवहार की मधुरता, उदारता और बुद्धिमत्ता की मेरे ऊपर गहरी छाप पड़ी। उन्होंने एक बहुत बड़ी कुटी अपने लिए ले रखी थी। उसमें रोज पन्द्रह-बीस मित्रों को खाने के लिए बुलाया करते थे। उनके साथ दस-पन्द्रह मित्र पहले ही से थे। वे यात्रा में रहते हुए भी अपने अतिथि-सत्कार और मित्र-प्रेम का परिचय बखूबी देते थे। उसके बाद भी गत उन्नीस वर्षों में प्रत्येक कांग्रेस में मैंने उनको इसी प्रकार मित्रों का सत्कार करते और अधिकाधिक मित्रों और सहयोगियों के बीच समय व्यतीत करते देखा। जिस स्थान पर जमनालालजी पहुंच जाते थे, वह स्थान धर्मशाला हो जाता था। निस्संकोच लोग वहां पहुंच जाते थे। कांग्रेस वर्किंग कमेटी के एक प्रमुख तथा प्रतिष्ठित सदस्य ने एक बार कहा कि हमारी वर्किंग कमेटी में उसके सदस्य बहस काफी करते हैं। कोई-कोई बहस में घंटों समय लेते हैं। लेकिन दो सदस्य ऐसे हैं, जो बहुत कम बोलते हैं। लेकिन जब बोलने लगते हैं तो अपनी व्यवहार-

बुद्धि की धारा बहा देते हैं। प्रश्न चाहे जितना जटिल हो; वह चाहे राजनैतिक हो या आर्थिक, अथवा सांप्रदायिक, उसके हल की तरफ कमेटी की दृष्टि खींचते हैं। उनमें पहला नम्बर जमनालालजी बजाज का है।

अपनी बारह बरस की उम्र तक जमनालालजी ने मामूली मराठी पढ़ी। २० वर्ष की उम्र में आनरेरी मजिस्ट्रेटी और २८ बरस की उम्र में रायबहादुर का खिताब पाया। २९ वर्ष की उम्र में महात्माजी की सुसंगति प्राप्त की। तबसे लेकर भौतिक शरीर छोड़ने की अन्तिम घड़ी तक, जबकि उनकी उम्र ५३ वर्ष की थी, देश की उन्होंने तन-मन-धन से सेवा की। इन २४ वर्षों में वे महात्माजी की छाया बनकर रहे और महात्माजी ने उन्हें पुत्रवत् देखा। जब जमनालालजी ने अपनेको महात्माजी की सेवा में अर्पित किया, उनकी चाह भी यही थी। वे बहुत बड़े साधक थे। अपनी साधना में उन्होंने उच्चकोटि का संयम, विवेक, योग्यता और सजगता दिखाई। उनकी साधना सफल भी हुई।

जीवन को श्रेष्ठतम और सफल बनाने के लिए जिन गुणों की जरूरत होती है, वे जमनालालजी में भरपूर थे। वे एक महान् वीर पुरुष थे। मनुष्य-गत कमजोरियों से पग-पगपर लड़कर उन्होंने उन्हें जीता था। वे कर्मठ व्यक्ति थे, जीवन के प्रत्येक क्षण को उन्होंने लाभदायी कार्य में लगाया। वे एक तपस्वी थे, उन्होंने ईश्वर-चिन्तन, धर्म-चिन्तन और कार्य-चिन्तन, इन तीनों के सम्बन्ध में अपनी तपस्या का फल देखा। वे बड़े कार्य-कुशल थे। न अपने व्यवहार से वे किसीको निराश करते थे, न किसीके व्यवहार से निराश होकर परेशान होते थे। उन्होंने जीवन में किसीको बड़ा समझकर अपनी आत्मा और स्वतंत्र विचारों को नहीं दबाया। वे एक निर्माता और सफल संचालक थे। उन्होंने अपने पारिवारिक तथा अपने अन्तर्गत सभी संस्थाओं की रफ्तार को पग-पगपर नापा और उनके भविष्य को सुदृढ़ बनाया। वे एक बड़े सेवक थे। सेवा को ही सबसे उत्तम धर्म समझकर तन-मन-धन से देश की सेवा की। वे एक मित्र थे। उन्होंने अपने आश्रित व परिचित सभी लोगों के साथ समान रूप से मित्रता निभाई। उनकी मित्रता में

न स्वार्थ रहता था, न बड़प्पन की गन्ध। वे बड़े खुश-दिल थे। गंभीर-से-गंभीर कार्य के बीच में भी बच्चों और बड़ों के साथ हँसी-विनोद किया करते थे। वे बड़े शक्तिशाली थे। किसी भी नए कार्य को शुरू करना और उसे निभाना उनके बायें हाथ का खेल था। वे बड़े त्यागी थे। उन्होंने अपनी सारी वैयक्तिक लालसाओं को एक-एक करके त्याग दिया। अपनी किसी शक्ति या संपत्ति को अपने स्वार्थ के काम में नहीं आने दिया। वे बड़े सहनशील थे। कभी भी उनके चेहरे पर क्रोध की रेखा नहीं देखी गई। वे बड़े परि-श्रमी थे। सवेरे ४।। बजे से लेकर रात के नौ बजे तक काम में लगे रहते।

उन्होंने अपने निर्णय में कभी ढिलाई, आलस्य, असावधानी और अपूर्णता नहीं रहने दी। वे जितने उदार थे, उतने ही किफायतशार। कागज के एक टुकड़े का भी बरबाद जाना वे सह नहीं सकते थे, न एक पैसे का अपव्यय उनसे बर्दाश्त होता था। उनके पास से एक पैसा भी अपात्र के यहां नहीं गया। आदमी को पहचानने में वे बेजोड़ थे। एक बार विश्वास कर लेने पर फिर कभी भी वे उसे नहीं कसते थे। अपनी हरएक आदत को उन्होंने अनुशासन की कसौटी पर अच्छी तरह कसकर देखा। इसलिए उनकी सभी आदतें परिष्कृत हो उठीं।

जैसा उनका सामाजिक जीवन था, वैसे ही उनका पारिवारिक जीवन भी बड़ा आनन्दमय था। उन्होंने अपने परिवार के सभी लोगों को अपने आदर्श की कसौटी पर कस-कसकर उज्ज्वल बनाने की पूरी कोशिश की। अपने बच्चों के साथ इस तरह व्यवहार करते थे कि उनके पितृत्व का वजन महसूस ही न होता था। उन्होंने अपने जीवन में जितने धन का संग्रह किया, उससे ज्यादा परख-परखकर उत्तम कार्यकर्त्ताओं का संग्रह किया, और उन सबको अपने परिवार का अविभाज्य अंग बना लिया। अपने साथियों के बच्चों के लिए भी वैसे ही 'काका' थे जैसे अपने बच्चों के लिए। उन्होंने देश के काम में २५ लाख से ज्यादा रुपये दिये। उससे भी ज्यादा कीमती समय दिया। उससे भी ज्यादा मूल्यवान मन लगाया। इनका, पात्रता के खयाल से, आवश्यकता के खयाल से बड़ी, सावधानी के साथ, उन्होंने बँटवारा किया था। स्वयं बड़े धनी होकर बड़े साधक बने और एक नया मार्ग धनवानों के सामने रखा।

: ४१ :

आकर्षक व्यक्तित्व

अलगूराय शास्त्री

महाराणा प्रताप और भामाशाह के सम्बन्ध के इतिहास का स्मरण आता है, जब महात्मा गांधी के साथ स्व. सेठ जमनालाल बजाज की मूर्ति मन के सामने आती है। मेरा संपर्क इस महापुरुष के साथ पहले-पहल उस समय हुआ, जब कोकनाडा (आन्ध्र) कांग्रेस के अवसर पर मैं हिन्दी शॉर्ट हैण्ड रिपोर्टर के रूप में कांग्रेस की स्वागतकारिणी की ओर से वहां बुलाया गया था और सेठ जमनालाल बजाज वहां हिन्दी-सम्मेलन की अध्यक्षता करने गये थे। जमनालालजी का उदारतापूर्ण आकर्षण मेरी ओर इसी कारण हुआ कि मैं हिन्दी शीघ्रलिपि प्रणाली से उस समय व्याख्यान लिखा करता था। बड़े स्नेह से उन्होंने मुझसे कहा कि मैं उनका व्यक्तिगत सहायक बनकर सेवा करूं। कई कारणों से मैंने उनका उदारतापूर्ण प्रस्ताव ग्रहण नहीं किया, लेकिन उनके व्यक्तित्त्व में जो स्वाभाविक आकर्षण था, उनके व्यवहार में जो कोमलता और माधुर्य था, वह किसे आकर्षित नहीं करता था! उनका भरा-पूरा शरीर, लम्बा कद और स्नेह से धीरे-धीरे बोलना, हर किसीके मन को लुभा लेता था।

वर्धा में उन्होंने एक हिन्दी शॉर्ट हैंड सम्मेलन बुलाया था। मैं उसमें गया। मैंने देखा कि किस प्रकार वाजश्रवा की भांति अन्न के दान और अतिथि-सत्कार में वे आनन्द लेते थे।

महात्मा गांधी के चारों ओर जिन व्यक्तियों ने भारत के स्वतंत्रता-संग्राम को चलाने के लिए अपने-आपको अर्पित कर रखा था, उनमें जमनालालजी का प्रमुख स्थान था।

: ४२ :

उनका जेल-जीवन

रामेश्वरदास पोद्दार

श्रीजमनालालजी १९३२ में बम्बई में गिरफ्तार हुए, तब की बात है। उन्हें दो साल की सख्त सजा दी गई और 'सी' क्लास में रक्खा गया। पहले उनको वीसापुर-जेल भेज दिया गया। उस जमाने में विसापुर-जेल बम्बई प्रांत भर में सबसे खराब जेल था। वहां अधिकतर मुजरिम कैदी थे और वहां की जलवायु जमनालालजी के अनकूल नहीं थी। अतएव कुछ दिनों के बाद सरकार ने जमनालालजी का धुलिया-जेल में तबादला कर दिया।

श्री जमनालालजी का धुलिया-आगमन-संबंधी समाचार मुझे अहमद-नगर के एक मित्र द्वारा प्राप्त हुआ। मैंने यह तार अपने मित्रों को भी पढ़-वाया और यह तसल्ली कर ली कि जमनालालजी स्वयं दूसरे दिन सुबह धुलिया आ रहे हैं। यह समाचार जेल में पू. विनोबाजी को भी पहुंचा दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं अपने मित्रों सहित जमनालालजी के स्वागत के लिए धुलिया स्टेशन पहुंचा।

गाड़ी आई और लोगों ने देखा कि जमनालालजी तीसरे दर्जे के डिब्बे में मामूली कैदी की पोशाक में हैं। वे चड्डी और कुर्त्ता और सिर पर टोपी पहने हुए थे। पुलिस के आदमी ने जमनालालजी से कहा कि आप अपने कपड़े पहन सकते हैं, परन्तु जमनालालजी ने इन्कार कर दिया। वे उसी पोशाक में संतुष्ट दीखते थे। उन्होंने पुलिस से अपने मित्रों से बातचीत करने की इजाजत मांगी, जिसके लिए पुलिस को कोई आपत्ति नहीं थी। हम लोग जमनालालजी को वेटिंग रूम में ले गये। जमनालालजी को नाश्ता कराया और आधे घंटे तक बातचीत की। इसके बाद कुछ मित्रों ने जमनालालजी से आग्रह किया कि वे उन्हींकी मोटर में जेल चले जायं, परन्तु जमनालालजी

इससे सहमत न हुए। एक-सवा मील पैदल चलकर जेल पहुंचे।

उधर पू. विनोबाजी जेल में जमनालालजी का इन्तजार करते-करते थक गये, क्योंकि काफी समय होगया था। वे परेशान हुए और जेलर से जाकर पूछा कि जमनालालजी अबतक क्यों नहीं आये ? जेलर को इस बात से बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसको स्वयं इस बात का ज्ञान नहीं था कि जमनालाल-जी उस जेल में आ रहे हैं। तब उसने अन्वेषण शुरू किया कि यह खबर जेल के अन्दर तक कैसे पहुंची। इसी बीच जमनालालजी भी पहुंच गये। जेलर के अन्वेषण का यह फलस्वरूप जेल का एक मामूली नौकर बाहर से जमनालालजी-संबंधी खबर कैदियों को पहुंचाने का दोषी निकला। जेलर ने उसकी बरखास्तगी का हुक्म निकाल दिया। बेचारा नौकर रोने लगा। यह सारा दृश्य देखकर विनोबाजी व जमनालालजी ने उस अधिकारी को समझाया कि उस बेचारे का कोई दोष नहीं है, आखिर दोषी तो वे स्वयं हैं। जेलर मान गया और उस आदमी को फिर से रख लिया।

यद्यपि विनोबाजी 'बी' श्रेणी में रखे गये थे और जमनालालजी 'सी' में, तथापि जेल के अधिकारियों ने जमनालालजी को विनोबाजी के समीप ही जगह दी, जिससे उन्हें विनोबाजी के साथ रहने का लाभ प्राप्त हुआ।

'सी' श्रेणी के कैदियों की खुराक डेढ़ आने रोज की थी। इससे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उनको किस तरह का भोजन मिलता था, परन्तु जमनालालजी को तो इससे कोई शिकायत नहीं थी। हां, उनका वजन इस कारण बेशक बहुत कम होगया, पर उनके चित्त की प्रसन्नता में कोई कमी नहीं थी, इसलिए कि उन्हें विनोबाजी आदि के सहवास से आध्यात्मिक खुराक तो पर्याप्त मात्रा में मिल रही थी। जो हो, उनकी शारीरिक स्थिति को देख-कर दूसरे मित्र थोड़े ही चुप रह सकते थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में जेलर से कहा तो वह कहने लगा कि जबतक शिकायत जमनालालजी की तरफ से न हो, हम क्या कर सकते हैं ! इसपर जमनालालजी के साथी सालिगरामजी भारतीय ने कहा, "जमनालालजी मरते दम तक अपने लिए किसी खास सुविधा की मांग नहीं करेंगे।" उनके गिरते स्वास्थ्य को देखकर जेलर को उस ओर

ध्यान देना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि उनको खूराक में चावल, गेहूं की रोटी, और टानिक के तौर पर गाजर खाने को दी जाने लगी। अधिकारी ने यह भी छूट दी कि यदि बाहर से कोई मक्खन भेज सके तो हम उनके पास पहुंचा देंगे। तदनुसार रोज बाहर से मक्खन की व्यवस्था होने लगी।

जमनालालजी को जेल में दूसरी सुविधा यह प्राप्त थी कि उनके नाम की बाहर से आनेवाली डाक उनके मित्र रोज ले जाते थे और अधिकारी की मौजूदगी में पढ़कर सुनाया करते थे और वे जो कुछ कहते थे, उसको मित्रगण लिखकर भेज दिया करते थे। एक बार डाक पढ़कर खत्म होने में कुछ देर अधिक होगई। जेलर इसपर गुस्सा होगया और उसके मुंह से यह बात निकल गई कि आपको यहां हर तरह की सुविधा हो गई—खुराक में सुधार होगया, हर रोज डाक आती रहती है और मक्खन तक आपको मिलने लगा है। यह बात जमनालालजी को लग गई। वह झट बोल उठे कि साहब, आपकी मेहरबानी पर मैं रहना पसंद नहीं करता। आइन्दा जेल के कायदे के हिसाब से जो चीज नहीं मिल सकती, मैं वह नहीं लूंगा, मैं आपको इसका आश्वासन देता हूं। फल यह हुआ कि उसी दिन से उन्होंने मक्खन मंगाना बन्द कर दिया। उपरोक्त सब बातें गुस्से में होगईं। जब अधिकारी शांत हुआ तो उसको अपनी गलती मालूम हुई। लेकिन जमनालालजी टस-से-मस न हुए।

अप्रैल का महीना था। जमनालालजी का वजन दिन-ब-दिन घटते रहने से जेल के अधिकारियों को बड़ी चिन्ता हुई। इसलिए उन्होंने आई. जी. को खबर दी। इसी बीच वर्धा से जमनालालजी से मुलाकात के लिए (जो कि 'सी' क्लास के कैदी को महीने में दो-एक बार मिलती थी) एक पार्टी आई। उसमें जमनालालजी की माता, जानकीबहन, केशवदेवजी, लालजीभाई आदि थे। जब माताजी ने जमनालालजी को जेल की पोशाक, उनका गिरा हुआ स्वास्थ्य आदि देखा तो बहुत दुखित हुईं और दोनों एक-दूसरे से लिपट गये। यह दृश्य देखकर जेलर तक की आंखों में आंसू आगये।

गर्मी के दिनों में जेल में पानी की बहुत तंगी रहती थी। जमनालालजी की कोशिश से एक कुआं, जो बन्द था, खोला गया और जमनालालजी और

उनके साथी खुशी-खुशी उसमें से पानी खींचने लगे। उनके और साथियों के पानी खींचने के दृश्य की जेलर ने फोटो ली थी, जिसकी एक कापी अब भी श्री माखनलाल चतुर्वेदी के पास है। पानी खींचने का ढंग वैसा ही था, जैसे बैल खींचते हैं।

जमनालालजी का वजन ४० पौंड घट गया। इस संबंध में असेंबली में प्रश्न पूछे गये थे, बाद में उनकी बदली पूना हुई।

धुलिया-जेल की ही बात है। वहां का सुपरिन्टेंडेंट एक पारसी था, जो सदैव बातचीत में 'साला' शब्द का प्रयोग करता था। एक बार इसीको लेकर इतना बड़ा वाद-विवाद जमनालालजी और उसके बीच हुआ कि आखिर जमनालालजी को उससे कह देना पड़ा कि यदि आप कैदियों के साथ बातचीत करते समय यह गाली बन्द नहीं करेंगे तो हम सब लोग सत्याग्रह करेंगे। सुपरिन्टेंडेंट डर गया और यहांतक नौबत न आने दी।

जेल में विनोबाजी का गीता के संबंध में प्रवचन होता था, लेकिन वह पुरुषों तक ही सीमित था। जमनालालजी की कोशिश से विनोबाजी को प्रवचन सुनाने के लिए स्त्रियों के वार्ड में भी जाने की अनुमति मिल गई।

विनोबाजी जेल में 'गीताई' पुस्तक तैयार कर रहे थे और यह सोचा जा रहा था कि पुस्तक का प्रकाशन कौन करे। जमनालालजी के धुलिया-जेल में आने के बाद इस कार्य में गति आई, परन्तु दिक्कत यह हुई कि जेल में से यह कार्य कैसे संपन्न हो। जब जेलर से बातचीत हुई तो उसने कहा, "अगर यह कार्य गुप्त रूप से चला सको तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। लेकिन इसके लिए छापेखानेवाले को बार-बार इधर आना पड़े और आप लोगों के साथ बातचीत करनी पड़े, तो उसकी अनुमति देना मेरेलिए संभव नहीं होगा।" धुलिया-जेल में नीचे जेल था, ऊपर पुलिस-आफिस था। इसलिए उन्हें डर था कि यदि किसीने पुलिस-आफिस में उनके विषय में शिकायत कर दी कि वह कांग्रेसी कैदियों के साथ नाजायज रिआयतें दे रहे हैं तो उसकी खैर नहीं होगी। यही कारण था कि जेलर ने विनोबाजी के मुक्त होने पर भी अपनेको इस संकट से बचा लेना चाहा। जमनालालजी ने अपने साथी मित्रों से परामर्श किया।

तब बैरिस्टर श्री पुरुषोत्तमदास त्रिकमदास ने कहा कि आखिर यह कार्य जो होने जा रहा है, एक धार्मिक पुस्तक का प्रकाशनमात्र है। विनोबाजी आचार्य हैं, अतः सरकार को इस संबंध में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अन्त में कार्य सुगम होगया, पुस्तक की छपाई आदि की व्यवस्था होगई। 'गीताई' के प्रकाशन का कार्य श्री विनायक नरहर बर्वे को सौंपा गया और 'गीताई' का पहला संस्करण धुलिया-जेल में ही प्रकाशित हुआ। यहां यह बात उल्लेख योग्य है कि बहुत दिन पहले जमनालालजी ने विनोबाजी से अनुरोध किया था कि वे एक छोटी-सी (जेब में रखने लायक) धार्मिक पुस्तक तैयार करा कर दें। 'गीताई' का प्रकाशन उसीके फलस्वरूप था।

धुलिया-जेल में धार्मिक त्योहार तक मनाया जाता था। एक बार जमनालालजी के प्रयत्न से गोकुलाष्टमी बड़े धूमधाम से मनाई गई।

एक दिन श्री घनश्यामदास बिड़ला का आदमी उनका पत्र लेकर जमनालालजी के पास आया। पत्र में लिखा था कि गोला शुगर मिल्स इसलिए चालू नहीं की जा सकती कि सरकार से गंधक का परमिट अभी तक नहीं मिला है और जबतक गंधक न मिले, मिल चालू होना नामुमकिन है। चूंकि आप मिल के डाइरेक्टर हैं और सरकार के विरुद्ध कार्यों में लगे हैं, इसलिए मिल को तबतक परमिट नहीं मिल सकता, जबतक कि आप यह वचन न दें कि गंधक का दारू में दुरुपयोग नहीं करेंगे। इस बात पर जमनालालजी को गुस्सा आगया। उन्होंने कहा कि घनश्यामदासजी से कह दो कि मैं कभी अण्डरटेकिंग नहीं दूंगा। सरकार बताना चाहती है कि हम अहिंसक नहीं हैं। यह बात मैं कबूल नहीं करूंगा, भले ही मिल बन्द रहे। उन्होंने यह भी कहा कि डाक्टर गौर और शारदाजी से कहो कि वे असेंबली में यह प्रश्न पूछें कि शुगर मिल को क्यों परवानगी नहीं दी गई। प्रश्न पूछा गया। जवाब मिला कि परवानगी मिलेगी।

एक बार वर्धा से जमनालालजी के पास चिट्ठी आई कि सरकार ने लिखा है कि मगनवाड़ी (वर्धा) में जो बड़ा बगीचा है, उसको पानी-वानी देकर ठीक-ठाक रखने में सरकार को कोई एतराज नहीं है। दरअसल सर-

कार ने मगनवाड़ी पर कब्जा कर लिया था और वहांपर पुलिस तैनात थी। इसलिए जमनालालजी ने कह दिया कि मैं तो बगीचे की होली करके आया हूं, अब मैं अपने आदमी को पांव भी नहीं रखने दूंगा।

जमनालालजी पूना-जेल में थे। उनके सेक्रेटरी मदनमोहनजी मुलाकात के लिए आये। आई. जी. ने उनसे कहा कि आप जमनालालजी की पत्नी के द्वारा उनसे कहलवायें कि वे कान की टी. बी. के इलाज के वास्ते विलायत जाने को तैयार हो जायं तो सरकार उनको मुक्त कर देगी। मदनमोहनजी ने जवाब दिया कि वे अपनी पत्नी की बात थोड़े ही मानेंगे। अगर आप चाहें तो गांधीजी से इस बारे में बात छेड़िए, क्योंकि गांधीजी ही उनके सर्वस्व हैं।

जमनालालजी विनोबाजी को बड़ी श्रद्धा से देखते थे। विनोबाजी को एक बार जेल में बड़े जोर से खांसी होगई, लेकिन उन्होंने कोई इलाज नहीं कराया। जमनालालजी ने उनसे आग्रह किया कि वे कम-से-कम खड़ी शक्कर और काली मिर्च मिलाकर खा लें। पहले तो उन्होंने इन्कार किया, पर जब जमनालालजी ने कहा कि आप खुद भी रात को नहीं सोते और दूसरों को भी अपनी खांसी से नहीं सोने देते तो उन्होंने हँसकर खड़ी शक्कर और काली मिर्च खाना कबूल कर लिया। जमनालालजी दूसरे साथियों के साथ बिल्कुल भाई-चारे का बर्ताव करते थे। उनके दुख से दुःखी होते थे, सुख से सुखी।

हरिजनों के लिए मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन चल रहा था। जमनालालजी ने वर्धा का लक्ष्मीनारायण-मन्दिर हरिजनों के लिए खुलवा दिया। हिन्दुस्तान में वह सबसे पहला मन्दिर हरिजनों के लिए खोला गया था। विनोबाजी जेल से छूटकर आगये थे और उन्हींके हाथों यह शुभ कार्य संपन्न हुआ।

जमनालालजी दो साल की सजा पूरी होने के पहले ही पूना-जेल से छूट गये। जेल से वे एक टीन का बर्तन और कटोरी साथ लाये, जिसको उन्होंने बहुत दिनों तक यह कहकर इस्तेमाल किया कि मैं अपनेको तबतक रिहा नहीं समझूंगा, जबतक बापूजी न छूटें।

: ४३ :

मेरे बड़े भाई

गोविन्ददास

सेठ जमनालालजी बजाज से हमारा पारिवारिक संबंध रहा है, क्योंकि उनका और हमारा परिवार राजस्थान से मध्यप्रदेश में आया और यहां बस गया। फिर जमनालालजी राजस्थान में सीकर के थे, जहां मेरा विवाह हुआ है। यह योग भी हमारे संबंध को और निकट लाने और बढ़ाने में सहायक हुआ।

जमनालालजी गांधीजी के प्रभाव में आने के पूर्व रायबहादुर थे और मैं भी ब्रिटिश-सरकार के पदवीधारियों के कुटुम्ब में रहता था। उस समय मेरी उनकी सबसे पहले भेंट हुई थी। उस भेंट का मुझे आज भी पूरा स्मरण है। उनमें देशभक्ति की भावनाएं उस समय भी विद्यमान थीं। वे ही आगे चलकर प्रस्फुटित हुइ।

सन् १९२० में नागपुर में होनेवाले कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर पं. विष्णुदत्तजी शुक्ल को स्वागत-समिति का अध्यक्ष बनाने के सिलसिले में वह जबलपुर में उनसे मिलने आये थे। हमारे यहां ठहरे। यद्यपि वे असहयोग की पूर्ण दीक्षा लेने के लिए शुक्लजी से कहीं अधिक सक्षम होगये थे, फिर भी उन्होंने शुक्लजी को ही वह सम्मान देने का प्रयत्न किया। यह उस समय की बात है जब कांग्रेस के इन पदों का महत्व तत्कालीन मंत्रीपदों से कहीं अधिक था। जमनालालजी का वह प्रयत्न निस्संदेह उनकी महानता का द्योतक था। उन्होंने मुझे भी कांग्रेस में खींचने का प्रयत्न किया और यद्यपि मैं स्वयं ही कांग्रेस की ओर खिंच रहा था, तथापि उनकी प्रेरणा से उस खिंचाव में और तीव्रता आगई। जमनालालजी उस समय पगड़ी बांधते थे।

कांग्रेस के नागपुर-अधिवेशन के अवसर पर मैं भी कांग्रेस में होगया।

तत्पश्चात् जमनालालजी के स्वर्गवास के समय तक मेरा उनका अत्यधिक निकट का संपर्क रहा, न जाने कितनी बार वे जबलपुर आये और हमारे साथ ठहरे और न जाने कितनी बार मैं वर्धा और बम्बई उनके पास गया और उनके साथ ठहरा। मैं उन्हें सदा अपना बड़ा भाई और वे मुझे सदा अपना छोटा भाई मानते थे। एक विशेषता यह रही कि उनके असहयोगी और मेरे पिताजी के दीवान बहादुर होते हुए भी हमारे परिवार के साथ उनका बड़ा स्नेह बना रहा।

राजनैतिक कार्य के अतिरिक्त जीवन में जिन दो कार्यों में उनका विशेष अनुराग था, वे थे हिन्दी की अभिवृद्धि और गो-सेवा। उन्हींसे मेरा भी अनुराग था। इन कार्यों के सम्बन्ध में भी हम लोगों के बीच प्रायः चर्चा होती रहती थी।

जमनालालजी में देशभक्ति, सादगी, कार्य-तत्परता, कर्तव्य-निष्ठा, देश पर सर्व-समर्पण की भावना, संगठन-शक्ति आदि जिन विशिष्ट गुणों का समावेश था, वह उस काल के भारत की एक बड़ी देन थी। उन्होंने अपने इन गुणों के कारण देश की जो सेवा की, वह भारतीय स्वातंत्र्य-इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है। जमनालालजी आदर्शवादी थे, किन्तु उनकी इस आदर्श-वादिता में व्यवहार-कुशलता भी विद्यमान रहती थी।

: ४४ :

वर्धा के वर्धक

मथुरादास मोहता

मेरे पूज्य दादाजी श्री रेखचन्दजी मोहता का स्व. जमनालालजी के पूज्य दादाजी श्रीबच्छराजजी बजाज से भाईचारे का घनिष्ट संबंध था। सन् १९१० से मेरा खुद का निकटवर्ती संबंध भाई जमनालालजी से आरम्भ हुआ।

जमनालालजी युवावस्था से ही व्यापार में अधिक दिलचस्पी लिया करते थे तथा अपना कारोबार मुनीम-गुमाश्तों के अधीन न छोड़कर स्वयं ही किया करते थे।

जापानी लोग मध्यप्रांत में रुई की खरीदी इत्यादि जमनालालजी के द्वारा ही किया करते थे। जापान के उद्योगपतियों का विश्वास उनके प्रति बहुत अधिक था। जमनालालजी की दूकान के नाम एवं छाप से ही हजारों रुई की गांठें विदेशी व्यापारी खरीद लिया करते थे। कारण यह था कि जमनालालजी सचाई व ईमानदारी को प्रारम्भ से ही अपना ध्येय समझते थे।

सभा-सोसायटी का शौक उन्हें युवावस्था से ही था। सन् १९०९ में आपने वर्धा में मारवाड़ी बोर्डिंग हाउस की स्थापना की। फिर मिडिल स्कूल खोला तथा सन् १९१५ में उसे हाईस्कूल कर दिया। इसके साथ ही बम्बई में मारवाड़ी-विद्यालय का प्रारम्भ किया, जिसमें एक बड़ी रकम स्वयं प्रथम दान में दी और बाद में बम्बई के अन्य धनिकों को दान देने को प्रेरित किया। वर्धा में हाईस्कूल का विशाल एवं सुन्दर भवन बनवाने के लिए उन्होंने बड़ी रकम दी और फिर दूसरों से भी प्राप्त की। इस तरह करीब ५ लाख रुपये का फंड मारवाड़ी एजुकेशन सोसायटी, वर्धा के लिए आपने इकट्ठा किया। वर्धा-जैसे स्थान के लिए इतनी रकम इकट्ठा करना उन दिनों सरल बात नहीं थी।

शिक्षा-संबंधी कार्यों के साथ-साथ सरकारी कार्यों म भी वह दिलचस्पी लेते थे, जिसके फलस्वरूप सरकार की ओर से 'रायबहादुर' की पदवी उन्हें मिली। सन् १९१५ से उन्होंने पूज्य महात्मा गांधी से सत्संग प्राप्त किया तथा उनकी कार्य-प्रणाली में श्रद्धा जागृत हुई, जो दिन-प्रतिदिन दृढ़तर होती गई। नतीजा यह हुआ कि 'रायबहादुर' की पदवी सरकार को वापस लौटा दी। उस समय सरकारी क्षेत्रों में सनसनी फैल गई। सन् १९२० में नागपुर के कांग्रेस-अधिवेशन की स्वागत-समिति के वह सभापति हुए। तब से उन्होंने कांग्रेस में दृढ़ता-पूर्वक प्रवेश किया। नागपुर के झंडा-सत्याग्रह के परिणाम-स्वरूप प्रथम बार उन्होंने जेल-यात्रा की। उस समय के मध्यप्रांत सरकार के गृहमंत्री ने इनको इनकम-टैक्स आदि में अनेक सहूलियतें देने का प्रलोभन दिया, परन्तु जमनालालजी ने पूज्य महात्माजी के सिद्धांतों के अनुसार चलने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। अतः वह टस-से-मस न हुए। उनकी प्रकृति की विशेषता थी कि किसी बात की पूर्ण जांच-पड़ताल किये बिना उसपर विश्वास नहीं करते थे और जब कोई बात उन्हें पूर्ण रूप से जंच जाती थी तब उससे टलने का नाम नहीं लेते थे।

सन् १९२० के नागपुर-कांग्रेस-अधिवेशन के बाद वह दिन-प्रतिदिन देश-सेवा में अधिक जुटते गये और व्यापार-धंधे की तरफ से दिल खींचकर नाम-मात्र का ध्यान देते, फिर भी उच्च दर्जे के व्यापारी थे। कारण कि उन्होंने युवावस्था से ही व्यापार की जड़ अच्छी तरह से जमा ली थी। देश-सेवा पर तन-मन-धन न्योछावर कर दिया। जिन-जिन क्षेत्रों में उन्होंने भाग लिया, उनमें पूरी तौर से सफल रहे। सर्वप्रथम सभा-सोसायटी में भाग लिया तो उसमें उनका नाम अग्रगण्य रहा। सरकारी कार्यक्षेत्र में उतरे तो मध्यप्रांत में चमकते हुए व्यक्ति बन गये। पूज्य गांधीजी का संग किया और बापू को वर्धा एवं सेवाग्राम में निवास करने के लिए राजी कर लिया तो वर्धा-जैसा मामूली छोटा शहर, जिसे पहले कोई नहीं जानता था, भारत में ही नहीं, सारे संसार में विख्यात होगया।

: ४५ :

मानवता का पुजारी

काशिनाथ त्रिवेदी

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।"

सुना है, देव अमर होते हैं और अमरावती में रहते हैं। उनको न बुढ़ापा आता है, न बीमारी सताती है। मौत तो उनके पास फटकती भी नहीं। इसीलिए वे अजर-अमर कहलाते हैं। हमारे पुराणों में देवों की और देवलोक की एक-से-एक अद्भुत और अनुपम कथाएं भरी पड़ी हैं। मानव-मन की कल्पना ने उन्हें बड़ा ही सरस, सुहावना और लुभावना स्वरूप दे रखा है।

यह भी सुना है कि एक जमाना था, जब इस भारत-भूमि के राजा-महाराजा, ऋषि-मुनि, साधु-सन्यासी और गृहस्थ सशरीर देवलोक की यात्रा किया करते थे, बड़े-बड़े युद्धों में देवों की मदद करते थे, उनसे नाना प्रकार के वर-वैभव, और शस्त्रास्त्र पाते थे, उनका आतिथ्य ग्रहण करते थे और कभी-कभी उनकी ईर्ष्या व रोष के पात्र भी बनते थे।

सुना तो और भी बहुत-कुछ है, लेकिन देखा किसने है? कहां है वह देवलोक? क्या करते हैं उसके देवता? मानवों से आज उनका कोई संबंध है या नहीं। मानव उनकी मदद करते हैं? वे मानवों की मदद को दौड़े आते हैं? देवों का मानवों के साथ, मानवों का देवों के साथ, वह पुराण-प्रथित मीठा और मोदकारी संबंध कहीं किसीको नजर आता है? कहीं देव और मानव मिलकर पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की चेष्टा में लगे हैं?

मानव से पशु और पशु से पिशाच बना हुआ इस युग का यह दो पैरों-वाला प्राणी इन सवालों का क्या जवाब दे? देवत्त्व उनके आसपास कहीं फटकता हो तब न? मानवता को वह अपने रक्त और स्वेद से सींच रहा हो,

तब न ? जवाब देने के लिए मुंह चाहिए, और मुंह से बात निकालने के लिए मनोबल चाहिए—आत्मबल चाहिए ! वह आज हममें से कितनों के पास है ?

.. .. ..

मैं कहता हूं, मैंने पुराणों के वे देव नहीं देखे, उनकी अमरावती नहीं देखी, उनका वैभव और विलास नहीं देखा, उनकी अजरता और अमरता नहीं देखी, उनके देवत्व के दर्शन भी नहीं किये। मैंने भागीरथ-सा तप नहीं तपा, मैंने ध्रुव-से जप नहीं जपे, मैंने प्रहलाद-सी भक्ति नहीं की। मैं उन्हें कैसे देखता ? कैसे उनके दर्शन करता ? वे क्यों मुझे दर्शन देते ?

फिर भी मैं कहता हूं कि मैंने एक देवपुरुष को देखा, 'मां' की कोख से जन्मे हुए एक मानव को देखा, जो हर बात में अपनी मानवता का परिचय देता था; मानव की तरह हमारे आपके बीच रहता था; खाता-पीता, हँसता-खेलता, कामकाज करता, सोता-बैठता, और बोलता-बतलाता था। उसे गुस्सा आता था; उसमें राग-द्वेष था, वह गिरता था और उठता था; गलतियां उससे होती थीं; पक्षपात वह कर लेता था; पछताने में वह एक था; बड़ा था, मगर छोटा बनकर रहना चाहता था; गरीब पैदा हुआ था, अमीर बन गया था; मगर फिर से गरीब बनने के लिए छटपटाता था। वह मानव था—सवा सोलह आने मानव था।

मैंने उस मानव को देखा था। दूर से देखा था, निकट से भी देखा था। घर में देखा था, समाज में देखा था, आश्रमों में और वनों में भटकते देखा था, बड़ों के बीच और छोटों के साथ देखा था, गरीबों की झोपड़ियों के सामने देखा था, अमीरों और रईसों के महलों में जाते और रहते देखा था। जेल में देखा था और जेल के बाहर भी देखा था। वह सेनानी भी था और सिपाही भी था—मैंने उसके दोनों रूप देखे थे। वह अपनी टक्कर का एक ही साधक था, और उसकी सजग साधना भी मैंने देखी थी।

लोग कहते हैं, वह धनी था। लाखों उसने कमाये और लाखों उसने दिये। देश के लिए दिये, आंख मूंदकर और दिल खोलकर दिये, बिना भेद-भाव के दिये।

मैं भी मानता हूं कि वह धनी था और उसने स्वदेश, स्वधर्म और स्वराज के लिए अपना धन दोनों हाथों से उलीचा था, और शायद दस-दस हाथ से उलीचना चाहता था। उस उलीचनेवाले को अपनी आंखों मैंने उलीचते देखा था—लेकिन सोने-चांदी का यह उलीचना भी कोई उलीचना था?

मानता हूं कि यह भी इस युग की एक अनूठी चीज थी। मगर क्या मेरे उस मानव को इससे संतोष था? नहीं, हजार बार नहीं।

धन के धनी तो इस देश में और इस दुनिया में सैकड़ों-हजारों पड़े हैं, लेकिन मेरा यह धनी केवल सोने-चांदी का धनी नहीं था। वह सिर्फ इतना ही होता, तो आज मुझसे ये पंक्तियां उसकी याद में न लिखी जातीं। मेरे मन में वह जिस धन का धनी था, वह तो हृदय-धन था। इस धन के धनी आज की इस दुनिया में ढूंढ़े नहीं मिलते। मुझे एक वह मिला था और मैं उसे पाकर निहाल होगया था। उसने अपना धन खूब बिखेरा था; खूब बांटा था। उसके पास इस धन की अटूट निधि थी और वह दिन-रात खरचने पर भी दिन-रात बढ़ती ही जाती थी।

मैं कौन? मेरी बिसात क्या? गरीब बाप का बेटा, गरीबनी मां का लाल, गरीबी में पला, गरीबों के बीच रहा—मुझे उस अमीर से, उस लखपति से, क्या सरोकार? वह मुझे क्यों पूछे? और मैं क्यों उसके पास जाऊं?

मैं साबरमती-आश्रम की सड़कों पर झाड़ू लगाता था और मुझे झाड़ू लगाते देखकर ओठों पर एक अजीब-सी मीठी मुस्कान लिये वह मुस्करा देता था। उसकी एक मुस्कान में सराहना थी, सौहार्द था और सरसता थी। मैं तो तब उसे जानता भी नहीं था। नाम-ही-नाम सुना था। मगर दिल दिल को पहचान चुका था। और मन ने मेरे मान लिया था कि जो इस तरह मुझे देखकर मुस्करा सकता है, वह जरूर कोई मानव है—उदार और दिलदार!

उसकी पहली झांकी शायद मैंने वहीं की। वह अपने 'बापू' के पास बार-बार आता था और आकर आश्रम की 'जानकी-कुटीर' में ठहरता था। मैं भी उसे दूर से देख लिया करता था और देखकर खुश हो लिया करता था।

यह सन् उन्नीस की बात है। फिर तीस का स्वातंत्र्य-युद्ध शुरू हुआ।

इकतीस बीता, बत्तीस बीता और बीतते-बीतते छत्तीस का जून महीना आया।

अचानक मुझे तार मिला कि वर्धा में मेरी जरूरत है और मुझे वहां फौरन पहुंच जाना चाहिए। मैं पहुंचा—सकुचाता-शरमाता, मन में एक अजीब-सी भावना लिये। मैं अपने मेजबान से मिला। बातें हुईं और हम आगे की बात करने के लिए पैदल सेवाग्राम के संत की कुटिया की ओर चल पड़े।

मुझे आदेश मिला कि मैं वर्धा में रहूं और वर्धा के महिला-आश्रम की सेवा करूं।

मैंने सिर झुकाया, आदेश को सिर-माथे चढ़ाया और धड़कता दिल लिये एक दिन वहां रहने पहुंच गया।

छत्तीस बीता, सैंतीस बीता, अड़तीस बीता, साल-पर-साल बीतते चले गये और मैं अपनी 'काजल की कोठरी' में भूत बनकर काम करता रहा। भगवान जाने, मेरा काम किसीको पसंद आया या नहीं, मगर मैं उसमें मगन था, क्योंकि वह मेरे मन का काम था।

.. .. ..

जयपुर में प्रजा-मण्डल कायम हुआ। राज के साथ मण्डल की खटपट हुई। मण्डल ने सत्याग्रह की ठानी और मेरा वह मानव सत्याग्रह का सेनानी बना।

वर्धा से विदाई का समय आया। उसने मेरी तरफ देखा। मैंने उसकी तरफ देखा। आंखों ने उसकी सवाल किया। आंखों ने मेरी जवाब दिया। मैंने कहा—जाओ मेरे मानव! निश्चिन्त होकर जाओ और विजयी बनकर आओ। यहां सबकुछ ठीक ही रहेगा—अपने भरसक कोई कसर न रहने दी जायगी।

और वह चला गया। मेरे कन्धों का बोझ बढ़ाकर चला गया। दुर्बल मैं, एकाकी, असहाय, अबूझ, दिनरात एक करके उस बोझ को ढोने लगा। कितनी मिठास, कितना आनन्द, कितना उल्लास, कितनी तन्मयता और कितनी ममता को लेकर मैं उन दिनों भिड़ा रहता था। कौन जानता है? एक ही धुन थी—एक ही लगन। दिन-रात यही खयाल रहता था कि वह

आयगा और उसको हिसाब देना पड़ेगा।

.. .. ..

उसने बोझ लादा था और मैं—अपनी एक बहन के शब्दों में—उसे 'गधे' की तरह ढोये चला जा रहा था। लेकिन उस बोझ ने मुझे 'गधा' नहीं बनाया, बल्कि 'गधे' को मानव बना दिया। मुझे कभी उस बोझ की शिकायत नहीं रही। वह मेरे जीवन का सबसे मीठा बोझ था और मेरे मानव ने उस मिठास में मिसरी घोल दी थी।

यहां इसी महिला-आश्रम में, मैंने अपने मानव के और उसकी बसाई उस नई दुनिया के उस धन का यथेच्छ उपयोग किया, जिसे हृदय-धन कहा जाता है। वे संस्मरण इतने पवित्र और इतने अपने हैं कि उन्हें कलम से कागज पर उतारना संभव नहीं।

सोने-चांदी को आदमी चबा नहीं सकता। उससे न पेट की ज्वाला शांत होती है, न मन और आत्मा की भूख बुझती है। माना कि जीवन में वह भी जरूरी है, लेकिन वही जीवन का सार-सर्वस्व नहीं, उसकी सिद्धि ही जीवन का परम साध्य नहीं। जीवन का सुकुमार और सूक्ष्म पौधा सोने-चांदी की चका-चौंध में पीला ही पड़ सकता है, पनपकर लहलहा नहीं सकता।

महिला-आश्रम की यज्ञभूमि में मुझे इस सत्य का अधिक स्पष्ट दर्शन हुआ। आश्रम मेरेलिए निरा आश्रम ही न रहा, वह तो एक पावन पुण्य-भूमि और यज्ञभूमि बन गया। जितना ही मैं उसकी अनेकविध प्रवृत्तियों में गड़ता गया, उतना ही मेरी आंखों के सामने उस भूमि की महानता और पावनता का स्वरूप स्पष्ट होता गया और मैं अपनी सुध-बुध खोकर दिन-रात उसीमें कैद रहने लगा।

.. .. ..

उन्तालीस का साल था। गर्मियों के दिन। आश्रम बन्द हो चुका था। और आश्रम का प्राण, जयपुर की नौकरशाही का मेहमान बनकर, जयपुर के निकट कर्णावतों के बाग में नजरबन्द था। बुलाहट हुई और मैं जयपुर पहुंचा। कर्णावतों के बाग में उस दिन मैंने उस नजरबन्द को देखा। लाखों का

धनी, हजारों का पालनहार, सैकड़ों का भाई-बन्धु, और सखा, वहां घुटनों का दर्द लिये, गरीबों का-सा जीवन बिता रहा था। वही खान-पान, वैसा ही रहन-सहन, रात-दिन उन्हींके सुख-दुःख का विचार। उस समय वह जयपुर के लाखों प्रजा-जनों का एकमात्र प्रतिनिधि था—उनका सरदार, सेनापति, सेवक और साथी।

दो दिन तक उसके साथ दिन-दिन भर रहने, खाने, सोने-बैठने और बात-चीत करने का सौभाग्य प्राप्त रहा।

आश्रम और आश्रम की एक-एक विद्यार्थिनी के लिए उसके मन में कितनी आशाएं, कितना अनुराग, कितनी ममता, कितनी माया, कितनी दया और कितनी सहानुभूति थी, सो तो मैंने इन दो दिनों में जाना और जानकर मैं कृतकृत्य हो उठा। मेरा सिर झुक गया, मेरा बोझ बढ़ गया।

• •   • •   • •

मैं सोचता हूं कि मृत्युलोक से परे जिस देवलोक की कल्पना हमारे पूर्व-पुरुषों ने की है, वह देवलोक हमसे दूर नहीं, हमसे बाहर नहीं, हमारे पास, हमारे अन्दर पड़ा हुआ है। हम चाहें तो उसमें विहार कर सकते हैं और स्वयं देवरूप बन सकते हैं, हम चाहें तो उससे बेखबर रहकर पशु और पिशाच भी बन सकते हैं। नर भी हमी हैं और नारायण भी हमी हैं—पर्दा हटना चाहिए, दुई मिटनी चाहिए, हिये की आखें खुलनी चाहिए।

हिन्दुओं ने तेंतीस करोड़ देवताओं की कल्पना शायद इसीलिए की थी कि वे अपने बीच किसी दैत्य को, किसी दानव को, किसी पिशाच को, और पशु को पनपने नहीं देना चाहते थे। शायद वह दुनिया को देवत्त्व से भर लेना चाहते थे। जीवन के पल-पल में दानवों और दैत्यों का भीषण त्रास वे सह चुके थे। उनकी विभीषिका से वे त्रस्त हो चुके थे और इसीलिए कदाचित् प्रत्यक्ष को भूलकर परोक्ष की मधुर कल्पना में वे लवलीन होगये थे।

हम भी तो आज इसी तरह त्रस्त हैं, हमारा सबकुछ छीना जा रहा है, अस्तव्यस्त और ध्वस्त किया जा रहा है, पृथ्वी को नरक बनाने में कोई कसर नहीं रखी जा रही है।

ऐसे समय हमें कौन आश्वस्त कर सकता है ? किसकी अमृत-भरी दृष्टि हममें नव-जीवन का संचार कर सकती है ? कौन हमें जीवन का अमर सन्देश सुना सकता है ? कौन मानव की अमरता में हमारी श्रद्धा को बढ़ा सकता है ?

मुझे तो एक ही जवाब सूझता है---वही जो जीवन में प्रतिक्षण मानवता के पुजारी रहे और मरकर अमर बन गये।

राम और कृष्ण को मैंने नहीं देखा, बुद्ध और महावीर को मैंने नहीं देखा ईसा, मूसा और मुहम्मद को मैंने नहीं देखा। शिवाजी और प्रताप को मैंने नहीं देखा, रामकृष्ण और विवेकानन्द को मैंने नहीं देखा, लाल-बाल-पाल को मैंने नहीं देखा, गोखले और रानडे को भी मैंने नहीं देखा।

अगर ये अमर हैं, तो मैं मानता हूं कि मैंने जिस मानव को देखा था, जिसमें मैंने मानवता के निर्मल और उज्ज्वल दर्शन किये थे, जिसकी याद में आंसू की इन लड़ियों में पिरोकर श्रद्धा के ये फूल चढ़ाये जा रहे हैं, वह भी अमरता का एक अनन्य पुजारी था और मरकर अमर होने की साध रखता था। निश्चय ही आज वह मरकर अमर हुआ है, और हमारे हृदय-मन्दिर में देव बनकर निवास करने लगा है। हमारे हृदय में उसका यह स्थान अक्षुण्ण रहे, हमारे हृदय का कोना-कोना उसके प्रोज्ज्वल प्रकाश से निरन्तर प्रदीप्त रहे, आज के दिन उसकी याद में यही तो हम सब चाह सकते हैं।

हमारे बीच एक जोत जलती थी और हम उसे देखते थे। उसके प्रकाश में अपने अँधेरे का नाश करके आश्वस्त होते थे। अब वह जोत हमसे अलग नहीं रही---हममें आ मिली है और हम---उसके चाहनेवाले, उसके देखने वाले---स्वयं प्रकाशित हो उठे हैं। उसने हमें मजबूर किया है कि हम अपनी लौ में उसकी लौ को मिलाकर उसे शतसहस्र गुनी प्रभामयी बना दें।

मैं नतमस्तक हो उसको सौ-सौ बार प्रणाम करता हूं और उसका जय-जयकार करता हूं।

कोई पूछेगा---आखिर तुम्हारा वह मानव कौन था ?

मैं कहूंगा---दुनिया उसको जमनालाल कहती थी, गांधी का वह पांचवां बेटा था और भारत मां का सच्चा सपूत।

: ४६ :

उनके वे शब्द !

दामोदरदास मूंदड़ा

उस दिन ठीक ५२ वर्ष पूरे करके जमनालालजी ने ५३वें वर्ष में प्रवेश किया था। तिथि के अनुसार पांच रोज पूर्व ही उनकी सालगिरह थी। तारीख व तिथि के बीच के इस पांच रोज के अन्तर का उन्होंने आत्म-चिन्तन व मनन में ही उपयोग किया। पांचों दिन पूर्ण मौन रखा। आहार में एक समय फल व शाम को दूसरी बार दूध लिया। पवनार नदी के किनारे उसी जमना-कुटीर में ये पांच रोज बीते, जहां पूज्य विनोबाजी ने भी पिछले दिनों अपना निवास-स्थान बना रखा था। विनोबाजी के चन्द साथियों के अतिरिक्त वहां उस समय एक कपिला नाम की गोमाता भी थीं, जिसकी सेवा में जमनालालजी मातृ-सेवा का सुख अनुभव करते। पांचवें रोज सायंकाल की प्रार्थना के बाद उन्होंने मौन छोड़ा और उस समय जो-जो लोग अपने निकट थे, उनके सम्मुख अपना हृदय खोलकर रख दिया।

सबसे पहले उन्होंने 'मौन' के ही सम्बन्ध में कहना शुरू किया :

"पहली बार मैंने इस प्रकार करीब १२५ घंटे मौन का सुख अनुभव किया। जेल में तथा बाहर मैंने १२ व १४ घंटे का मौन तो कई बार रखा था, परन्तु इस प्रकार लम्बे मौन का यह अनुभव पहला ही है। यों तो मेरी श्रद्धा पहले से ही मौन पर थी, परन्तु अब वह अनेकविध बढ़ गई है। मेरे अनुभव से मैं यह कह सकता हूं कि मौन के कारण कोई काम रुकता तो है ही नहीं, थोड़े समय में अधिक काम होता है और अधिक सुन्दर होता है। गैरजरूरी बातें न बोलते रहने से फिजूल समय भी बर्बाद नहीं होता।"

वे तो शायद गैरजरूरी विचार भी नहीं करना चाहते थे। पूज्य बापूजी ने अपने बयान में इसीलिए उनके इस गुण का उल्लेख करते हुए कहा है

कि अन्त में उन्होंने अपने विचारों पर भी इतना कब्जा कर लिया था कि वे अनावश्यक विचार भी दिल में नहीं आने देना चाहते थे। इन दिनों उनकी विचारधारा व उनका जीवन कुछ इसी तरह अधिक वैराग्यशील होता दिखाई देता था। एक-एक क्षण का सदुपयोग करते हुए वे दिखाई देते थे। गोसेवा के काम की उनकी लगन, परिश्रमशीलता व तन्मयता को देखकर तो उनके साथी, सहयोगी, भक्त एवं इर्द-गिर्दवाले सभी हैरान हो जाते। कितना विकास हो चुका था उनका इन दिनों ! किसी अनन्त की साधना—अखण्ड, अटूट साधना—करते हुए दिखाई देते। हर सांस के साथ, हर क्षण, हर व्यक्ति से बात करते समय, उठते, बोलते, खाते-पीते, सोते, गर्जेकि पल-पल उनका अन्तर किसी ऐसी वस्तु की खोज में व्यस्त दिखाई देता, जिसका समझना सबके लिए असम्भव था।

और जिस सुख की खोज में वे अन्त तक रहे, उसीके लिए साधन जुटाते रहे। जो बातें इस साधन के लिए सहायक नहीं मालूम हुई, उन्हें प्रयत्न-पूर्वक त्यागते रहे और अन्त में जिसकी खोज करते थे, उसे पाकर रहे।

'मौन'-संबंधी अपने अनुभव के उद्‌गारों के बाद उन्होंने फिर कहना शुरू किया—"एक व्यापारी के नाते मैं प्रतिवर्ष अपने जन्म-दिन के अवसर पर अपना पूरा हिसाब जांच लेता हूं। अबतक की अपनी कमजोरियों में से मैं किन-किनको दूर कर सकता हूं और अपनी मानसिक उन्नति के मार्ग में अब भी क्या-क्या रुकावटें हैं—इनका विचार करके, उनका इलाज ढूढ़ने की आदत मैंने डाल रखी है। दो-तीन वर्ष पहले मुझे यह भय था कि शायद मैं अपनी कमजोरियों को अपने जीवन-काल में दूर न कर सकूं। तब मैं विचार करता था कि फिर इस शरीर को पृथ्वी पर बोझ-रूप बनाये रखने से क्या लाभ है ?" स्व. श्री छोटेलालजी की याद इस सिलसिले में उन्हें अक्सर आ जाया करती है। छोटेलालजी बीमार थे। बापू उन्हें देखने के लिए सेवाग्राम से आते। वे इसे बर्दाश्त न कर पाते, अपने-आपको बोझ-रूप मानते। इसलिए उन्होंने कुएं में गिरकर प्राण दिये। जमनालालजी के दिल पर इस घटना का काफी असर रहा। परन्तु अन्त में उन्हें मार्ग मिला—"मैं कुछ

निराश-सा होगया था। परन्तु ईश्वर-कृपा से मुझे बल मिला। सामाजिक व राजनैतिक जीवन में बड़े-से-बड़े सम्मान पा चुका हूं, परन्तु उधर मेरी रुचि अब नहीं है। मैं तो सत्ता व राजनीति के चुनाव से दूर रहना चाहता हूं। सारी सृष्टि को माता के रूप में देखकर अपनी पुत्र-भावना का विकास करना चाहता हूं। यह मार्ग मुझे मेरी गोमाता ने दिखा दिया है।"

इसके बाद के उनके शब्द और भी मौलिक थे—"गैया कितनी ही छोटी क्यों न हो, चाहे उसे दुनिया में आकर एक वर्ष ही क्यों न हुआ हो, उसे देखकर हमारे दिल में मातृ-भाव ही जाग्रत होता है। इसीलिए गोमाता की सेवा का यह व्रत मैंने ले लिया है। प्रत्यक्षरूप से गोमाता की और अप्रत्यक्ष रूप से मातृजाति की सेवा करने का मैंने संकल्प किया है। अन्य प्रवृत्तियों की ओर अब मेरा आकर्षण ही नहीं रहा। हां, जिन-जिन मित्रों या संस्थाओं से मेरा सम्बन्ध अबतक रहा है, उनकी मैं जहां भी रहूं, वहां से यथाशक्य सहायता व सेवा करता रहूंगा। अब और कोई भाव मेरे दिल में नहीं आते। मुझे आज संतोष है।"

पुण्यात्मा की और क्या व्याख्या होती है? अपने निजी आय-व्यय का ब्यौरा भी उन्होंने बतला दिया। कहा, "मेरी इच्छा है कि मेरे जीवन-काल में ही सारा धन सार्वजनिक कामों में लग जाय।" ये सब बातें उन्होंने अपने विदाई के दो माह पूर्व पवनार नदी के किनारे शीतल चन्द्र-प्रकाश में, नीरव बेला में, बड़ी सहज-सरलता-पूर्वक कह डाली थीं। वे शब्द अबतक हमारे कानों में ज्यों-के-त्यों गूंज रहे हैं।

जिस दिन उनकी आत्मा विश्वात्मा में लीन होगई, उसी दिन प्रातः-काल की बात ह। वे अपने निवास-स्थान के कार्यकर्त्ताओं के साथ छोटे-बड़े सबके साथ, बातचीत कर रहे थे। उनका वात्सल्य सभीपर सदा समान रूप से बरसता था। काम की बातें खत्म करके उठते समय उन्होंने कहा—"मेरा खयाल है, मैंने अपने जीवन में किसीका दिल नहीं दुखाया।"

और चार घड़ी के बाद ही सारे देश को उस दुखदाई खबर ने ला दिया।

: ४७ :

नेता भी, बुजुर्ग भी

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

स्वर्गीय श्री जमनालालजी बजाज के संपर्क का जो थोड़ा-सा अवसर मुझे मिला, उसमें मेरे हृदय पर उनके कुछ मानवीय गुणों का काफी गहरा प्रभाव पड़ा। मैंने अनुभव किया कि वे मनुष्य की जांच गहराई से करते थे। उनका सुलझा हुआ दिल और दिमाग शीघ्र ही निश्चय पर पहुंच जाता था। एक बार जिसपर विश्वास करने का वह निश्चय कर लेते थे, उसके प्रति सदा आत्मीयता का व्यवहार करते थे। उनकी इस विश्वास-वृत्ति से उनके लोक-संग्रहकारी स्वभाव को बड़ी सहायता मिली थी। देश के दूर-दूर के तथा विभिन्न स्थानों के विभिन्न व्यक्तियों को लाकर वर्धा में एकत्र करके उनकी सेवाओं का लाभ वहां की विभिन्न संस्थाओं को पहुंचाने की तीव्र इच्छा से उन्होंने वर्धा को एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तीर्थ बना दिया था। अपने निच्छल विश्वास का फल उन्हें मीठा ही मिला। जहांतक मुझे ज्ञात है, कुछ अपवादों को छोड़कर उन्हें प्राय: विश्वासपात्र कार्यकर्त्ता पाने का ही अवसर मिलता रहा। मनुष्य को पहचानने में उन्हें बहुत कम धोखा हुआ।

महात्माजी पर उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्रेम था। वह उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में काफी विकलता अनुभव किया करते थे। एक बार इस विकलता का अत्यन्त उग्र स्वरूप मैंने देखा। पूज्य बापूजी अपने २१ दिन के उपवास के बाद मौसम्बी का रस लेने ही लगे थे और अभी काफी दुर्बल ही थे कि देवदासजी का विवाह आ पहुंचा। पर्णकुटी में, जोकि वास्तव में एक बड़ा भवन है, लोगों की बड़ी भीड़ उस क्रांतिकारी विवाह में सम्मिलित होने को एकत्र होगई। भीड़ का एक जबरदस्त रेला बापू के चरणों को छूने की इच्छा से उनकी चारपाई की तरफ बढ़ा। कमजोर बापू के लिए अंध-श्रद्धा

का यह अत्याचार अत्यन्त भयंकर संकट ले आया था। उसकी कल्पना से जमनालालजी की विकलता सीमा छोड़ बैठी। उन्हें बड़े वेग से बीच में पड़ कर, अपने शरीर को खतरे में डालकर भीड़ को रोकना पड़ा। उस समय अपने प्यारे बापू के लिए अपने प्राण देने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं था।

उनकी एक यात्रा की स्मृति भी मेरे हृदय पर गहरी अंकित है। उनका शारीरिक स्वास्थ्य निर्बल था और मानसिक स्वास्थ्य भी बापूजी के लम्बे उपवास के निश्चय की खबर से भंग हो रहा था। वह अलमोड़ा से पूना की तरफ बड़ी बेचैनी से यात्रा कर रहे थे। उनके और उनके कुटुम्बियों के साथ मैं भी था। उनके स्वास्थ्य के खयाल से उन्हें बिना बताये उनके लिए सैकण्ड क्लास का टिकट खरीद लिया गया और उनका सामान सैकण्ड क्लास में चढ़ा दिया गया। इसपर उन्होंने बड़ी नाराजगी प्रकट की थी और थर्ड क्लास में हम लोगों के साथ बैठकर ही यात्रा करना पसन्द किया था। सामान के पास बैठने के लिए जमनालालजी अपने साथियों में से क्रमशः एक-एक को अपना टिकिट देकर सैकण्ड क्लास में भेजते थे। हर व्यक्ति उनका साथ छूटने के खयाल से थर्ड क्लास से सैकण्ड क्लास की तरफ इस तरह जाता था, जैसे उसे कोई सजा दी जा रही हो। उनकी इस यात्रा में उनके त्याग और लोकप्रियता की एक झलक एक साथ दिखाई दी।

परिचय के प्रारम्भिक दिनों से लेकर उनके स्वर्गवास के कुछ वर्ष पहले तक, उनकी एक प्रिय संस्था की सेवा के सिलसिले में कुछ समय वर्धा रहा। उनके साथ मेरे इस सम्पर्क की कहानी उनके स्नेह और मेरे दुर्भाग्य के द्वंद्व की करुण कहानी है। अस्वास्थ्य तथा कौटुम्बिक उलझनों के कारण मेरा वर्धा-निवास-काल टुकड़ों में बँट गया। उनके स्नेह ने अनेक बार मुझे वर्धा की ओर खींचा, पर हर बार मेरा दुर्भाग्य थोड़े-थोड़े समय के बाद मुझे ग्वालियर खींच लाया। इस कशमकश में भी मेरे हृदय, आत्मा और जीवन ने उस महापुरुष से जो प्रेरणा पाई, उसका महत्व मुझ-जैसे अकिंचन के लिए अतुलनीय है।

: ४८ :

उनकी देन

सरस्वतीदेवी गाड़ोदिया

बात संभवत: १९१९ की है। उस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन दिल्ली में हुआ था। सभापति थे पंडित मदनमोहन मालवीय। दिसम्बर का महीना था। खूब सर्दी पड़ रही थी। इस अवसर पर हमारे घर भोजन करने जमनालालजी दल-बल सहित तीन-चार बार आये। मैंने किवाड़ों के पीछे से छिपकर कई बार उनके दर्शन किये।

एक बार वे भोजन के लिए पधारे तो वहीं कातना आरम्भ कर दिया। उन दिनों वे मोटा-पतला, गांठ-गठीला, सूत कातते थे। तोड़ते भी बहुत थे। मैंने दूसरे कमरे में से थोड़ा-सा पर्दा उठाकर देखा। फिर नौकर को भेजकर चर्खा अन्दर मंगवा लिया और पूनी मंगाकर इकसार तारवाला सूत कात कर उनके पास भेज दिया। उन्होंने आश्चर्य के साथ वह सूत देखा और बड़ी प्रशंसा की।

.. .. ..

१९२३ में बापूजी ने उपवास किया। उस मौके पर श्री जमनालालजी कूचा नटवा में हम लोगों के यहां आकर लगभग ४० व्यक्तियों के साथ ठहरे। इन व्यक्तियों में कस्तूरबा गांधी, अनुसूइया बहन (अम्बालाल साराभाई की बहन), स्वामी आनन्द, शंकरलाल बैंकर आदि-आदि थे।

जमनालालजी को मैंने कई बार यह कहते सुना कि सेठ लक्ष्मीनारायणजी तो मुझसे बड़े हैं, फिर मैं भौजाई के नाते उनसे क्यों नहीं बोलतीं। लेकिन मैं सुनकर भी अनसुनी कर देती थी। एक दिन बोले, "आज ग्यारस (एकादशी) है, बादाम का शीरा खुद सेठानी बनायंगी तो खाऊंगा, नहीं तो नहीं।" आखिर घरवालों के कहने पर मैंने खुद ही बादाम भिगोकर छीले और

हलवा तथा बर्फी बनाई। वे दो और सज्जनों को साथ लेकर आये थे। मैंने खाना परोस दिया।

उन्होंने कहा—"मुझसे बोलोगी तो खाऊंगा, नहीं तो बिना खाए ऊपर चला जाऊंगा। बोलो, राजी हो न ?" इस प्रकार उनका आग्रह देखकर मैं बोलने के लिए राजी होगई। उसके बाद उन्होंने जीम लिया और उसी दिन से बोलना भी चालू होगया।

१९२७ में जब गुरुकुल की शताब्दी मनाई गई तो वहां उन्होंने पर्दा तुड़वाकर साथ भोजन कराया। बापूजी भी उस अवसर पर उपस्थित थे।

.. .. ..

जमनालालजी के संसर्ग में ही मुझे अमृतसर-कांग्रेस में जाने का अवसर और नेताओं से परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। १९३४ में बापू के बुलाने पर जब गाड़ोदियाजी वर्धा गए तो बापू और जमनालालजी दोनों ने ही पूछा कि सरस्वतीदेवी को क्यों नहीं लाये ? इसपर उन्होंने वर्धा से लौटकर मुझे सेक्रेटरी के साथ वहां भेज दिया। कई दिन तक मैं वहां रही।

१९३८ में मैंने मौलवी अब्दुल मजीद से प्राकृतिक चिकित्सा सीखी। बाद में बापू ने हमें तार देकर वर्धा बुलाया। हम वहां गए और दोनों ने मिलकर बापू का प्राकृतिक इलाज किया। मै बराबर सेवाग्राम में रही और बापू की चिकित्सा मिट्टी-पानी से की जाती रही। बाद में हम दिल्ली लौट आये।

जनता-जनार्दन की सेवारूपी चक्की में पिसते-पिसते भाईजी (जमनालालजी) थक गए थे। सन १९४१ के सितम्बर महीने में वे दिल्ली आये और कहने लगे कि अब मैं गोपुरी में ही रहने का निश्चय करनेवाला हूं, इसलिए दिल्ली नहीं आऊंगा। एक ज्योतिषी को भाईजी का हाथ दिखाया। उसने बताया कि सन '४२ में उनको महायात्रा या विदेश-यात्रा करनी पड़ेगी। उस बार मैं उन्हें ट्रेन पर चढ़ाने आई तो यह न समझ सकी कि भाईजी हमसे हमेशा के लिए बिदा ले रहे हैं।

: ४६ :

साहसी और निर्भीक

पंढरीनाथ अंबुलकर

१९२२ में भंडारा जिला राजकीय परिषद् निश्चित की गई थी। मजिस्ट्रेट ने शहर में १४४ दफा जारी कर दी। दूर-दूर से आये लोग किंकर्तव्य-विमूढ़ होगए। जमनालालजी ने सबको जोश दिलाते हुए शहर से कुछ मील दूर (स्टेशन के पास) परिषद् की और उसको सफल बनाकर दिखाया।

१९३४ में देश की शिथिलता को दूर करने के इरादे से उन्होंने विदेशी वस्त्र-बहिष्कार-आन्दोलन शुरू किया। उसी सिलसिले में खामगांव पहुंचने के पहले रास्ते में मैंने श्री संतपांचले गांवकर और उनके सर्पदंश के अद्वितीय प्रयोगों का उनसे जिक्र किया था। खामगांव पहुंचने पर जमनालालजी ने महाराज के बारे में पुछवाया। योगायोग से महाराज भी उस दिन वहीं थे। महाराज ने अपने पास के सांप उन्हें दिखलाए। सांपों के गुण-धर्म तथा जहरीलेपन का वर्णन करते-करते एक कोबरा नाग महाराज ले आये, जिसके दंश से तुरंत मृत्यु हो सकती थी। महाराज ने उसके जहरीले दांत दिखाकर जमनालालजी से कहा, "बोलो, कटवाओगे?" एक पल का भी विलम्ब न करते हुए उन्होंने अपना दाहिना हाथ सामने कर दिया। वह कोबरा था ही। बड़े जोर से जमनालाल को काट खाया। जमनालालजी तनिक भी अस्वस्थ नहीं हुए। अलबत्ता थकान के कारण मलकापुर में रात को थोड़ा ज्वर हुआ। श्री जानकीदेवी कुछ घबराईं। हम भी थोड़े घबराए। रात को ही खामगांव जाकर महाराज से कुछ अंगारा (भस्म या रक्षा) सुबह ही मलकापुर लाई गई। जमनालालजी को हम लोगों की परेशानी-भरी हलचलों का पता लगा, तब वे साथियों की दुर्बलता और कायरता पर बहुत हँसे।

: ५० :

बहुगुणी

नरदेव शास्त्री

जिस वर्किंग कमेटी में अंग्रेजी के दिग्गज पंडित हों वहां जमनालालजी अंग्रेजी के विज्ञ न होते हुए भी अपने चातुर्य से वर्किंग कमेटी के सदस्यों पर अपनी अमिट छाप छोड़ते थे। इससे स्पष्ट है कि वे नितान्त दक्ष पुरुष थे। जरा किसीने कुछ कहा कि प्रथम वाक्य को सुनते ही वे वक्ता के अगले वक्तव्य को भांप जाते थे, ऐसे विचक्षण पुरुष थे स्व० जमनालाल बजाज!

महात्मा गांधी-जैसे संसार के महापुरुष को अपने वश में लाना, उनकी महात्माजी के प्रति अगाध भक्ति का परिचायक है। भक्तों के वश में जब साक्षात् भगवान आ सकते हैं, आ जाते हैं, तब भक्त और शक्त जमनालालजी का महात्माजी को वश में करना कौन कठिन बात थी!

मेरा और स्व० जमनालालजी बजाज का परिचय सन् १९१९ से ही रहा है, जबकि मैं कांग्रेस के कार्यक्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप में उतरा था। सन् १९१९ से १९३१ तक मैं आल इंडिया कांग्रेस-कमेटी में रहा। अतः उसके प्रत्येक अधिवेशन में उनसे किसी-न-किसी विषय पर बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा। प्रति वर्ष कांग्रेस के महाधिवेशन में भी उनसे मिलने का मौका मिल जाता था। वे बोलते कम थे, क्रियात्मक कामों में चुपचाप जुट जाते थे और उनके चुपचाप प्रारंभ किये हुए कार्यों का पता उनके महाफलों से ही चलता था। कांग्रेस का कौन-सा ऐसा काम रहता होगा, जिसमें उनका हाथ काम न करता होगा? ऐसा कौन-सा कार्य होगा, जिसमें वर्किंग कमेटी के सदस्य अथवा महात्मा गांधी उनसे परामर्श न लेते रहे होंगे?

उन्होंने अपने जीवन द्वारा अपनेको केवल कुशल व्यापारी ही सिद्ध

नहीं किया, अपितु पात्रवर्षी पर्जन्य की तरह पात्र-वर्षी महादानी, कुशल सत्याग्रही, विचित्र दूरदर्शी भी सिद्ध किया।

.. .. ..

एक बार कलकत्ते में आसाम-बंगाल का हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन था। महात्मा गांधी इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे और स्वागताध्यक्ष सुभाषबाबू थे। जब सब कार्रवाही हो चुकी तब सम्मेलन की सहायता के लिए अपील की गई। महात्माजी की अपील पर चारों ओर से धन बरसने लगा। पर इसको इकट्ठा कौन करता? महात्माजी ने जमनालालजी की ओर देखा। जमनालालजी ने खड़े होकर एकदम दस-बारह आदमियों के नाम बोल दिये कि भीड़ में जाकर धन संग्रह करें। मेरा नाम भी बोला गया। हम लोग आश्चर्य में पड़ गये कि इतनी शीघ्रता में उन्होंने हमारे नाम कैसे बोल दिये, मानो वे पहले से ही हमारी ताक में थे कि ऐसा मौका आया तो हम लोगों का नाम ले देंगे। अपूर्व दक्षता थी उनकी।

.. .. ..

रामगढ़-कांग्रेस के अवसर पर मेरी उनकी भेंट हुई थी। तब मैंने उनको शरीर से दुर्बल पाया। मैंने कहा, "सेठजी, क्या बात है, इतना दुर्बल तो मैंने आपको कभी नहीं देखा था?" एकदम हँसकर बोले, "शरीर का काम शरीर करता रहेगा, हम अपना काम करते रहेंगे। हमारे काम में कोई रुकावट नहीं है।"

प्रत्यक्ष है कि ऐसा उत्तर वही व्यक्ति दे सकता था, जो कि स्वशरीर में अध्यास न रखता हो।

.. .. ..

एक बार जमनालालजी देहरादून पधारे। आते ही बोले कि दिनभर के लिए एक मोटर ठहरा दो। हम एक मोटरवाले से बातचीत कर रहे थे। इस बातचीत को जमनालालजी ने सुन लिया। उन्होंने झट ताड़ लिया कि मैं अधिक पैसे दे दूंगा। तुरंत बोले—"शास्त्रीजी, इन कामों को आप नहीं कर सकेंगे। हम ठीक कर लेते हैं।"

बात ठीक थी। मैं तो मोटरवाला जो भी मांगता, दे देता। श्रीजमनालालजी ने आधे में ही सब काम ठीक कर लिया।

जयपुर के सत्याग्रह में उन्होंने निर्भयता का जो परिचय दिया, वह महात्मा गांधी के परम शिष्य जमनालालजी के योग्य ही था। वहां के सत्याग्रह के पहले तथा पीछे मुझे जयपुर-राज्य के कतिपय स्थानों में जाने का अवसर मिला था। लोग जमनालालजी को बड़े गौरव के साथ 'जयपुर राज्य का गांधी' कहते थे।

.. .. ..

शतेषु जायते वीरः सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता दश सहस्रेषु त्यागी भवति वा न वा।

एक नीतिकार का वचन है कि ढूंढ़ने निकलो तो सैकड़ों में एकाध शूरवीर पुरुष मिल ही जायगा; हजारों में एकाध पंडित भी मिल जायगा; ढूंढ़ो तो दस सहस्र व्यक्तियों में एकाध अनुपम वक्ता भी मिल जायगा; पर ढूंढ़ने निकलो तो त्यागी पुरुष का मिलना कठिन है। स्व० जमनालालजी इसी चतुर्थ कोटि के पुरुष थे। उनका संग्रह भी त्याग के लिए ही था।

.. .. ..

यदि मुझसे कोई पूछे कि स्व० जमनालाल बजाज क्या थे तो एक ही वाक्य में कहूंगा कि वे थे कांग्रेस-आकाश-मंडल के देदीप्यमान उज्ज्वल तारे। टूटते-टूटते भी वे देश को इतना अमित प्रकाश दे गये हैं कि उस प्रकाश से भविष्य में बहुत काम निकल सकेगा।

: ५१ :

विलक्षण पुरुष

ठाकुरदास बंग

एक बार काकाजी ने मुझे एक पत्र लिखने को कहा। पत्र बहुत बड़े व्यक्ति के नाम जाना था, सो मैंने लिफाफे का उपयोग किया। उनके पास जब गया तो उन्होंने कहा, "पोस्टकार्ड से काम चल जाता। एक पैसा बचता।" उन दिनों लिफाफे की कीमत चार पैसे और कार्ड की तीन पैसे थी। उन्होंने लिफाफा न भेजकर कार्ड लिखने को कहा। पत्र लिख गया तो वही जा सकता था, लेकिन उससे आगे के लिए शिक्षा कैसे मिलती? सच यह है कि वह पैसे का अपव्यय सहन नहीं कर सकते थे। आज उन-जैसे व्यक्तियों का अभाव बहुत अखरता है।

एक बार एक धनी युवक ग्रेजुयेट काकाजी के पास रहने को आया। चार-छः महीने रहा। काकाजी ने उसे राष्ट्र-सेवा की दीक्षा देने का पूरा प्रयत्न किया, लेकिन वह युवक ठहर नहीं पाया। काकाजी बड़े दुःख के साथ मुझसे कहने लगे, "जो धनी है, जिसे पैसे कमाने की जरूरत नहीं है, वह भी देश-सेवा के अर्थ कमाने को छोड़ता नहीं। जो गरीब है, वह आवश्यकता के लिए कमाता है। वह भी देश-सेवा की ओर आता नहीं। तब देश-सेवा कौन करे?"

ऐसा कहते समय उन्हें अत्यन्त दुःख हो रहा था, यह मैं स्वयं अनुभव कर रहा था। बड़े ही कातर स्वर से वे इन शब्दों को बोले थे।

एक बार साम्यवादी विचारधारावाले एक युवक को मैं उनके पास ले गया। उन्होंने उससे कहा, "तुम देश-सेवा में लग जाओ। निर्वाह का प्रबंध हो जायगा।"

मैंने कहा, "यह तो साम्यवादी विचार रखता है।"

उन्होंने सबको आश्चर्य-चकित करते हुए कहा, "इन बातों का मुझे डर नहीं है। वह देश-सेवा करने लग जाय तो खुद-ब-खुद उसे बापूजी की विचार-धारा का महत्व जंच जायगा। हवा में बातें होती हैं तबतक ही 'वाद' चलते हैं। धरती पर पैर जमे कि अहिंसा, रचनात्मक कार्यक्रम आदि सब आ जायंगे।" मैं उनकी देश-सेवा की लगन और व्यवहार-बुद्धि को देखकर दंग रह गया।

एक बार काकाजी मुझसे पूछने लगे, "आज जो बुराइयां भारत में दीख रही हैं, इसका कारण अंग्रेजी राज है या और कुछ?"

मैंने जोश में आकर कहा, "अंग्रेजी राज।"

उन्होंने पूछा, "हममें कुछ चरित्रहीनता थी, इसलिए अंग्रेजी राज आया या नहीं?"

मैं कुछ कहूं कि उसके पहले ही उन्होंने कहा, "अंग्रेजों के आने के पूर्व ही हममें काफी बुराइयां थीं। इसीलिए उनका राज यहां आया और जमा। केवल अंग्रेजी राज को दोष देना न तो सत्य से मेल खावेगा और न इससे अपनी बुराइयां ही दूर होंगी।"

मुझे लगा, काकाजी कितना गहरा सोचते थे और सत्य के प्रति उनकी कितनी गहरी निष्ठा थी। अंग्रेजी राज से लोहा लेनेवाला यह महापुरुष सत्य को कभी नहीं भूलता था।

: ५२ :

बापू के स्वास्थ्य के रखवाले

लीलावती आसर

सन् १९३४-३५ का प्रसंग है। पू० बापूजी को बहुत ही व्यस्त रहना पड़ता था। इससे उन्हें रक्तचाप की बीमारी बढ़ गई। डाक्टर ने सलाह दी कि वे पूर्णतया शारीरिक और मानसिक रूपसे विश्राम लें। उन दिनों बापूजी मगनवाड़ी में रहते थे। उनके आराम से रहने का भार काकाजी पर था। वे इस बात की पूरी ताकीद रखते थे कि आश्रम का कोई व्यक्ति उनसे न मिले। बाहरी लोगों की मुलाकात पर भी वे नियंत्रण रखते थे। पत्र-व्यवहार की भी देख-रेख वे ही करते थे। यह सब होते हुए भी बापूजी की तबीयत ठीक नहीं होती थी। आखिर काकाजी बापूजी को महिला-आश्रम में ले गए। वहां भी वे उनकी देखभाल अच्छी तरह करते थे। बा और महादेवभाई के सिवा किसीको भी बापूजी के पास जाने की छूट नहीं दी। वे खुद भी बापूजी से दूर रहते थे। जानकीदेवी को भी उनके पास नहीं जाने देते थे। शाम को प्रार्थना के बाद बापूजी के स्थान के दरवाजे पर खड़े रहते और किसीको भी उनके पास न जाने देते। एक बार मैं बहुत ऊब गई थी और बापू के पास जाने को उत्सुक थी। मेरा असन्तोष देखकर महादेवभाई ने मुझसे कहा, "मैं शाम को उनके पास जाऊंगा तब तुम्हें अपने साथ ले जाऊंगा।" हम शाम को महिला-आश्रम गए। हमेशा की तरह काकाजी दरवाजे पर खड़े थे। महादेवभाई ने मुझे अन्दर ले जाने की उनसे आज्ञा मांगी। उन्होंने कहा, "महादेव ! अगर मैं लीलावती को अन्दर जाने दूं तो दूसरे किसीको कैसे रोक सकूंगा ?"

महादेवभाई बड़े असमंजस में पड़ गए। उन्हें इस बात का पछतावा

हुआ कि उन्होंने मुझे अन्दर ले जाने का वचन दे रक्खा है। काकाजी और महादेवभाई का आपस में सगे भाइयों से भी ज्यादा प्रेम था। दोनों ही की बापू के प्रति समान भक्ति थी। इस निकट सम्बन्ध को लेकर ही महादेवभाई ने यह मान लिया था कि वे मेरेलिए काकाजी से बापू के पास जाने की छूट ले लेंगे और इसीलिए वे मुझे विश्वासपूर्वक साथ ले गए थे। काकाजी की दृढ़ता देखकर वे स्तम्भित रह गए और दुःखी भी हुए। उन्होंने कहा, "अच्छा, तो मैं लीलावती को वापस ले जाता हूं मैं भी बापू के पास नहीं जाता।"

उस दिन वे बापू के पास नहीं गए। दूसरे दिन सवेरे भी नहीं गए। काकाजी अकुला उठे, परन्तु वे इस बात को बापू तक नहीं जाने देना चाहते थे; क्योंकि वे बापू के स्वास्थ्य की रखवाली कर रहे थे और परेशानी और घबराहट की कोई भी बात उनसे नहीं कहना चाहते थे। उनका यह ध्येय था कि बापू को किसी भी तरह का मानसिक सन्ताप नहीं होना चाहिए। महादेवभाई की गैरहाजिरी का असर बापू पर होगा, यह जानकर उन्होंने महादेवभाई को यह चिट्ठी लिखी—"तुम लीलावती को लेकर पू० बापू के पास जा सकते हो।" और शाम को वे खुद मगनवाड़ी आये। उनके साथ सरदार वल्लभभाई भी थे। उन्होंने महादेवभाई से कहा, "महादेव, क्या यह गुस्सा करने का समय है? बापू क्या सोच रहे होंगे, इसकी कल्पना है क्या? तुमने भले ही लीलावती को वचन दिया हो। उसे ले जाओ, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है।" इसके बाद सरदार ने मजाकिया उनसे कहा, "महादेव, अब तो मान गए न। हम दोनों तुम्हें मनाने आये हैं। अभी और कितना मनवाओगे?" उसके बाद दोनों हँस पड़े।

मैंने कहा, "महादेवभाई! भले ही बापू के पास जायं मुझे जाने की कोई खास जरूरत नहीं है और न मेरा कोई आग्रह है।" काकाजी मेरा कान पकड़कर बोले, "तेरी नाक बड़ी लम्बी है। चल, अब ज्यादा अकलमन्दी दिखाए बिना तांगे में बैठती है या नहीं? बापू के पास रोना बिल्कुल नहीं और न वहां जबान खोलना।" इस तरह काकाजी ने विनोद किया।

इसके बाद हम बापू के पास गए। बापू ने काकाजी से कहा, "आप तो कुछ उदार होगए हो। लीलावती की तकदीर खुल गई दीखती है।"

काकाजी और महादेवभाई हँस पड़े। सरदार ने मजाक में कहा, "आपकी और बा की खिलाई हुई लड़की है न, और रोकर बात मनवाने की शिक्षा भी आपने दे रखी है।" इस तरह हँसी-मजाक की कितनी ही बातें हुईं।

हमने काकाजी के यहां भोजन किया और सारा दिन महादेव-भाई काकाजी के साथ नाराजगी का बदला चुकाने के लिए प्रेमपूर्वक बातचीत करते रहे।

काकाजी की मृत्यु का समाचार सुनकर महादेवभाई को भारी आघात पहुंचा। सेवाग्राम टेलीफोन आया तो महादेवभाई घर में आते हुए आंगन में ही चक्कर खाकर गिर पड़े। वे कहा करते थे कि जमना-लालजी के बिना मैं बापू की कल्पना नहीं कर सकता। उनकी वेदना उन दिनों के लेखों में फूट पड़ी।

वे दोनों बापूजी की आंखों के समान थे। दोनों बापू के बिना जीवन धारणकर सकेंगे, ऐसा नहीं मालूम होता था। दोनों हमेशा यह इच्छा रखते थे कि वे बापू के जीतेजी उनमें समा जायं।

और जैसे ईश्वर ने उनकी प्रार्थना सुन ली हो, दोनों को कुछ ही महीने के अन्दर अपने पास बुला लिया। महादेवभाई और काकाजी दोनों का यह कहना था कि हम संसार के भारी-से-भारी संकट सह लेंगे, प्यारे-से-प्यारे मित्र, पुत्र का वियोग भी सह लेंगे, पर बापूजी को कभी कुछ हुआ तो कैसे सहन कर सकेंगे? उनकी भावना और श्रद्धा इस प्रकार की थी। उन दोनों को बापूजी के पहले ही भगवान् ने उठा लिया और उनकी टेक रख ली।

: ५३ :

मानव के रूप में देवता

बद्रीनारायण सोढ़ाणी

सन् १९३४ के अप्रैल या मई महीने की बात है। मैं नालवाड़ी से चलकर पूज्य बापूजी के साथ रहने की उनसे अनुमति लेने गया था और उनसे स्वीकृति लेकर वापस आश्रम से लौट रहा था। इतने में जमनालालजी, जो वहीं थे, मुझसे पूछ बैठे कि आप कहां से आये हैं और क्या करते हैं? उस समय तक मैं उनके नाम से परिचित था, पर व्यक्तिगत परिचय नहीं था। मेरे यह कहने पर कि मैं सीकर का रहनेवाला हूं और आजकल पूज्य विनोबाजी के पास नालवाड़ी में रहता हूं, उन्होंने मुझसे सीकर के और कई सार्वजनिक व्यक्तियों के बारे में पूछताछ की। उस रोज इतनी ही बात हुई और मैं नालवाड़ी चला गया। दूसरे या तीसरे दिन जमनालालजी ने राधाकृष्णजी को उलहना दिया कि इस तरह सीकर का एक व्यक्ति आश्रम में रहता है और तुमको पता तक नहीं! मैंने सोचा था कि मेरे-जैसे साधारण व्यक्ति उनके सामने कई आते होंगे, इसलिए अपने बारे में उनसे कुछ भी कहना उचित नहीं समझा।

पांच-सात दिन बाद कांग्रेस-कार्य-समिति की बैठक बजाजवाड़ी में होनेवाली थी। जमनालालजी ने उस समय मुझे अपने बंगले पर बुलाया और मेरे पारिवारिक इतिहास की जानकारी ली। पिता जैसे पुत्र को रखता है, ठीक उसी प्रकार उन्होंने मुझे अपने पास रखा और धीरे-धीरे वे मुझसे एक प्रकार से प्राइवेट सेक्रेटरी का काम लेने लगे। उन दिनों हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन इन्दौर में होनेवाला था, जिसकी अध्यक्षता बापूजी ने इसी शर्त पर कबूल की थी कि सम्मेलन के संगठनकर्ता उन्हें एक लाख रुपये की थैली भेंट करेंगे। इस वादे की पूर्ति के लिए जमनालालजी इन्दौर गये तो मैं

भी उनके साथ था। करीब तीन महीने तक मैं उनके पास रहा और इस अर्से में वे मेरा बराबर बच्चों की तरह ध्यान रखते रहे। किसी कारणवश मुझे अपने व्यापार के सम्बन्ध में बर्मा जाना पड़ा। करीब दो साल तक मेरा उनसे पत्रों से ही मिलना होता रहा। सीकर-आन्दोलन में फिर उनका मार्गदर्शन मिला। यद्यपि वहां की पब्लिक कमेटी ने उनकी सलाह नहीं मानी, फिर भी वे कीमती सलाह बराबर देते रहे। उसके बाद जयपुर-प्रजा-मण्डल की स्थापना हुई और सीकर का काम उनके मार्गदर्शन में मैं देखता था। जब कभी वे सीकर आते, मेरे घर पर एक बार जरूर आते और मुझसे सारे परिवार की जानकारी लेते। जब कभी वे मुझे दिक्कत में देखते, तुरन्त मदद कर देते। इस प्रकार के व्यक्तिगत सम्बन्ध से उन्होंने मुझे खरीद-सा लिया था और मेरा सार्वजनिक जीवन भी उनकी प्रेरणा से ही शुरू हुआ।

सन् १९४२ के फरवरी मास की बात है। मैं और श्री लादूरामजी जोशी वर्धा गये और बजाजवाड़ी में उतरे। देखते ही उन्होंने उलहना दिया कि देर से क्यों आये। हम गये थे, उस दिन 'गो-सेवा-संघ की कांफ्रेंस' हुई थी। इस उलहने का हमारे पास कोई जवाब नहीं था।

मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूं कि उस समय मैं वर्धा पहुंच गया था। ११ फरवरी को मैं और जोशीजी बजाजवाड़ी में नाश्ता कर रहे थे। इतने में जमनालालजी आये और लादूरामजी को सम्बोधित करते हुए बोले, "आपका कुरता भी दूध पी रहा है।" बात यों हुई कि श्री लादूरामजी उनको देखते ही प्याले का ध्यान भूल गये और उनकी तरफ देखने से प्याले का दूध उनके कुरते पर गिर गया।

उसके बाद ही एक ऐसी घटना घटी, जिसको जिन्दगीभर नहीं भूल सकते। भरतपुर की तरफ के कुछ भाई वर्धा देखने गये थे। वे बीमार हो गये। किसी तरह इनकी जानकारी जमनालालजी को हुई तो वे स्वयं वर्धा गये और जिस धर्मशाला में वे भाई ठहरे हुए थे, वहां जाकर उनकी दवा-दारू का प्रबन्ध किया। उनके साथ उनका किसी तरह का मेलजोल और सम्बन्ध नहीं था, पर वे तो मानव के रूप में देवता थे। जहां कहीं

भी उनको कुछ पता लग जाता, वे तुरन्त सहायता के लिए चले जाते।

११ तारीख को प्रातःकाल सेठजी ने मुझे बुलाया और नोटिस दिया कि आपको बजाजवाड़ी से दूसरी जगह जाना है। उस दिन मार्शल च्यांग काई शेक आनेवाले थे। हम सहर्ष चले गये।

शाम को करीब ४-५ बजे का समय होगा। एक साईकिल-सवार घबराया हुआ आया, बोला—"जमनालालजी चले गये।" हमें विश्वास नहीं हुआ और ऐसा लगा कि शायद उनकी तबीयत कुछ खराब हो। उन दिनों वे नागपुर जेल से आये थे और उनकी तबीयत अच्छी नहीं थी।

हम तुरन्त बजाजवाड़ी की तरफ गये, पर हमारे पहुंचने से पहले ही उनके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे।

जमनालालजी को मैं सबकी तरह 'काकाजी' कहता ही नहीं था, बल्कि मानता भी था और जबसे वे गये हैं तबसे ऐसा लगता है कि एक सहारा चला गया। यद्यपि उनका स्वर्गवास हुए आज करीब १४-१५ वर्ष होगये हैं, फिर भी मुझे सूनापन-सा अनुभव होता है। वे सिर्फ राजनैतिक योद्धा ही नहीं थे, बल्कि विधायक दृष्टि से भी निर्माणकर्ता थे। मैं समझता हूं, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में जितने जमनालालजी घुले-मिले, उतना शायद ही और कोई घुला-मिला हो।

मैं उनकी निजी लिखा-पढ़ी भी करता था। वे अपनी डाक को तीन भागों में रखते थे। एक में काम दिलानेवालों के पत्र होते थे, दूसरे में बीमारों के तथा तीसरे में विवाह-शादी के और कार्यकर्ताओं की कठिनाई के। इनके अलावा दूसरे विषय वे बहुत कम रखते थे।

: ५४ :

सेवा-मार्ग के प्रेरक

रामेश्वर अग्रवाल

ज़ीवन-नैया को मंझधार से किनारे लगाकर जीवन देनेवाली स्मृतियां मानव-जीवन में बहुत बार नहीं आतीं। जीवन में कुछ ही घटनाएं ऐसी होती हैं, जो अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। वर्षों बीत गये, युग गया, पर वह स्मृति आज भी कितनी ताजा है—जैसे कल की-सी बात हो !

सम्भवत: १९२८ की बात है। रींगस खादी-आश्रम में सेठजी आये थे। कलकत्ते से व्यापारिक सिलसिले में मैं भी उधर पहुंच गया था। अजमेर में मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का अधिवेशन था। उनके गुण-गान सुनकर हृदय उनकी तरफ आकर्षित हो चुका था। तीसरे दर्जे के डिब्बे में साथ सफर करते हुए देखा कि कितनी सादगी इस व्यक्ति में है। इतना बड़ा आदमी होते हुए भी बाजरे की रोटी का गुड़ के साथ सुबह का नाश्ता ट्रेन में हो रहा है। श्री मूलचन्दजी अग्रवाल ने परिचय करवाया तो सेठजी मुस्कराते हुए बोले—"आपके-जैसे युवकों की खादी के काम के लिए बहुत जरूरत है, पर आप तो पैसा कमाने में लगे हो !"

पता नहीं, उस महान् आत्मा के शब्दों में क्या जादू था ! कलकत्ता जाने पर उनके ये शब्द मेरे कानों में बराबर गूंजते रहे। श्री महाबीरप्रसादजी पोद्दार के सत्संग से मैं कलकत्ते से निकल सका। पर मेरी क्या बिसात ? आज जिधर देखो, एक ही आवाज आ रही है। श्री देशपांडेजी कहते हैं—"मुझे राजस्थान में वे ही लाये।" श्री मदनलालजी खेतान कहते हैं—"मुझे भी बिहार-चर्खा-संघ में से वे ही इधर लाये।" कौन जानता है कि उन्होंने कितने व्यक्तियों को सेवा-मार्ग में लगाकर उनको नया जीवन दिया ?

: ५५ :

सादगी के प्रतीक

रुक्मिणीदेवी बजाज

साबरमती-आश्रम में जब कोई विशिष्ट व्यक्ति आते थे तो उनकी देख-रेख का भार अक्सर पिताजी (स्वर्गीय मगनलालजी गांधी) पर ही रहता था। इसलिए प्राय: सभी मेहमानों से हम लोगों का परिचय हो जाया करता था। इसी तरह जमनालालजी से भी बचपन में ही जान-पहचान होगई थी। पिताजी अकसर उनके गुणों का बखान हम लोगों के सामने किया करते थे। पिताजी की और उनकी मित्रता दिनोंदिन बढ़ती गई। हम लोग भी 'काका' कहकर उनको सम्बोधित करने लगे तथा उनको बुजुर्ग की तरह मानने लगे।

गोहाटी-कांग्रेस के पहले वे काफी दिनों तक सपरिवार आश्रम में ही रहे। उस समय उनके पूरे परिवार के साथ निकट सम्पर्क में आने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ। गोहाटी-कांग्रेस में जाने के लिए पिताजी तथा जमनालालजी साथ ही साबरमती से चले। वर्धा होकर जाने का उनका प्रोग्राम बना। मेरी तबीयत उन दिनों अच्छी नहीं रहती थी, इसलिए जमनालालजी ने मुझे अपने साथ वर्धा ले जाने की इच्छा प्रकट की। पिताजी की स्वीकृति पाकर मैं भी वर्धा आगई।

वर्धा में मैं जमनालालजी के साथ ही ठहरी। वहां मैं पुन: बीमार पड़ी। डाक्टरों ने अपेंडिसाइटिस का निदान किया। इसलिए गोहाटी-कांग्रेस न ले जाकर मुझे साबरमती वापस भेज दिया गया, जहां करीब तीन महीने बाद मेरा आपरेशन हुआ। उन दिनों जमनालालजी सासबन में सपरिवार आबहवा बदलने के लिए गये हुए थे। किसी कार्यवश साबरमती आये और यह देखकर कि मुझे जलवायु बदलने की जरूरत है, लौटते

समय मुझे भी अपने साथ ही सासबन लेते गये।

सासबन में उन दिनों आमों की बहार थी। वहां मुझे आमों को संभालने और संवारने का काम दिया गया। हम लोग रोज समुद्र-तट पर सुबह नहाने तथा शाम को टहलने जाया करते थे। वर्षा-ऋतु शुरू होने के पहले ही समुद्र में वर्षा आने के लक्षण दिखाई पड़ जाते हैं। एक दिन समुद्र में खूब जोर का तूफान आया। जमनालालजी ने सब बच्चों के यह आश्वासन देने पर कि हम लोग समुद्र में दूर नहीं जावेंगे तथा पास से ही नहाकर वापस लौट आयंगे मंजूरी दी। पानी में जाते ही हम सब अपना वादा भूल गये और एक दूसरे का हाथ पकड़े आगे बढ़े। दुर्भाग्यवश मेरा हाथ और साथियों से छूट गया और मैं डूबने लगी, किंतु और लोगों ने मुझे बचा लिया। जमनालालजी की इच्छा के विरुद्ध आगे चली गई थी, इसलिए उनके सामने जाने की हिम्मत न पड़ी। बगल के दरवाजे से अन्दर जाकर, स्वच्छ पानी से नहाकर बिस्तर पर लेट गई। पेट में समुद्र का खारा पानी चला गया था, इसलिए काफी घबराहट हो रही थी। काकाजी को पता लगते ही वे मेरे पास आये। भूल के लिए हल्की-सी डांट हँसते-हँसते ही दी और जबतक मेरी घबराहट दूर नहीं हुई तबतक वे और जानकीदेवीजी मेरे पास ही बैठे रहे। लगता था कि मेरे पास मेरे माता-पिता ही बैठे हुए हैं।

सासबन में जिस मकान में हम लोग रहते थे उसके बाग में फलों के बहुत तरह के पेड़ थे। एक दिन बाग के मालिक एक पका हुआ कटहल ले आये। काकाजी ने हम लोगों से कहा कि चलो, कटहल खावें। किन्तु उनके सिवा यह फल किसी को पसन्द नहीं था, इसलिए कोई भी जाना नहीं चाहता था। जमनालालजी माने नहीं। कहने लगे, यह बहुत फायदे की चीज है। ईश्वर ने कोई भी वस्तु निरर्थक नहीं बनाई है। खैर, हम सबको थोड़ा-थोड़ा देकर स्वयं उन्होंने भी हमारे साथ ही बड़े प्रेम से वह कटहल खाया। जमनालालजी की यह विशेषता थी कि जहां भी वे जाते थे, उन्हें यह जरा भी पसन्द न था कि उन्हें अन्यत्र होनेवाले महंगे फल खिलाये जायं। उनकी इस भावना में सादगी के अलावा प्रकृति का प्रेम भी झलकता था।

: ५६ :

हरिजन-सेवा

पूनमचन्द बांठिया

जबसे कांग्रेस ने महात्मा गांधीजी के अस्पृश्यता-निवारण-प्रस्ताव को स्वीकार किया तबसे जमनालालजी इस तरफ थोड़ा ध्यान देने लगे। उस समय के वातावरण के अनुरूप उन्होंने हरिजन-बस्तियों में प्रचारक रख दिये और हरिजन-छात्रों को वजीफा भी देना शुरू कर दिया था। इस कार्य में जितना भी खर्च होता था, वह सेठजी अपने पास से किया करते थे। मगर इस तरह की सेवा करने से उनका दिल नहीं भरता था और वह हर समय यही सोचा करते थे कि कोई बड़ा और ठोस काम इस दिशा में किया जाय। अन्त में उन्हें एक मार्ग सूझ गया। वह यह कि हरिजनों को सार्वजनिक कुंओं पर पानी भरने की छूट होनी चाहिए और मंदिरों में उन्हें दर्शन करने को जाने की इजाजत मिलनी चाहिए। यह बात जब उनके ध्यान में आई तो उन्होंने सबसे पहले अपने घर से ही सुधार करने का निश्चय किया। पर इस मार्ग में उनके सामने कई अड़चनें थीं। इनके पूर्वजों के बनवाये हुए श्री लक्ष्मीनारायण के भव्य मन्दिर की व्यवस्था ट्रस्टियों के हाथ में थी और एक धर्मशाला की भी व्यवस्था ट्रस्टियों के हाथ में थी। इसलिए कोई भी काम बिना ट्रस्टियों की इजाजत के करना अवैध था। दूसरे सेठजी मत-स्वतंत्रता को शुरू से ही मानते आये थे, इसलिए उनके लिए तो यह और भी कठिन बात थी। उन्होंने मन्दिर के तथा धर्मशाला के ट्रस्टियों को समझाना शुरू किया और उन्हें बतलाया कि इस समय देश को हरिजनों के साथ न्याय करने की जरूरत है। इसलिए अपना मन्दिर, धर्मशाला और कुएं हरिजनों के लिए खुल जाने चाहिए, जिससे देश के काम में अधिक जागृति उत्पन्न हो। पर ट्रस्टी लोग इस तरह कहां माननेवाले थे। सेठजी ने

धैर्य न छोड़ा। सतत प्रयत्न करते रहे और उन्हें युक्ति से समय-समय पर समझाते रहे। अन्त में धर्मशाला के ट्रस्टी इस बात पर राजी होगये कि धर्मशाला के कुएं हरिजनों को पानी भरने के लिए खोल दिये जायं। इस निर्णय के अनुसार वर्धा की बच्छराज धर्मशाला के कुएं सन् १९२७ में खोल दिये गए। इस तरह यह कार्य देश में पहला ही था। जब इस कुएं का उपयोग हरिजन करने लगे तब सेठजी ने अपनी मालिकी के अन्य कुएं, जो बगीचों, गांवों और खेतों में थे, खोल दिये। इस काम में थोड़ी-थोड़ी अड़चनें जनता और कर्मचारियों द्वारा आईं, पर उससे कोई डरने-जैसी बात पैदा नहीं हुई।

जब सेठजी इस काम में सफल होगये तब वे मन्दिर हरिजनों के लिए जल्दी खोल देना चाहते थे। इसका वह प्रयत्न करने लगे। पर काम जितना सरल दीखा उतना ही वह कठिन था, क्योंकि मन्दिर के ट्रस्टी कट्टर सनातनी थे और उनका विचार था कि इस तरह की कल्पना तक करने में पाप लग जाता है। इस तरह के ट्रस्टियों को प्रेम से समझाना सेठजी-जैसे आदमी का का ही काम था। उन्होंने कहा कि देश का वायुमंडल अभी हरिजनों के पक्ष में है और उनके साथ जो अन्याय हुआ है उसके निराकरण का भी यही समय है। अगर हमने समय की पुकार के साथ काम नहीं किया तो अन्त में पश्चात्ताप करना ही शेष रह जायगा। पर यह बात ट्रस्टियों के गले एकदम किस तरह उतर सकती थी! सेठजी ने उन्हें वर्षों तक नीति और युक्ति से समझाया। अन्ततोगत्वा वे लोग इस बात को मान गये कि मन्दिर खुलना तो चाहिए, पर उन्होंने कहा कि अभी समय नहीं है, दूसरों को करने दो, फिर देखा जायगा। सेठजी का आग्रह था कि अगर आप इसको ठीक समझते हैं तो इस काम को सबसे पहले करने के लिए आप आगे आवें। ट्रस्टी कहते थे कि अभी हिम्मत नहीं होती। सेठजी का प्रयत्न चालू रहा। एक बार तो ट्रस्टियों ने यहांतक कह दिया कि अगर आप चाहें तो हम लोग ट्रस्टीशिप से त्यागपत्र दे दें, आप नए ट्रस्टी बनाकर यह काम कर सकते हैं। सेठजी ने कहा कि अगर इसी तरह कार्य करना होता तो आजतक आप लोगों को समझाने में न लगा रहता। मेरी इच्छा है कि आप सब ट्रस्टी मिलकर इजाजत दें तब

मन्दिर खोला जाय,क्योंकि यह काम एक व्यक्ति का नहीं है। इसमें सबके सहयोग की जरूरत है। देश का वातावरण हरिजनों के पक्ष में दिन-दिन मजबूत होता जा रहा था। सेठजी ने कुएं खुलवाने के आन्दोलन में काफी काम किया। वर्धा जिले के कई गांवों में उनके प्रयत्न से कुएं खुल गये।

इसी अर्से में सेठजी ने श्री हरिभाऊ उपाध्याय के साथ रेवाड़ी-आश्रम में मेहतरों के यहांपर भोजन किया। इस बात की खबर सारे देश में बिजली की तरह फैल गई। मारवाड़ी-समाज में तो एक तरह उल्कापात-सा होगया। जहां देखो, मारवाड़ी-समाज में यही एक चर्चा थी कि सेठजी ने भंगियों के यहां भोजन करके हमारी नाक कटवा दी, धर्म को डुबो दिया, आदि आदि।

सेठजी के प्रयत्नों से मन्दिर के ट्रस्टियों के दिल पिघल गये और उन्होंने अनुमति दे दी। मन्दिर की ट्रस्ट-कमेटी ने वर्धा का लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर हरिजनों के लिए खुला करने का प्रस्ताव पास किया और उसकी एक तिथि भी निश्चित की। समाचार-पत्रों द्वारा यह खबर सारे देश में फैल गई।

इधर जगह-जगह के सनातनी ऐसा न करने के लिए प्रस्ताव पास करके सेठजी के पास भेजने लगे। अन्त में एक बड़ा भारी शिष्ट-मंडल वर्धा के सनातनी भाई मन्दिर खुलने के दो दिन पहले सेठजी के पास लेकर आये। इस शिष्ट-मंडल में करीब डेढ़-दो-सौ बड़े-बड़े आदमी थे। इनसे जो उनका वार्तालाप हुआ, वह बड़ा मनोरंजक था। उसकी थोड़ी-सी झांकी यहांपर देना अनावश्यक न होगा।

सदस्य—शिष्टमंडल के हम सदस्य आपके पास इसलिए आये हैं कि आप अपना मन्दिर हरिजनों के लिए न खोलें।

सेठजी—क्यों ?

सदस्य—इसलिए कि धर्म डूब जायगा।

सेठजी—मुझे मन्दिर न खोलने से धर्म डूब जाने का डर है।

सदस्य—खैर, आप पांच-चार साल के लिए इस काम को न करें।

सेठजी—तो क्या, फिर आप पांच साल के बाद मुझे इस तरह करने में

पूरी मदद करेंगे ?

सदस्य—मदद तो नहीं कर सकते हैं, पर हां, हम यह चाहते हैं कि अभी मन्दिर नहीं खुलना चाहिए।

सेठजी—आप शिष्टमंडल लेकर और मुझे अपनी बात समझाने के लिए आये हैं। इसलिए आपने जो कहा, वह मैं मानने के लिए तैयार हूं, फिर आपको क्या अड़चन है ?

सदस्य—सेठजी, हम बहस में तो आपसे जीत नहीं सकते हैं। इसलिए हम यही कहते हैं कि आप हमारी बात मानें, क्योंकि आप हमारे नेता हैं।

सेठजी—अगर आप मुझे नेता मानते हैं और आप चाहें वह काम मैं करूं, तो फिर मैं यह भी चाहता हूं कि आप भी मेरी एक बात मानें तो फिर मैं आपकी बात मानूं।

सदस्य—आप हमसे क्या चाहते हैं ?

सेठजी—आप यहांपर जो लोग आये हैं, वे अगर जीवन-भर खादी पहनने की प्रतिज्ञा करें तो मैं पांच साल तक मन्दिर हरिजनों के लिए नहीं खोलूंगा।

सदस्य—यह बात तो हमसे नहीं हो सकती। आप कोई दूसरी बात कहें तो हम करेंगे।

सेठजी—हरिजनों के लिए मन्दिर खुलना चाहिए, यह बात तो आप भी स्वीकार करते हैं। पर आप चाहते हैं कि अभी कुछ समय तक ठहर जाना चाहिए। मान लीजिए कि मैं एक दूसरा मन्दिर बर्धा में बनवा दूं, जिसमें आधी रकम आप लोग दें और आधी मैं दूं। वह मन्दिर अगर हरिजनों के लिए खोल दिया जाय, तो फिर कोई हर्ज है क्या ? क्या आप लोग इस काम में अपने नेता की मदद करेंगे ?

इसपर सब लोगों ने चुप्पी साध ली।

सेठजी—आप मेरी एक भी बात मानना नहीं चाहते और मैं आपकी बात मान लूं, जिसे मैं समझता हूं कि नहीं करना चाहिए।

सदस्य—हम तो आशा लेकर आये थे। आप नहीं मानते तो हम जाते हैं।

इस तरह वे लोग वापस चले गये। कुछ लोग फिर भी समझाने के लिए ठहर गये, पर उनकी बात का कोई असर न हुआ।

जब मन्दिर के ट्रस्टियों ने मन्दिर हरिजनों के लिए खोलने का निश्चय कर लिया, तब जमनालालजी की जिम्मेदारी पहले से भी अधिक बढ़ गई, क्योंकि अब आगे जो कठिनाइयों का तांता बंधनेवाला था, उसके लिए उन्हें पहले से ही तैयार हो जाना जरूरी था। इसलिए उन्होंने अपने खास व्यक्तियों से चर्चा शुरू कर दी और सावधान रहने को भी कह दिया।

मन्दिर खुलने के एक दिन पहले वर्धा में सनातनियों की एक विराट सभा हुई। बाहर के कई बड़े-बड़े नेतागण आये और मन्दिर किसी भी हालत में न खुलने पावे, इसका उपदेश जनता को देते रहे। एक भाषणकर्त्ता ने तो यहां-तक कह दिया कि कल मैं मन्दिर के सामने जाकर सत्याग्रह करूंगा।

इधर जमनालालजी रात-भर आराम से सो नहीं पाये। नई जोखम का बार-बार खयाल आता था। कल न जाने क्या-क्या घटनाएं हो जायंगी, इसकी किसीको भी कल्पना न थी। जमनालालजी को विश्वास था कि वह अच्छा काम कर रहे हैं। उसमें सफलता अवश्य मिलेगी। इस तरह रात खतम हुई। सुबह ६-७ बजे के करीब जमनालालजी व अन्य कई मित्र गांधी-चौक में आकर जमा होने लगे। कांग्रेस के कार्यकर्त्ता भी काफी तादाद में आगये। उधर सनातनी लोग भी मन्दिर से करीब ५० गज दूर जमा हो रहे थे। तरह-तरह की गप्पों का बाजार गर्म था। पुलिसवालों के पास यह खबर थी कि आज मार-पीट होगी, संभवतः खूनखराबी भी होजाय। इस तरह की अफवाहों से पुलिस वाले बेचैन होगये थे। अंत में पुलिस सब-इंस्पैक्टर जमनालालजी के पास आया और अलग ले जाकर बोला कि दंगा हो जाने का डर है। अगर आप कहें तो यहांपर (मंदिर के आसपास) कुछ पुलिसवालों को तैनात कर दूं। जमनालालजी ने हँसकर कहा कि मुझे तो दंगा होने की कोई आशा नहीं है। दूसरे, हम दंगा करके कोई काम करना भी नहीं चाहेंगे। आपकी मदद की मुझे कोई जरूरत नहीं है। आप अगर चाहें तो अपने नियमों के अनुसार अपने थाने में तैयारी करके रहें और जब आपको जरूरत मालूम पड़े तब आ

सकते हैं। पर इस काम के लिए मुझे पुलिस की कतई जरूरत नहीं है। यह बात सुनकर सब इन्स्पैक्टर चला गया।

निश्चित समय पर याने सुबह के ८ बजे हरिजनों की एक टोली भजन करती हुई श्री परांजपे की अध्यक्षता में आई और मंदिर में प्रवेश किया, फिर आहिस्ता-आहिस्ता हरिजनों की और कई भजन-मंडलियां आती गईं और वे मन्दिर में बैठकर भजन करने लगीं। उधर सनातनी लोग न तो सत्याग्रह ही करने आये और न विरोध करने। उल्टे वह सड़क साफ करनेवाले मेहतर-मेहतरानियों को पकड़-पकड़कर मन्दिर में भिजवाने लगे। यह काम तो उन्होंने द्वेषवश किया था, पर जमनालालजी के लिए तो वह सहायक होगया। इस तरह उस दिन १२ बजे तक करीब तीन-चार हजार हरिजनों ने भगवान के दर्शनों का लाभ लिया।

इस तरह बिना किसी अड़चन के जमनालालजी का यह 'यज्ञ' समाप्त हुआ। कई हरिजनों ने भगवान के दर्शन करने के बाद आ-आकर जमनालालजी के कार्य की प्रशंसा की और धन्यवाद दिया।

जमनालालजी की रातभर की चिन्ता प्रसन्नता में बदल गई। चेहरे पर सदैव की तरह खुशी झलकने लगी।

इधर यह हो रहा था, उधर मन्दिर के पुजारी, रसोइया, कथा-वाचक, नौकर आदि गायब होगये। कह दिया कि अब हम यहांपर काम नहीं करेंगे। ऐन वक्त पर इस तरह सब काम करनेवालों का गायब हो जाना मामूली बात नहीं थी। सारा काम मन्दिर का मिनटों में अड़ जाता, पर जमनालालजी इस बात को जानते थे। उन्होंने पहले से ही राष्ट्रीय विचार रखनेवाले आदमियों से बात कर रखी थी। उन लोगों के जाते ही इन आदमियों ने काम शुरू कर दिया।

शाम को गांधी-चौक में एक बहुत बड़ी सभा हुई, जिसमें विनोबाजी का बड़ा हृदयस्पर्शी भाषण हुआ और जमनालालजी की हिम्मत तथा दृढ़ निश्चय की सराहना की गई।

समाचार-संस्थाओं ने यह समाचार सारे देश में बिजली के वेग की तरह

फैला दिया। चारों ओर से सेठजी के पास इस कार्य के लिए धन्यवाद के पत्र और तार आने लगे, जिसमें पंडित मदनमोहन मालवीय का पत्र उल्लेखनीय है तथा काशी के कई विद्वान् पंडितों ने संयुक्त पत्र सेठजी को भेजा, जिसमें लिखा था कि आपका यह कार्य शास्त्रोक्त है।

सेठजी के इस कार्य की कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने भी प्रशंसा की। तब कांग्रेस ने भी एक कमेटी की स्थापना, जिसका यह काम था कि दूसरे मन्दिर भी हरिजनों के लिए खुलवाने का प्रयत्न किया जाय। इस कार्य के लिए महात्मा गांधी ने स्वामी आनन्द को खास तौर पर चुना।

जब यह काम जमनालालजी के प्रयत्न से पूरा हुआ तो उनके दिल में आया कि मन्दिरों के ट्रस्टियों में हरिजनों को ट्रस्टी के पद पर क्यों न लिया जाय? इस विचार-सरणी के आधार पर सेठजी ने मन्दिर के बोर्ड आव ट्रस्टीज में एक हरिजन को ट्रस्टी बनाया।

यह काम हो जाने पर हरिजनों के अधिक नजदीक आने के लिए अपने यहां उन्हें नौकर रखा तथा उनके हाथ से भोजन आदि करना शुरू किया।

इनसब कामों के बाद ही महात्माजी ने हरिजन-आन्दोलन शुरू किया तथा अपने पत्र 'नवजीवन' का नाम 'हरिजन' रखा। 'हरिजन' नामकरण भी बाद में ही हुआ।

इस प्रकार जमनालालजी ने सबसे पहले इन कार्यों को किया। इन कार्यों को करने में उन्हें कष्ट, चिन्ता आदि अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, पर कोई भी शक्ति उन्हें अपने निश्चय से न डिगा सकी।

इनसब कामों को करते हुए भी जमनालालजी ने व्यक्तिगत विचार-स्वतंत्रता को पूरा महत्त्व दिया तथा जिन लोगों का इन कामों से असहयोग रहा, उन्हें अपने विचारों के अनुसार काम करने की स्वतंत्रता दी। कभी भी उन्होंने उनके विचारों में किसी भी प्रकार का विघ्न या दबाव डालना नहीं चाहा। इसमें उनके रिश्तेदार, नौकर-चाकर, मित्र आदि सब शामिल थे। मगर उन्होंने किसीके भी साथ संबंध नहीं छोड़ा और पूर्ववत् उनके साथ व्यवहार किया। इस तरह का होना उस समय कठिन था, पर वह यही कहते थे कि जब इनको सत्य के दर्शन हो जायंगे तो ये खुदही इस बात में विश्वास करने लगेंगे।

: ५७ :

जयपुर की याद उन्हें सदा रही

दामोदरदास मूंदड़ा

जमनालालजी की सेवाएं अनेक-विध थीं। रियासतों के प्रश्न पर वे गम्भीरतापूर्वक सोचते और उनकी सलाह वर्किंग कमेटी के लिए निर्णायक मानी जाती। किसी एक रियासत में प्रत्यक्ष कार्य करके रियासती कार्य-कर्त्ताओं के सामने उदाहरण रखने की उनकी स्वाभाविक इच्छा थी। जयपुर-राज्य-निवासी होने के कारण जयपुर को एक आदर्श रियासत बनाने की भी उनकी भावना रही। इस भावना ने उन्हें जयपुर की ओर अधिकाधिक आकर्षित किया। ऐसे भी बहुत पहले से उन्होंने रियासती मामलों में दिल-चस्पी लेना प्रारंभ किया था और उनका प्रभाव भी बहुत पड़ता था। बिजोलिया-आन्दोलन के समय वे स्वयं महाराजा बीकानेर से मिले, उदयपुर के प्रधान मंत्री के नाम उनसे पत्र लिया और जो समझौता करवाया उसकी तो स्वयं महाराणा साहेब एवं सर सुखदेवप्रसादजी ने भी प्रशंसा की थी। हैदराबाद के लिए उन्होंने जो कुछ किया और बहुत ज्यादा किया, वह तो बहुत कम लोग जानते हैं। इसी तरह अन्य रियासतों के साथ भी उनका काफी संबंध आया।

जयपुर राज्य प्रजा-मंडल की स्थापना वैसे तो १९३१ में हो चुकी थी, परन्तु १९३६ में वनस्थली-बालिका-विद्यालय के उत्सव के समय इसका पुन-र्गठन हुआ। उस समय वनस्थली में जो बातचीत हुई उसमें जमनालाल-जी का प्रमुख स्थान था। इसके बाद प्रजा-मंडल का संगठन बढ़ता गया। ८ मई १९३८ को इसका पहला सालाना जलसा किया गया।

जमनालालजी प्रजा-मंडल के सूत्रधार बने ही थे कि उनकी न्याय-बुद्धि, समय-सूचकता और त्याग की कसौटी का समय आगया। सीकर में राव

राजा के पुत्र कुंवर हरदयालसिंह के विलायत जाने के मसले को लेकर जयपुर दरबार और राव राजा के बीच जो झगड़ा पैदा हुआ उसके कारण सीकर के लोगों के दिल का जयपुर दरबार के प्रति पुराना दबा हुआ असंतोष एकाएक भड़क उठा। दोनों ओर से खून बहाने का काफी सामान इकट्ठा होगया। ऐसी परिस्थिति में श्री जमनालालजी ने अपनी जान को खतरे में डालकर सीकर में शांति स्थापित न की होती तो सीकर-काण्ड की दुखदाई घटना न मालूम कितना भयंकर रूप धारण कर लेती। सीकर की जनता ने जमनालालजी का एकाएक साथ दिया हो, ऐसी भी बात नहीं है। एक बार तो उन्हें वहां से निराश होकर ही लौटना पड़ा। इनकी अहिंसा की बात मानने से सीकर के लोगों ने साफ इन्कार कर दिया और वह भी इसलिए कि उस समय हथियार रख देने में ही अधिक बहादुरी और त्याग की आवश्यकता थी। उन्होंने सीकर की प्रजा के सामने सीकर के शुभ-चिन्तक के नाते "अपना कलेजा खोल कर" ता. १३-५-३८ को जो ऐतिहासिक अपील प्रकाशित की थी, उसके ये शब्द कितने महत्वपूर्ण हैं—"सीकर की प्रजा मेरा साथ देगी तो मुझे अवश्य ही अधिक-से-अधिक सफलता मिलेगी। इसमें किसी तरह का धोखा होगा यह समझने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। अगर धोखा होगा तो मेरे साथ तथा प्रजा-मंडल के साथ होगा। मेरे या प्रजा-मंडल के साथ किये हुए धोखे का जवाब मैं और प्रजामंडल सीकर की जनता की तरफ से देने की कोशिश करेंगे। और इस कोशिश में मुझे और मेरे साथियों को बड़ी-से-बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा तो उसके लिए हम जनता के सेवक अपना अहोभाग्य समझेंगे। उस हालत में मैं खुद जनता को शान्तिमय सत्याग्रह का आन्दोलन जारी करने की सलाह दूंगा और उस लड़ाई के सिपाहियों में मैं सबसे पहले अपना नाम लिखवाने का आपके साथ वादा करता हूं।"

सीकर के मामले में जयपुर के साथ उनका जो समझौता हुआ था उसपर जयपुर ने अमल नहीं किया। जमनालालजी के शब्दों में "वह एक पहले दर्जे का विश्वासघात ही था, जो जयपुर ने उनके तथा सीकर की प्रजा के साथ

किया था।" लेकिन आम तौर पर जनता में जमनालालजी और जयपुर राज प्रजा-मंडल के प्रति विश्वास की भावना बढ़ती ही गई। सीकर में होनेवाले एक महान् हत्या-काण्ड को रोकने का श्रेय जमनालालजी को ही था, इसमें दो मत नहीं हो सकते। जयपुर के वे अधिकारी, जो इस मामले में अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं कर सके और इसलिए निराश और प्रजा-मंडल से नाराज होगये थे, वे अब जमनालालजी और प्रजा-मंडल की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को कम करने के उपाय सोचने लगे। इधर पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट की नीति भी रियासतों के मामले में काफी अनुदार बनती गई। इस समय ब्रिटिश भारत में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल काम कर रहे थे। फेडरेशन का मसला सामने था। अंग्रेजी हुकूमत रियासतों में जमा हुआ अपना हाथी का पैर हटाना नहीं चाहती थी और इधर आम तौर पर सभी रियासतों में प्रजा का आन्दोलन बढ़ता जा रहा था। फिर जयपुर को तो बापूजी का आशीर्वाद जमनालालजी का नेतृत्व और हीरालालजी शास्त्री-जैसे ऊंचे दर्जे के कार्य-कर्त्ता की सेवाएं प्राप्त हुई थीं। इस त्रिवेणी ने जयपुर राज्यभर में लोक-जाग्रति के अंकुर को इस कामयाबी के साथ सींचा कि उससे प्रकट होनेवाले फल की कल्पना से जयपुर के प्रधान मंत्री सर बीचम मानों घबरा उठे। उन्होंने यह तय किया कि अब जमानालालजी को जयपुर आने ही न दिया जाय। फलतः ता० २९-१२-३८ को जयपुर जाते हुए सवाई माधोपुर स्टेशन पर जयपुर-सरकार ने जमनालालजी के जयपुर-प्रवेश पर पाबंदी लगाई। जमनालालजी इस समय अकाल-सेवा और प्रजा-मंडल की साधारण सभा के लिए जयपुर जा रहे थे। अकाल-सेवा का कार्य इस समय वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण था। प्रजा-मंडल ने यह भी घोषित कर दिया था कि वर्त्तमान नाजुक परिस्थिति में वे अकाल-सेवा का ही कार्य करनेवाले हैं, लेकिन जयपुर-सरकार नहीं चाहती थी कि इस तरह प्रजा-मंडल का संबंध जनता से बढ़े और उन्होंने यह भी तय कर लिया था कि प्रजा-मंडल के बढ़ते संगठन को हर तरह से रोका जाय। जमनालालजी पर लगी पाबन्दी इस दिशा में उनका पहला कदम था।

अगर जमनालालजी चाहते तो इस हुकम को ठुकराकर उसी समय जयपुर जा सकते थे। देशभर में उनकी बहादुरी की तारीफ भी होती, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। जल्दबाजी को वे हिंसा और कमजोरी समझते थे। सत्याग्रह के सिद्धान्त के अनुसार यह भी जरूरी था कि प्रतिपक्षी को विचार करने के लिए पूरा समय दिया जाय। फलत: वे जयपुर न जाते हुए बारडोली गये। जयपुर के प्रधान मंत्री के साथ, पूज्य महात्माजी एवं जमनालालजी का पत्र-व्यवहार चला। पूरे दो महीने की कोशिश के बाद जब जमनालालजी ने देखा कि जयपुर-सरकार के दरबार में सुनवाई होने की कोई संभावना नहीं है तब पूर्व निश्चयानुसार १ फरवरी १९३९ को उन्होंने जयपुर-स्टेशन में प्रवेश कर दिया।

इसके बाद का सारा इतिहास कम रोमांचकारी नहीं है। जमनालालजी ने दो बार जयपुर में प्रवेश करने की कोशिश की और दोनों बार अधिकारी ने उनके साथ अमानुषी व्यवहार किया। सैकड़ों मील उन्हें रात-दिन मोटरों में घुमाया। उनकी इच्छा के विरुद्ध एक से अधिक लोगों के द्वारा उन्हें जबरन खटिया से उठवाकर मोटर में सुलवाया और जयपुर से बाहर रखने की नाकामयाब कोशिशें कीं। लेकिन आखिर अधिकारियों को हारना पड़ा।

११ फरवरी को जमनालालजी जयपुर से करीब ९० मील दूर पर बिल्कुल एकान्त स्थान में ले जाकर रख दिये गए। उनके साथ उनके एक कर्मचारी के सिवा और किसी भी व्यक्ति को रहने की इजाजत नहीं दी गई।

इधर जयपुर में पं० हीरालाल शास्त्री, चिरंजीलालजी मिश्र, कपूरचंदजी पाटनी, हरिश्चन्द्रजी शास्त्री आदि सभी प्रमुख कार्यकर्त्ताओं की भी गिरफ्तारियां हुईं। सत्याग्रह-आन्दोलन भी पूरे जोर के साथ शुरू हुआ। जयपुर के अतिरिक्त झुनझुन, पिलानी, मुकुन्दगढ़, सीकर, रींगस आदि स्थानों में भी सत्याग्रह जोर से बढ़ा। हजारों गिरफ्तारियां हुईं, तीन सौ से अधिक लोग जेल में बन्द कर दिये गए।

ठिकानेदारों[1] ने किसानों पर लगान-वसूली की आड़ में जबरदस्त जुल्म ढाना शुरू कर दिया। जो किसान-नेता एवं कार्यकर्ता प्रजामंडल के कार्यक्रम के साथ सहानुभूति रखते थे उन्हें चुन-चुनकर गिरफ्तार किया गया और बुरी तरह सताया गया। ठिकानेदारों और जयपुर-दरबार में ऐसे तो अक्सर मतभेद रहा करता था, परन्तु आन्दोलन के खिलाफ राज्यकर्त्ताओं की यह सारी शक्तियां इस समय संगठित होकर प्रजामंडल की ताकत को तोड़ने में जुट गई थीं। यही प्रजा-मंडल की कसौटी का समय था।

किसी आन्दोलन की सफलता उसके प्रकट परिणामों से ही आंकी जाती है। जयपुर-आन्दोलन के परिणामों का जिक्र तो मैं आगे करूंगा, लेकिन उसकी नैतिक सफलता की कुछ बातें यहां लिख देना आवश्यक समझता हूं :

(१) अधिकारियों की ओर से अनेकविध उत्तेजना और झूठा प्रचार किये जाने के बावजूद जनता आखिर तक अहिंसक और शांत रही।

(२) आन्दोलन में न सिर्फ हिन्दू-मुसलमान आदि सबकी सहानुभूति रही थी, बल्कि सभी तबकों के प्रतिष्ठित लोगों ने, कार्यकर्ता, वकील, व्यापारी, डाक्टर आदि सभीने हिस्सा लिया व कुर्बानियां कीं।

(३) राजपूताने में राजपूत राजा के खिलाफ राजपूत जाति की सहानुभूति प्राप्त करना उतना ही असंभव है, जितना अंग्रेजों के खिलाफ अंग्रेजों की। लेकिन जयपुर के राजा के राजपूत होते हुए भी इस आन्दोलन में अनेक प्रतिष्ठित राजपूतों ने प्रत्यक्ष हिस्सा लेना स्वीकार किया और यदि महात्माजी द्वारा आन्दोलन बन्द न कर दिया जाता तो ठाकुर लूपसिंह तथा उनके अनेक साथी राजपूत भी जेल में बन्दी जीवन बिताते हुए नजर आते।

ये कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातें हैं, जिनसे आन्दोलन की नैतिक सफलता का नाप लिया जा सकता है। इसके सिवा एक और महत्वपूर्ण घटना की ओर ध्यान आकर्षित करना उचित होगा। 'किसान जाट पंचायत' के, जिसने स्व-

१. जयपुर में बड़ी-बड़ी जागीरें जिन ठाकुरों के सुपुर्द रहती हैं, उन्हें ठिकानेदार कहते हैं।

तंत्ररूप से अपना राजनैतिक संगठन बना रखा था और केवल इस आन्दोलन की हदतक ही जिसने प्रजामंडल का साथ देना स्वीकार किया था, नेता सरदार हरलालसिंह आदि भी जमनालालजी के नेतृत्व से इतने प्रभावित हुए कि आगे चलकर उन्होंने अपना पृथक् संगठन रखना आवश्यक नहीं समझा और अपने-आपको प्रजामंडल में सम्मिलित कर दिया।

२१ मार्च '३९ को महात्माजी ने आन्दोलन स्थगित करवा दिया। जिन नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन शुरू किया गया था उनके लिए अबतक का त्याग महात्माजी पर्याप्त समझते थे।

रचनात्मक कार्यक्रम का महत्व जयपुर के लोगों को जमनालालजी ने बहुत पहले से समझाया था। उनके प्रयत्नों से १२ वर्ष पहले वहां चरखा-संघ की नींव डाली गई और पिछले दिनों रचनात्मक कार्यक्रम के कारण ही जनता में संगठन और बल का निर्माण हो सका।

जयपुर-सरकार की नजरबंदी के दिनों में जमनालालजी ने जेल में एक आदर्श सत्याग्रही का-सा जीवन बिताया। खाने, पीने, रहने आदि सभी बातों में उनकी सादगी तो उनकी अपनी ही थी। घुटनों में जब दर्द होने लगा, बीमारी काबू के बाहर समझी जाने लगी तो डाक्टरों ने यूरोप जाने का बहुत आग्रह किया, पर जमनालालजी ने अपने एक पत्र द्वारा नम्रता, किन्तु दृढ़तापूर्वक सूचित कर दिया कि "स्वास्थ्य सुधार के लिए विदेश जाने की अपेक्षा मैं अपने मुल्क में मर जाना अधिक पसन्द करूंगा।"

जेल से भी उन्होंने अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति जारी रखी। शिकार-कानून की भीषणता उन्होंने वहां खूब महसूस की। जयपुर में इस कानून की बदौलत सैकड़ों गांव उजड़ गये थे। लोगों की जान हरदम खतरे में रहती थी। लेकिन राजा-महाराजाओं और अंग्रेज मेहमानों के लिए सुरक्षित रखे गये इन शेर और हिरनों को कोई हाथ नहीं लगा सकता था, भले ही सारी खेती खत्म होजाय और गांव सूना होजाय। स्वयं जहां जमनालालजी रहते थे, वहीं फाटक पर तथा भीतर शेर दो-तीन बार आगया था। उनके इर्द-गिर्द के खेतों में रहनेवाले किसानों के यहां से रोज किसी-न-

किसी जानवर के खोये जाने की खबर मिलती थी। जमनालालजी ने जेल के भीतर से इस आन्दोलन को खूब बल दिया और यह सब किया राजवालों की जानकारी से। महात्माजी के हरिजन-आन्दोलन के साथ इसकी तुलना की जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। जेल से बाहर आने पर इन्होंने इस कानून में संतोषजनक परिवर्तन कराने में सफलता प्राप्त की।

जमनालालजी के साथी अपनी सजाएं पूरी करके रिहा हुए ही थे कि ९ अगस्त १९३९ याने करीब ६ माह की नजरबन्दी के बाद जयपुर-सरकार ने जमनालालजी को भी रिहा कर दिया।

बाहर आने पर महाराजा सा. के साथ कई मुलाकातें करने का अवसर जमनालालजी को मिला। अंग्रेज प्रधान मंत्री सर बीचम तो पहले ही कार्य-मुक्त हो चुके थे। उनके बाद मि. राड आये, लेकिन बाद में तो सारा काम-काज स्वयं महाराजा सा. ही देखते लगे। मुलाकातों के दरम्यान महाराजा सा. पर जमनालालजी के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़े बिना न रहा। जमनालालजी के निकट परिचय में आकर यदि उन्होंने यह महसूस किया हो कि जमनालालजी को जेल में रखकर जयपुर के अधिकारियों ने एक बड़ी भारी भूल की, तो कोई अचरज की बात नहीं। जमनालालजी ने भी अपने सहज औदार्य के अनुसार अपने साथ के दुर्व्यवहारों की किसीको याद तक न दिलवाई और अपने बयान में यह आशा प्रकट की कि जयपुर में नवीन युग का श्रीगणेश हुआ है। अपने भ्रमण में भी स्थान-स्थान पर उन्होंने महाराजा सा. की सहृदयता और जनहित की भावना की भूरि-भरि प्रशंसा की। लोक-हित की दृष्टि से महाराज सा. ने सभाबन्दी का कानून रद्द कर दिया, अखबारों पर से भी पाबंदियां उठा लीं, सीकर के मामले में पूरी सहानुभूति के साथ विचार करने का वचन दिया और पब्लिक सेफ्टीरेगुलेशन में ऐसा संशोधन करने का आश्वासन दिया कि प्रजामंडल या उस-जैसी अन्य संस्थाओं की रजिस्ट्री करवाने की आवश्यकता ही न रहे। भारतीय प्रधान मंत्री लाने के संबंध में भी जनता की ओर से

जोरों का आन्दोलन शुरू हुआ।

जयपुर-सत्याग्रह-आन्दोलन की सफलता का यह था दृश्य रूप, जिसे सत्याग्रह की भाषा में हृदय-परिवर्तन कहा जा सकता है। जयपुर के अंग्रेज तथा अन्य बाहरी अधिकारियों के कारण जो परिस्थिति बिगड़ गई थी वह महाराज सा. के हाथों बात-की-बात में सुलझ गई।

समझौते के बाद जयपुर में जो प्रेम-संबंध स्थापित हुआ था वह कुछ लोगों को पसन्द न आया, क्योंकि इसका असर इर्दगिर्द की अन्य रियासतों की प्रजा के हक में अच्छा होनेवाला था। जयपुर की मिसाल दूसरे स्थानों पर दी जाने लगी और वहां के राजकर्त्ताओं से भी जयपुर महाराज की-सी अपेक्षा की जाने लगी। इसलिए जयपुर के नए प्रधान मंत्री राजा ज्ञाननाथजी का अमल कुछ ऐसा ही सिद्ध होने लगा, जिससे महा-राजा सा. और जमनालालजी के प्रयत्नों से किया-कराया कार्य नष्ट होता दिखाई देने लगा। लेकिन जमनालालजी ने बड़ी खूबी के साथ परि-स्थिति को संभाल लिया और संघर्ष की पुनरावृत्ति न होने दी।

जयपुर को आदर्श रियासत बनाने का उनका स्वप्न था। जयपुर की याद उन्हें हमेशा बनी रही। ब्रिटिश भारत के इस सत्याग्रह-आन्दोलन में उन्हें फिर जेल जाना पड़ा, लेकिन जेल में से भी उन्होंने जयपुर की स्थिति सुलझाने की पूरी कोशिश की।

जयपुर उनका चिर-ऋणी रहेगा।

: ५८ :

अद्‌भुत लोक-संग्रही

अनंतगोपाल शेवड़े

स्व. जमनालालजी से मेरा प्रथम परिचय सन् १९३२-३३ में हुआ, जब मैं बी. ए. में पढ़ता था। 'कर्मवीर' के सम्पादक पं. माखनलाल चतुर्वेदी के साथ मैं वर्धा गया था और उन्होंने मेरा परिचय जमनालालजी से कराया था। जमनालालजी ने मुझे ऊपर से नीचे तक देखा जैसे वे मुझे अपने पैमाने मे नाप लेना चाहते हों। मेरे खद्दर के कपड़े देखकर शायद उन्हें संतोष हुआ। थोड़ी देर ठहरकर बोले—

"पढ़ाई के बाद क्या करने का विचार है ?"

"पत्रकारिता।"—मैंने उत्तर दिया।

"तब तो कुछ उपयोग होगा।"—उन्होंने कहा।

उनका अर्थ स्पष्ट था। 'उपयोग होगा' यानी देश के लिए या समाज के लिए। उनकी दृष्टि हमेशा सार्वजनिक हित की ओर ही रहती थी।

जमनालालजी का एक सबसे बड़ा गुण, जिसकी मुझपर अमिट छाप पड़ी है, उनकी लोक-संग्राहक वृत्ति थी। गांधीजी के संपर्क से ही शायद उन्होंने यह बात सीखी थी। उनकी यह धारणा थी कि अच्छे, लगनशील, चरित्रवान् और योग्य कार्यकर्त्ताओं के बिना सार्वजनिक कार्य सफल नहीं हो सकता। उनकी पैनी दृष्टि हमेशा आदमियों को खोजा करती। जो व्यक्ति उन्हें होनहार दीखता, या अन्य किसी कारण से जंच जाता, वे उसे वर्धा बुला लेते और किसी-न-किसी संस्था में लगा देते। वर्धा में गांधीजी के रहते हुए इतनी बड़ी और अधिक संस्थाओं का निर्माण हुआ, उसका यही कारण है।

आजकल आदर्शवादी युवक पथ-प्रदर्शन के लिए तरसते रहते हैं, पर उन्हें बहुत कम अवसर मिल पाते हैं। स्व. जमनालालजी ने ऐसे युवकों को

कभी निराश नहीं किया। होनहार विद्यार्थियों की सहायता की, पढ़ा-लिखाकर तैयार किया और फिर किसी-न-किसी सार्वजनिक कार्य में लगा दिया।

मैंने कई बार अनुभव किया है कि आज स्व. जमनालालजी-जैसे व्यक्ति होते तो हमें नेताओं की दूसरी कतार तैयार करने में कितनी मदद मिलती।

सन् ३६-३७ में मैं अपने बन्धु के साथ 'इण्डिपेंडेंट' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक निकाला करता था। उसकी नीति प्रखर राष्ट्रीय थी और उस जमाने में मध्यप्रांत में कांग्रेस का समर्थन करनेवाला वही एकमात्र अंग्रेजी पत्र था। श्री राघवेन्द्र राव कांग्रेस छोड़कर अंग्रेजी शासन में चले गये थे। शासन में उनका खूब बोलबाला था। राष्ट्रीय पत्रों में उनपर हमेशा कड़ी टीका-टिप्पणी होती थी। 'इण्डिपेंडेंट' में तो विशेष रूप से सख्त रहा करती थी। बस, इसी गरमा-गरमी में श्री राघवेन्द्र राव की सरकार ने एक लेख के कारण दो हजार की जमानत 'इण्डिपेंडेंट' से मांग ली। एक छोटे-से साधनहीन साप्ताहिक पत्र के लिए यह एक बड़ा प्रहार था। दस दिन के भीतर रुपया जमा करना था, वरना प्रेस में ताला पड़ जाता। उसी बीच मैं जमनालालजी के पास सहायता के लिए गया। साथ में दादा धर्माधिकारी भी थे। उन्होंने २००) की सहायता की। मुझे कुछ अधिक की आशा थी, इसलिए कुछ निराशा तो हुई, फिर भी उनकी सक्रिय सहानुभूति पाकर मुझे बल मिला। मैंने उनसे कहा कि यह रुपया जमानत दाखिल करने में जायगा। यदि सरकार से जमानत वापस मिल गई तो आपका पया लौटा दूंगा।

इसके बाद यहां-वहां काफी दौड़-धूप की। घर में एकाध पुराना गहना पड़ा था। बेचकर किसी तरह रकम पूरी की।

सौभाग्य से १९३७ के चुनावों में कांग्रेस जीत गई और मध्यप्रांत में भी उसका प्रथम मंत्रिमंडल बना। 'इण्डिपेंडेंट' की जमानत वापस होगई। सरकारी खजाने से रकम हाथ आते ही मैंने वर्धा जाकर लौटा दी। बाद में यह जानकर बड़ा संतोष हुआ कि किसी समाचार-पत्र को सहायता के रूप में दी जानेवाली रकमों में से यह सबसे पहली थी, जो उन्हें वापस मिली थी। उनका सबसे बड़ा गुण उनका अद्भुत लोक-संग्रह था।

: ५९ :

गो-सेवक

रिषभदास रांका

जबसे श्री जमनालालजी ने गो-सेवा का काम हाथ में लिया, तबसे मृत्यु होने तक वे इसी बात का चिन्तन करते रहे कि गो-सेवा अधिक-से-अधिक कैसे हो। उनकी यह निश्चित राय थी कि गाय, जो आज एक बोझ के समान होगई है, उसे उपयोगी बनाये बिना उसका रक्षण नहीं हो सकता। आज जिस तरह गाय को निकम्मी हालत में रखकर उसको बचाने के लिए करोड़ों पया पिंजरापोलों में तथा गोरक्षा संस्थाओं में खर्च होता है, उससे गाय की वास्तविक रक्षा नहीं हो सकती। वे गो-माता का नाम लेकर लोगों की भावनाओं को उत्तेजित कर गो-रक्षा के नाम पर चाहे जैसे प्रचार करना ही गो-सेवा का काम नहीं मानते थे। वे तो कहते थे—क्या आपने गाय का गोबर उठाकर सफाई का काम किया है? क्या आपने गाय की नियमित मालिश की है? क्या आप यह जानते हैं कि गाय को कितनी और कैसी खुराक देनी चाहिए? क्या आपको गाय की बीमारी का ज्ञान है? क्या आप उसके दूध-घी के संबंध में जानकारी रखते हैं? यदि आपने गोपालन का काम नहीं किया है या उस काम का अनुभव नहीं लिया है, तो आपसे गो-सेवा नहीं हो सकेगी। केवल व्याख्यान देकर प्रचार करने से लोग उत्साहित होकर जैसा-तैसा काम शुरू कर देंगे और सार्वजनिक धन खर्च होते हुए भी गोरक्षा न होकर धीरे-धीरे लोगों का उत्साह कम होते-होते एक दिन काम बन्द हो जायगा। बिना जानकार गो-सेवक के गो-सेवा में सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए वे हमेशा गो-सेवा का काम करनेवालों को पहले गो-पालन-शास्त्र की जानकारी हासिल करने तथा प्रत्यक्ष काम द्वारा अनुभव प्राप्त करने के लिए कहते थे। उनके पास जितने भी कार्यकर्त्ता आये, उन्हें उन्होंने पहले गोप-विद्यालय में

ही भिजवाया और कुछ लोगों को प्रत्यक्ष काम में लगाया।

पिंजरापोलों तथा गोरक्षिणी संस्थाओं द्वारा गोरक्षा का जो कार्य होता है, उसमें सुधार करने में बहुत बड़ा काम होगा, ऐसा उनका मत था। इस कार्य की कठिनाई को वे जानते थे। आजलकल जो गोरक्षिणी संस्थाएं चल रही हैं, वे ज्यादातर पुराने खयालात के लोगों द्वारा ही चलाई जा रही हैं। उनकी गोरक्षा-संबंधी मान्यताएं रूढ़ होगई हैं। ऐसे लोगों के विचारों में परिवर्तन कराना कोई आसान काम नहीं है। लेकिन साथ ही उनकी यह भी मान्यता थी कि अच्छे सेवक तैयार हो जाने पर उस काम में कठिनाई नहीं पड़ेगी।

वर्तमान पिंजरापोलों तथा गोरक्षिणी संस्थाओं की कार्य-पद्धति को जाने व उनकी क्या तकलीफें हैं, यह समझे विना केवल अपने विचारों को उनपर लादना वे पसंद नहीं करते थे, अतः वर्धा की गोरक्षिणी संस्था का संचालन करने का निश्चय करके वे उस संस्था के अध्यक्ष बने और इस काम का अनुभव मैं भी लूं, इसलिए मुझे भी उस काम को करने के लिए कहा। मैं वह काम देखने लगा।

यों तो वर्धा का गोरक्षण-कार्य, आजकल जिस तरह से पिंजरापोल चलते हैं, उससे बहुत ही अच्छी स्थिति में था। इस संस्था में करीब ४०० गायें और बछड़े व बछियां भी थीं, जिनकी सेवा का काम हाथ में लेने पर, भैंसें तथा पड़ियां बेंच दी गई। हर साल करीब ५००० रु० का दूध बेचा जाता था और जानवरों की हालत बहुत अच्छी थी। जब जमनालालजी ने इस संस्था का संचालन हाथ में लिया तो उसमें और भी सुधार होने लगा। उन्होंने इस संस्था में जो सुधार किये, और करने की सोच रहे थे, वे यह हैं—

१. स्वच्छतापूर्वक गायों के थन गीले कपड़े से पोंछकर साफ कलई के बर्तन में दूध निकाला जाना,

२. दूध निकलने पर बन्दमुंह के बर्तन में छानकर बेचने को भेजना,

३. हरएक गाय का दूध नापकर उसकी नोंध रखना,

४. गायों की खुराक दूध के हिसाब से देना,

५. चारा मशीन से काटकर देना,

६. गायों तथा बछड़ों को धुलवाना और उनकी ओर तथा खासकर सफाई की ओर विशेष ध्यान देना,

७. हिसाब व्यवस्थित रखना और आडीटर से आडिट करवा लेना,

८. बचे हुए दूध का घी बनवाना.

९. गांव के व्यापारियों के अतिरिक्त दूसरे लोगों को इस कार्य में लगवाना,

१०. केवल गायें ही गोरक्षण में रखना।

उन्होंने दो-तीन महीने की अवधि में ये सारी बातें वर्धा में करवाई थीं। केवल वर्धा में ही यह काम करवाके संतोष नहीं माना। वे बैलगाड़ी में बैठकर गोरक्षणवाले गांव में भी गये थे, जो वर्धा से ६ मील था। उसके पहले हम लोगों को भेजा था। इस बार भी हम साथ थे। उन्होंने खेती के काम के जानकार लोगों को भी साथ लिया था। वहां वे दोपहर को पहुंचे और रात को वहां रहे, खेती देखी, सभी बातें बारीकी से देखकर जंगल में पहाड़ों पर घूमे, गायें देखीं, पानी की व्यवस्था देखी, साथ में जो विशेषज्ञ आये थे, उनके साथ चर्चा की और रिपोर्ट मांगी। रिपोर्ट आने पर उन्होंने जो-जो सुधार करने का विचार किया था, वे ये हैं—

१. सूखे जानवरों के अतिरिक्त कम दूध देनेवाले जानवरों को वहां रखा जाय और घी-उत्पत्ति का कार्य किया जाय, जिससे गायों तथा बछड़ों को खुराक मिले और वे अच्छे रहें।

२. हरा चारा हमेशा मिले, इसलिए कुएं खुदवाकर हरे चारे की खेती शुरू की जाय।

३. खेती खासकर चारे की ही बढ़ाना। कपास आदि की उपज कम की जाय।

४. खेती और जमीन और भी ज्यादा खरीदकर बाहर के सूखे जानवर भी उचित खर्च लेकर रखे जायं।

५. गांव में धार्मिक और शुद्ध वातावरण रहे, इसके लिए एक धार्मिक

आदमी रखा जाय।

६. गांव में जो कार्यकर्त्ता रहते हैं, उनके बच्चों को शिक्षा तथा उनकी औरतों को उद्योग मिले, ऐसे उद्योग शुरू करवाये जायं।

इसके सिवा वर्धा के लिए उन्होंने ये बातें सोची थीं—

१. अभी जो मकान हैं, उनके आस-पास जानवरों को घूमने तथा चरने के लिए जगह नहीं है। इसलिए जमीन खरीदना और हरे चारे की खेती करना। यदि वहां जमीन न मिल सके तो दूसरी जगह संस्था को ले जाना, जहां हरे चारे की खेती हो सके।

२. चारा बिना काटा डालने से जो फिजूल खर्च होता है, वह बन्द कराने के लिए तथा गांव के उपयोग के लिए पावर की मशीन लगाना।

३. अच्छा सांड़ रखकर उसका उपयोग गांव की गायों के लिए करवाना।

४. चारे-दाने का स्टाक करने योग्य भाव से तथा मुनाफा लेकर गोपालकों को देना।

५. गोपालकों को उनके दूध की बिक्री में सहायता पहुंचाना और शुद्ध घी की बिक्री का प्रबन्ध करना।

६. बीमार, लूले, लंगड़े जानवरों की सेवा के लिए जानवरों की बीमारियों का जानकार आदमी रखकर दवाखाना चलाना।

इन सब बातों को सविस्तर मैंने इसलिए लिखा है कि हमें उनकी कार्य-पद्धति की जानकारी हो। वे जिस काम को हाथ में लेते थे, उसकी गहराई में जाकर कैसा काम करते थे, उसकी जानकारी कार्यकर्त्ताओं को मिले, जिससे वे भी उसी तरह से काम करना सीखें।

वे चाहते थे कि पिंजरापोल, गोरक्षण-संस्थाएं लूले-लंगड़े बीमार और बूढ़े जानवरों को पालने तथा शुद्ध दूध-घी के काम के अतिरिक्त निम्नलिखित कार्य भी करें। जो कार्यक्रम उन्होंने सोचा था और गो-सेवा-संघ के सम्मेलन ने मंजूर किया था, वह इस प्रकार है—

पिंजरापोलों और धर्मार्थ गोशालाओं का असली उद्देश्य बीमार, बूढ़े

और अपाहिज पशुओं को आश्रय देकर उन्हें कत्ल और कष्टमय जीवन से बचाना है। इस सम्मेलन की राय में इस उद्देश्य का यथार्थ पालन होने के लिए पिंजरापोलों की व्यवस्था और कार्यक्रम में नीचे लिखे सुधार और विस्तार होना जरूरी है—

१. हर संस्था में पशुओं का इलाज, परवरिश और दूसरी वैज्ञानिक व्यवस्था हो और इन सहूलियतों का लाभ आस-पास की जनता को भी मिले।

२. संस्था में आनेवाले अपंग और घटिया नस्ल के मवेशियों की वंश-वृद्धि बिल्कुल रोकी जाय और मजबूत और अच्छी नस्ल की गायों के लिए अच्छी खुराक, देखभाल, वंश-सुधार की इस तरह से व्यवस्था की जाय कि ज्यादा दूध देनेवाली गायें और ज्यादा काम देनेवाले बैल तैयार हों।

३. हर संस्था में अच्छे सांड़ रखे जायं और उनका लाभ जनता को मिले।

४. हर संस्था के पास यथासंभव विशाल चरागाहों की व्यवस्था हो, जहां आसपास की जनता की सूखी गायों और बछड़ों को भी रियायती खर्च देकर रखा जा सके। इन चरागाहों पर अच्छे सांड़ भी रखे जायं।

५. हर संस्था के पास हरा घास-चारा काफी मात्रा में पैदा करने और उसे साइलेज वगैरा के रूप में संग्रह करने की व्यवस्था हो।

६. पिंजरापोलों के मकान सफाई और तन्दुरुस्ती का खयाल रखकर बनाये जायं और वहां कुएं, पानी की खेती वगैरा की रचना वैज्ञानिक ढंग से और निश्चित नमूने पर हो।

७. हर संस्था में एक पशु-विशारद होना चाहिए, जिसकी देख-रेख में संस्था चलाई जाय। उस विशारद को पशु-पालन, उसके लिए होनेवाली खेती और पशु-चिकित्सा का ज्ञान होना चाहिए।

यदि हमारी गोरक्षण संस्थाएं उनकी कल्पना के अनुसार काम करने लग जायं तो आज जिन लोगों को गोरक्षिणी संस्थाएं एक बोझ मालूम होती हैं, वे वैसी न रहकर उपयोगी बनेंगी और सचमुच ही गाय का रक्षण कर समाज एवं देश की उन्नति करेंगी।

: ६० :

कीचड़ में कमल

पूर्णचन्द्र जैन

सेठ जमनालालजी बजाज जब जयपुर राज्य प्रजामंडल के प्रथम वार्षिक अधिवेशन के सभापति के रूप में जयपुर आये तो मेरी धुन यह रही कि इन्हें पहचानूं और देखूं कि सेठों के बारे में मेरी जो धारण है, वह उनके मामले में सही है या गलत। यह तो मैं जानता था कि सेठजी वर्षों से राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं और कांग्रेस की कार्य-समिति के एक सदस्य—कोषाध्यक्ष रहते आये हैं, पर किसी संस्था—अच्छी-से-अच्छी संस्था—में पद मिल जाने को मैं पदासीन व्यक्ति का कोई विशेष गुण नहीं मानता। सार्वजनिक संस्थाओं में जहां पदों की विशेषता और अनेकता है, वहां उन पदों को हथियाने के साधनों की अनेकता भी साफ दिखाई देती है।

मैं अपने मैले मन से देखने लगा कि जमनालालजी सचमुच सेठ अर्थात् पूंजीपति हैं या कि श्रेष्टी अर्थात् एक अच्छे व्यक्ति। प्रजामंडल की कार्यकारिणी कमेटी और अधिवेशन की विषय-निर्वाचिनी समिति की बैठकों में तथा अधिवेशन के समय एक महाशय द्वारा सेठजी के प्रति प्रकट किये गए रोष और असभ्यतापूर्ण प्रदर्शन तथा उसके फलस्वरूप कुछ व्यक्तियों की उत्तेजनापूर्ण प्रक्रिया आदि के समय सेठजी की वास्तविकता सामने आई और मेरी आंखें खुलीं। देखा कि जमनालालजी बड़ी-बड़ी मसनदों के सहारे या मोटे गद्दों पर लुढ़क जानेवाले सेठजी, या धन के बल से नेतागीरी को खरीद लेनेवाले पूंजीपति या पद के जोश में उखड़ जानेवाले नेता नहीं है। बहुत कम पढ़े-लिखे होने पर भी उनकी दृष्टि पैनी थी, प्रस्तावों के मसविदों में मार्के के सुझाव-संशोधन वे लाते थे। वैधानिक पेचीदगियों में भी उनका

दिमाग सुलझा हुआ रहता था। वाणी और क्रिया का संयम तथा विवेकपूर्ण प्रयोग, उनकी आन्तरिक स्थिरता, निर्मलता, सहृदयता और सहनशीलता को प्रकट करता था। प्रतिपक्षी या सामने का व्यक्ति, या उनका ही कोई साथी विवाद में पड़ने पर अनर्गल बोलता या क्रोधित हो पड़ता तब भी उनकी मुद्रा शांत रहती थी और जवाब में वही थोड़े और सहज-सरल शब्द निकलते थे।

इसके बाद तो उनके नित्य के जीवन को और कामों में खूब देखने के—निकट सम्पर्क में आने के—काफी अवसर मिले। वास्तविक जीवन वही है, जो अपने प्रवाह से संपर्क में आनेवालों का मैल छुड़ाता जावे। उनके सच्चरित जीवन, शुद्ध हृदय और शांत स्वभाव ने सभीको प्रभावित किया होगा।

धन की प्रचुरता में भी उन्होंने अपना जीवन कष्ट-सहिष्णु, संयमी, निष्ठावान्, त्यागी, परिश्रमी, और जाति, वर्ण धर्मादि के भेद-भाव से ऊपर बना लिया था। धन संग्रह होगया! यह अपने-आपमें बुरी बात नहीं। उसका उपयोग स्व-वासनाओं की तृप्ति और निज की सुख-संतुष्टि में होता है तो यह पाप है, जो राष्ट्र, समाज और धर्म, तीनों के लिए घातक है। संग्रह की हुई पूंजी का त्याग हो—यह अच्छा है। पर इससे भी श्रेष्ठ उसका सदुपयोग होना है। कई एक मारवाड़ी सेठ धन का त्याग करते हैं पर वह त्याग कुछ तो स्वार्थ-पूर्ण होता है और कुछ विवेकशून्य। जमनालालजी ने अपनी पूजी का—बाह्य धन-सम्पत्ति तथा मन और शरीर की पूंजी का—उपयोग करना खूब अच्छी तरह जान लिया था। तभी तो संसार का एक श्रेष्ठतम पुरुष उनके पास खिचा हुआ चला गया और सेवाग्राम एक तीर्थ बन गया।

.. .. ..

जमनालालजी सब तरह से सूक्ष्मदर्शी थे। व्यक्ति को पहचान लेना और उसे साथ में ले सेवकों की मंडली को बढ़ा लेना वे खूब अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने अपने हृदय की विशालता और उत्साह के इंजेक्शन से व्यक्तियों को अपनाया, साथ लिया और बढ़ाया। कई प्रांतों और कई एक क्षेत्रों में उन

की याद हमेशा बनी रहेगी, क्योंकि उनमें जीवन फूंकनेवाले कार्यकर्त्ता किसी-न-किसी रूप उनसे बल पाते रहे। उनकी संवेदना, मानवता सबसे बड़ी वस्तु थी। इसीलिए उनके निधन पर उनके थोड़े या बहुत संपर्क में आये हुए सभी लोगों ने महसूस किया कि उनके घर का बुजुर्ग, भाई या सम्बन्धी उठ गया है। सत्य, अहिंसा और ठोस सेवा में उनका पक्का विश्वास था और यही वे अपने विशाल परिवार से चाहते थे। आखिरी दिनों में गो-सेवा-जैसे कार्य की जिम्मेदारी उन्होंने ली, उससे उनकी रचनात्मक कार्यों के प्रति रहनेवाली रुचि और निष्ठा का एक और परिचय मिलता है।

.. .. ..

यह विरोधी-सी बात मालूम देगी कि जमनालालजी की इस सेवा-कातरता, सादगी तथा ग्रामोद्योगों की उन्नति की दृढ़ भावना के बावजूद उनकी मिलें व फर्म चलती थीं और धन-राशि गुणित हो रही थी। इसका स्पष्ट और सच्चा समाधान महात्मा गांधी के शब्दों में यह मानता हूं—"अगर वह अपनी संपत्ति के आदर्श ट्रस्टी नहीं बन पाये तो इसमें दोष उनका नहीं था। मैंने जानबूझकर उनको रोका। मैं नहीं चाहता था कि वे उत्साह में आकर ऐसा कोई काम कर लें, जिसके लिए बाद में शांत मन से सोचने पर उन्हें पछताना पड़े।" किसी सेठ का व्यापार चलना खराब बात नहीं है, यदि वह शोषण पर और अनेक को कुचलकर कुछ को बनाने की दुर्नीति पर न चल रहा हो और जिस क्रम से व्यापार-व्यवसाय की सफलता के फलस्वरूप धन बढ़ता हो, उससे अधिक वेग से उस धन का सदुपयोग होता जा रहा हो। सेठ जमनालालजी इसीलिए भारतीय सेठों के बीच इने-गिने सेठों की भांति विशिष्ट स्थान रखनेवाले थे और कीचड़ में एक अद्वितीय कमल-रूप से खिले थे।

: ६१ :

छाया चित्र

जवाहिरलाल जैन

उज्ज्वल गौर वर्ण, छह फुट से भी ऊंचा कद, भरा हुआ शरीर, आत्मिक तथा शारीरिक स्वस्थता से आलोकित मुखमण्डल, बालसुलभता तथा सौम्यता—यह चित्र मेरी आंखों के सामने आया, जब मैंने पहले-पहल सेठ जमनालालजी से भेंट की।

शायद सन् १९३३ का उत्तरार्द्ध था। सेठजी सीकर आये हुए थे। सीकर से कुछ मील पर ही काशी का वास नामक ग्राम है, जहां उन्होंने जन्म लिया था। सीकर में सेठजी का निवास-स्थान 'कमरे' के नाम से मशहूर है।

मैं 'कमरे' पहुंचा। यह कोई एक कमरा नहीं, बल्कि पचासों मकानों से युक्त एक विस्तृत अहाता है। सेठजी बीच के बड़े हाल में बैठे हुए थे। मैं वहीं गया। पहली बार मैंने उनमें स्नेह और निराडंबरता की जो झांकी देखी, वह आज भी वैसी ही बनी है। पहली बार मिलते ही मेरा बाहरीपन खत्म होगया। मैं अपने-आपको उनका आत्मीय समझने लगा।

पहली ही भेंट में मैंने जमनालालजी की लोकप्रियता का रहस्य समझ लिया। उस समय सेठजी के साथ उनका परिवार तो था ही, साथ में कुछ कांग्रेसी कार्यकत्रियां—खासकर बम्बई की कुछ देशभक्त बहनें भी थीं, जो शायद मरुभूमि देखने के लिए आई थीं।

केसरिया साड़ी पहने नवीनतम शिक्षाप्राप्त उन देशभक्त बहनों से सेठजी के पिता-पुत्री-सुलभ विनोद तथा तर्क और उनके मधुर निश्च्छल तथा स्वतंत्र हास्य से आलोकित वातावरण में मैंने प्रवेश किया। अभी सेठजी विनोद में संलग्न थे कि सीकर के दो-तीन प्रतिष्ठित व्यापारी आगये। सेठजी उठे और प्रेम-पूर्वक कुशल-क्षेम के बाद अत्यन्त गम्भीरता-पूर्वक

व्यापार-व्यवसाय-सम्बन्धी बातें करने लगे। उस समय सेठजी को कोई देखता तो यही कहता कि इस व्यक्ति ने सारे जीवन में व्यापार को ही अपना आराध्य देव बनाया है और कभी कोई दूसरा काम ही नहीं किया। व्यापार-संबंधी नीतियों तथा प्रगतियों का गहरा अध्ययन, वस्तु-स्थिति की यथार्थता का ज्ञान तथा बातचीत के प्रत्येक विषय पर अपने अनुभव पर आधारित दृढ़ता और स्पष्टता से पेश की गई राय, इस बात को बतलाती थी कि यह व्यक्ति जहां पहुंचेगा, वहीं आदरणीय स्थान प्राप्त कर लेगा।

व्यापारियों के जाते ही सेठजी के प्राइवेट सेक्रेटरी कुछ चिट्ठी-पत्री लाये। जयपुर-सरकार से कुछ महत्वपूर्ण बात चल रही थी। सेठजी ने चिट्ठियां सुनीं। उनके उत्तर लिखवाये। कुछके ड्राफ्ट बनाने के लिए उनके नोट्स बतलाये। जो ड्राफ्ट उन्होंने बनाये थे, वे सुने, उनमें परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया। आध-पौन घंटे में यह सब खतम करके फिर कमरे में आये।

अभी आकर बैठे ही थे कि सीकर के कुछ कार्यकर्त्ता आगये। उनसे बातचीत होने लगी। सेठजी ने हरेक से कुशल-क्षेम, उनके बाल-बच्चों, भाई-बहनों, माता-पिता आदि के विषय में विस्तृत प्रश्न किये। जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के विषय में आवश्यक जानकारी के बाद सबके प्रति खुशी, सहानुभूति अथवा शोक प्रदर्शित कर अपनी आत्मीयता तथा स्नेह का परिचय दिया। उनकी स्मरण-शक्ति ऐसी तेज थी कि हरेक परिचित व्यक्ति की उससे अन्तिम बार मिलने से अबतक की सभी घटनाएं पूछते और उसके सुख-दुःख में भाग लेते। इस प्रकार वे प्रत्येक मिलनेवाले के हृदय में विशिष्ट स्थान बना लेते थे।

इसी तरह तीन बजे से छः बजे तक एक के बाद एक आने-जानेवालों का तांता-सा बंधा रहा, लेकिन सबके साथ वही सौजन्य, वही अपनापन, वही प्रेम और वही सहानुभूति। इसमें तीव्र स्मरण-शक्ति बहुत सहायक होती थी। दूसरा बड़ा गुण जो सेठजी को आकर्षण तथा श्रद्धा का केन्द्र बना देता था, उनकी स्वस्थ साधारण बुद्धि थी, जो साधारण कही जाने पर भी मनुष्यों में बहुत कम पाई जाती है। इसीके कारण वे

तत्काल ही बात की तह तक पहुंच जाते थे और चाहे लोगों पर उनकी विद्वत्ता का सिक्का न बैठे, किन्तु उनकी बुद्धिमत्ता, उनकी तीव्र बुद्धि, उनकी सहृदयता की छाप, दूसरे व्यक्ति पर पड़े बिना नहीं रहती थी।

सेठजी से मिलने आनेवाले लोगों में ऐसे भी थे, जो उनकी सुधार-प्रियता तथा नवीन विचारों के विरोधी थे। वे सेठजी को उलहना देने आते थे। उनमेंसे कई तो सेठजी की बराबर उम्र होने के कारण या बड़े होने के कारण उन्हें खरी-खोटी सुनाने का अधिकार रखते थे और उस अधिकार का उपयोग भी करते थे। सेठजी हँसते-हँसते उनकी बातों का उत्तर देते थे और विनोद अथवा तर्क के द्वारा उन्हें शांत रखने का प्रयत्न करते थे। कोई-कोई क्रोध के वशीभूत होकर यदि शिष्टता की सीमा उल्लंघित करता तो वे कह देते थे—"भई, तुम्हें क्रोध आ रहा है। अभी बात नहीं करेंगे। शांत हो जाओ।" वे उसके लिए ठंडा जल मंगाते तथा और भी खातिर करते।

इतने विभिन्न प्रकृति के लोगों से माथा-पच्ची करने पर भी उनके चेहरे पर वही शांति, बातचीत में वही सरलता, वही विनोद तथा वही निश्च्छल हास्य। जरा भी अलसाहट का नाम नहीं, परेशानी तो पास भी न फटकी थी। न आनेवालों की अविचारिता पर टीका-टिप्पणी थी, न अपने बड़प्पन का भार और न अपने वैभव का प्रदर्शन। यह तो मानों उनका दैनिक कार्य-क्रम था। इतनी व्यस्तता के बीच भी वे रसोइये से यह कहना नहीं भूले—भोजन शाम को ६।। बजे बन जाना चाहिए। जैनजी सूर्यास्त के पहले भोजन करेंगे। यह छोटी-सी बात थी, किन्तु वास्तविक बड़प्पन की परिचायक थी।

यह चित्र आज से नौ वर्ष पूर्व मेरे हृदय-पटल पर खिंचा था। उसके बाद अनेक बार मिलने का अवसर प्राप्त हुआ, किन्तु जितना गहरा अध्ययन मैंने उनका किया, पूर्वोक्त चित्र के रंग उतने ही गहरे होते गये और हृदय-पटल पर उनकी वैयक्तिक महत्ता की जो छाप थी, वह भी लगातार गहरी होती गई।

आज तो उनके पार्थिव शरीर के अभाव में उस चित्र के सारे रंग मिल कर प्रकाशमय होगये हैं और मेरे हृदय की कालिमा के बीच वह आलोकित चित्र द्विगुण प्रभा से चमकने लगा है।

: ६२ :

स्वदेश-प्रेम का एक दृष्टान्त

श्रीनाथसिंह

जबसे महात्मा गांधी वर्धा में रहने लगे थे, राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं और स्वदेश भक्तों का वहां जमघट लगा रहता था। इनसब लोगों का आतिथ्य करने और खिलाने-पिलाने का भार अधिकतर जमनालालजी पर ही पड़ता था। अतिथियों के ठहरने के लिए जमनालालजी ने एक बंगला बनवाया। अतिथियों को किसी प्रकार की असुविधा न हो, इसका पूरा ध्यान रक्खा जाता।

इस महमानघर में कई बार ठहरने और उनके रसोईघर की पकी अच्छी-अच्छी चीजों का स्वाद लेने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। सबसे ज्यादा मजा उस दिन आया जब जमनालालजी के भतीजे श्री राधाकृष्ण बजाज की वर्षगांठ थी। वह घटना चिरस्मरणीय रहेगी।

उस दिन खाने के लिए बैठा तो मैंने देखा कि श्री राजेन्द्रप्रसाद, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और अन्य पूज्य पुरुषों के साथ जमनालालजी की वृद्धा माता भी भोजन करने के लिए उसी पंक्ति में बैठी थीं। जमनालालजी, उनकी पत्नी श्री जानकीदेवी बजाज, और उनके लड़कों को तो मैंने मेहमानों के साथ खाते और खिलाते देखा था, पर जमनालालजी की माता को सबके साथ बैठकर खाते हुए देखने का यह पहला ही अवसर था। जमनालालजी ने पूछने पर बताया कि आज हमारे यहां राधाकृष्ण बजाज की वर्षगांठ है, इसलिए यह कोशिश की गई है कि घर के सब लोग एक साथ बैठकर खाना खायं। उन्होंने मेहमानों को संबोधित करते हुए खास तौर से कहा, "आज आप लोगों के लिए एक बहुत ही बढ़िया चीज तैयार कराई गई है। यह ऐसे ही अवसरों पर बनती है।"

खानेवाले उत्सुक हो उठे कि देखें, क्या आता है। बड़ी प्रतीक्षा के बाद वह चीज आई। मोटे आटे का वह देहाती ढंग का हलवा था। सम्भवतः उसमें पानी और गुड़ के सिवा और कुछ न था। जब वह सबके सामने रख दिया गया तो राजेन्द्रबाबू ने थोड़ा-सा मुंह में डालकर पूछा—"यह है क्या ?"

जमनालालजी के एक लड़के ने कहा—"यह लापसी है।"

एक दूसरे सज्जन ने प्रश्न किया—"लापसी या लपसी ?"

इसपर श्रीमती जानकीदेवी बजाज ने मुस्कराते हुए कहा—"इसको आप लापसी या लपसी दोनों कह सकते हैं, परन्तु हम लोग इसे 'लापसी' कहते हैं। यह हमारे देश का खास भोजन है और विशेष अवसरों पर बनाया जाता है। बहुत प्रेम से बनाते और खाते हैं। इसमें खर्च भी बहुत कम होता है। जो लोग घी डाल सकते हैं, वे थोड़ा-सा घी डालकर आटे को भून लेते हैं। जो घी नहीं डाल सकते हैं, वे योंही आटे, गुड़ और पानी में बनाकर अपना काम चलाते हैं।"

उस समय जो लोग भोजन कर रहे थे, वे जमनालालजी के स्वदेश-प्रेम की प्रशंसा किये बिना न रह सके।

: ६३ :

अन्तिम संस्मरण

लादूराम जोशी

सन् १९४२ की ११ फरवरी को शेखावाटी के हम कई लोग सेठजी के अतिथि-गृह में ठहरे हुए थे। चिड़ावा के श्री मातादीन भगेरिया, श्री बदरीनारायण सोढाणी और मैं एक ही कमरे में थे। सुबह करीब सात बजे का समय था। सेठजी अतिथि-गृह में आये। उस समय हम लोग नाश्ता कर रहे थे। उन्होंने मेरी तरफ इशारा करते हुए हँसकर कहा, "आपके साथ-साथ आपका कुर्त्ता भी दूध पी रहा है।" आगे बात का सिलसिला शुरू करते हुए सेठजी ने कहा, "कल चांग काई शेक अपने स्टाफ के साथ बापू से मिलने के लिए आ रहे हैं। अतः तुम लोग गोपुरी की टेगड़ी पर मेरी कुटिया के नीचे के बँगले में चले चलो।" यह कहकर वे दूसरे कार्यों के लिए चले गये।

भोजन के बाद हम तीनों साथी गोपुरी चले आये। करीब दो बजे श्री राधाकृष्ण बजाज को खोजते हुए एक आदमी वहां आया। उस समय हम लोग गो-सेवा-संघ के कार्यालय में बैठे बातचीत कर रहे थे। उस आदमी ने कहा कि सेठजी की तबीयत खराब है। हम लोगों के चिन्ता प्रकट करने पर चौधरीजी ने कहा कि आजकल कार्याधिक्य के कारण वे थके हुए-से रहते हैं। कोई चिन्ता की बात नहीं है। लेकिन न जाने क्यों, मेरे मन में एक अज्ञात आशंका-सी हुई और मैं बाहर आकर इधर-उधर टहलने लगा। करीब आधे घंटे के बाद सेठजी का ड्राइवर हरि मोटर लिये वहां पहुंच गया। उसकी उदास और खिन्न सूरत की ओर देखकर मैंने पूछा—"सेठजी की तबीयत कैसी है" ? हरि के आंसुओं ने मेरे प्रश्न का उत्तर दिया। उसके हिचकियां बँध गई और वह सोफे पर गिर पड़ा। हम तुरन्त सेठजी के निवास-स्थान पर

पहुंचे। एक लम्बी चौकी पर सेठजी का शव अवस्थित था। बापूजी सिरहाने बैठे थे और समीप ही बैठी जानकीदेवी को समझा रहे थे। वर्धा की विभिन्न संस्थाओं के कार्यकर्त्ता, महिला-आश्रम की बहनें, नीचे वर्धा के सहस्रों स्त्री-पुरुष इस आकस्मिक दुःखद समाचार की चर्चा कर रहे थे। सबके हृदयों में वेदना थी और चेहरों पर संताप की छाया छाई हुई थी। ऐसा मालूम होता था कि उनकी अमूल्य वस्तु उनके पास से बरबस छीनी जा रही है। इस असंख्य जन-समूह के बीच सेठजी का शव गोपुरी लाया गया और उनकी कुटिया के सम्मुख चिता पर रख दिया गया। शाम के करीब सात बजे धू-धू करके चिता जल उठी। उनकी अमर आत्मा इस नश्वर देह को छोड़कर गोलोक को प्रयाण कर गई। हजारों स्त्री-पुरुष बिल्कुल शांति के साथ इस दृश्य को देख रहे थे। उस समय विनोबाजी ने एक बात कही, "सेठजी की आत्मा आजतक अपनी देह की सीमा में सीमित थी, किन्तु आज इस सीमित देह से निकलकर हम सबों में व्याप्त होगई है। यह मेरे लिए हर्ष का विषय है, शोक का नहीं।"

मैं सोच रहा था कि जो मानव सुबह सात बजे हम लोगों से हँस-हँसकर बातें कर रहा था, वह इस शाम को ७ बजे न जाने हम लोगों से कितनी दूरी पर चला गया है। इस अज्ञेय मीमांसा की तह तक कौन पहुंच सकता है? क्या इसीलिए संसार को अनित्य और दुःखकारी कहते हैं? इस जन्म-मरण की अज्ञेयता को किसने समझा है? जिसके जन्म से या रहने से हजारों-लाखों आदमी प्रसन्न रहते हैं, उसके चले जाने मे क्यों इतने संतप्त हो जाते हैं?

इसका उत्तर सेठजी का समूचा जीवन स्वयं देता है।

: ६४ :

कुछ स्मरणीय प्रसंग

अज्ञात

सन् १९२८ में मंदी आई और '३१ में तो उसने अपना प्रभाव बहुत बढ़ा लिया। सबसे खराब थी किसानों की स्थिति। एक तो फसल कम हुई, फिर भाव एकदम गिरते गये। कर्ज चुकाना तो दूर, जीवन-निर्वाह ही कठिन था।

सेठ जमनालालजी बजाज का लेन-देन का भी काम था। कर्ज-वसूली की आशा न रहने पर उन्होंने अपने मुनीमों को जमीन-जायदाद लेकर आपस में फैसले करने को कह दिया था। उस समय श्री पूनमचन्दजी बांठिया को यह कार्य सौंपा गया।

बांठियाजी जमनालालजी के हित की दृष्टि से अपना कर्तव्य समझकर यह कार्य करने लगे। इससे किसानों में असंतोष होना या उनकी शिकायतें रहना स्वाभाविक था। फलत: कई बार उन्हें कड़ाई से भी काम लेना पड़ा।

अपने पास शिकायतें पहुंचने पर जमनालालजी ने बांठियाजी को बुलाकर कहा, "तुम किसानों से बहुत सख्ती से पेश आते हो। यह ठीक नहीं है। इस काम से मुझे संतोष नहीं है।"

दूसरों के सुख-दुख का उन्हें इतना ध्यान रहता था। भले ही अपना नुकसान हो जाय, किसी दूसरे के प्रति कड़ाई उन्हें पसंद न थी।

.. ..

सन् १९२१ के लगभग की बात है। एक सेठजी ने सट्टे में करीब ८० लाख रुपया कमाया। उस समय जमनालालजी बजाज 'तिलक स्वराज्य फंड' जमा कर रहे थे। वे उक्त सेठजी के यहां भी पहुंचे। पहले तो सेठजी ने काफी आनाकानी की, फिर कहा कि पया भिजवा दिया जायगा

लेकिन जमनालालजी वास्तविकता को ताड़ गये। बोले, "नहीं, रुपये अभी देने होंगे और मैं लेकर ही उठूंगा। मैं देख रहा हूं कि आप इतनी बड़ी रकम और कमाई को पचा नहीं सकेंगे—वह आपके यहां रह नहीं सकती। इसलिए आपसे शुभ कार्यों में जितना भी लिया जा सके, लेना आवश्यक है। यही आपका पैसा कहलायगा।"

आखिर उनसे दो-तीन फंडों के लिए जमनालालजी दो-ढाई लाख रुपयों के चैक लेकर ही माने। लेकिन चैक लेकर भी वे वहां से नहीं सरके। उसी समय उनके मुनीम को बैंक में भेजा और कहा कि चैकों के स्वीकृत हो जाने पर ही मैं यहां से जाऊंगा।

थोड़े दिनों बाद मालूम हुआ कि उक्त सेठजी ने सब रुपया सट्टे में खो दिया। वे पैसे-पैसे को मुहताज होगए। जमनालालजी ने उन्हें खर्च चलाने के लिए पांच हजार रुपया ऋण-स्वरूप दिया।

एक बार जब जमनालालजी ने अपने मित्रों, संबंधियों आदि को दिये गए कर्ज की रकमें बट्टेखाते लिखानी शुरू कीं तो उसमें ये ५ हजार रुपये भी थे।

जमनालालजी बजाज के दादा श्री बच्छराजजी अपने पहले परिवार से अलग होकर वर्धा आये थे। अपने पुरुषार्थ से उन्होंने धन कमाया, लेकिन पूर्व कुटुम्बियों ने जमनालालजी पर बंटवारे के लिए मुकदमा कर दिया। वे गरीब थे और चाहते थे कि इनकी कमाई में से कुछ मिल जाय। यह मुकदमा कई वर्षों तक चलता रहा।

जमनालालजी ने इस काम के लिए वकीलों और मुनीमों की एक समिति कायम कर दी थी। एक दिन की बैठक में समिति के सदस्यों को ऐसा लगा कि अमुक वर्ष की बही अपने वि द्ध पड़ती है और विरोधी पक्ष उसे पेश करने के लिए जोर दे रहा है, इसलिए उसे दबा दिया जाय। एक मुनीम ने बही दबा दी।

जमनालालजी को जब मालूम हुआ कि उस बही को अदालत में पेश करने की मांग की जा रही है और अपने यहां भी इसको लेकर काना-फूसी हो रही है तो उन्होंने मुनीम को बुलाकर पूछा। पहले तो मुनीम ने इंकार कर दिया। लेकिन जब उन्होंने सख्ती से पूछा और सौगंद दिलाई तब उसने कहा, "जी, वह बही इसलिए छिपाई गई है कि उससे अपना नुकसान होने की आशंका है।"

जमनालालजी ने कहा, "हम हारें या जीतें, पर असत्य व्यवहार बिल्कुल नहीं होना चाहिए।"

और बही अपने पास मंगवाली।

बही समय पर अदालत में पेश की गई।

अचरज कि जिस बही से हारने का डर था, उसीसे मुकदमा जमनालाल जी के पक्ष में मजबूत होगया।

: ६५ :

दुर्लभ जीवन

सतीशचन्द्र दास गुप्त

जमनालालजी का जीवन विशेष ध्येय के लिए समर्पित था। समर्पण जितना ही अधिक होता है उसका स्वरूप उतना ही अधिक पवित्र होता है और उतना ही समय और परिस्थिति पर उसका प्रभाव अधिक पड़ता है। और यह समर्पण का भाव जमनालालजी के जीवन और प्रवृत्तियों में उत्तरोत्तर विकास पाता रहा।

वह प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। व्यापारिक क्षेत्रमें वह तेजी से चोटी पर पहुंच गये और देश के विख्यात व्यक्ति बन गये और फिर गांधोजी के प्रभाव में उनकी समस्त प्रतिभा राष्ट्र-हित की ओर उन्मुख होगई और उन अनेक पारमार्थिक संस्थाओं के रूप में प्रकट हुई, जिनको उन्होंने जन्म दिया या पोशण किया।

जमनालालजी का-सा जीवन दुर्लभ होता है। आज के युग में तो वह पराकाष्ठा है। भारतीय इतिहास का वर्तमान युग उनसे पवित्र और गौरवान्वित हुआ।

: ६६ :

नैतिक भावना के व्यक्ति

एक पत्रकार

कुछ ही महीने पहले जब मैं जमनालालजी से मिला था तो वे उस बीमारी मे अच्छे हो रहे थे, जिसके कारण वे जेल से छूटे थे। उस समय हम दोनों में से किसीको भी यह नहीं मालूम था कि वही हम दोनों की आखिरी मुलाकात है।

वे एक प्रिय, मूल्यवान और सम्मानीय मित्र थे। हमारी मित्रता सन् १९३० में नासिक-जेल में हुई, जब हम 'ए' श्रेणी के कैदियों का सामूहिक जीवन व्यतीत करते—साथ रहते, साथ पढ़ते, साथ प्रार्थना करते थे। उनमें लोगों का विश्वास अर्जित करने का श्रेष्ठ गुण था और मैं शीघ्र ही उनकी व्यक्तिगत घनिष्ठता के जादू मे आकर्षित होगया। हमने कितनी ही समस्याओं पर चर्चा की—अपने व्यक्तिगत जीवन, देश के भविष्य, गांधीजी के व्यक्तित्व और प्रभाव, हिन्दी, भगवद्गीता आदि-आदि पर। उस समय से उनके और मेरे—दोनों परिवार भी परस्पर मित्र बन गये।

जमनालालजी में व्यापारिक बुद्धि-वैभव था। अगर उनपर गांधीजी का जादू न चल जाता तो वे सामान्य अर्थ में देश के प्रमुख व्यापारी बन जाते। पर सच पूछो तो वे प्रमुख व्यापारी थे भी। गांधीजी के साम्राज्य में उन्होंने व्यापारिक संगठन-शक्ति का उपयोग चरखा-संघ, हिंदी-प्रचार और अन्य देश-व्यापी रचनात्मक कार्यों के लिए किया।

बहुतों को पता नहीं है कि जमनालालजी, केवल संगठनकर्ता ही नहीं बल्कि एक राजनीतिज्ञ भी थे। उनका राजनैतिक निर्णय ठोस होता था। वे राजनैतिक संगठनों की सृष्टि और उनका नियंत्रण कर सकते थे। मध्य-प्रदेश के सार्वजनिक जीवन में उन्हें अक्सर ऐसा कर्तव्य प्राप्त हो जाता था

कि जैसा पहले न देखा गया और न महसूस किया गया। उन्होंने जयपुर-प्रजा-मंडल की कार्य-शीलताओं का नेतृत्व किया। कांग्रेस हाई कमांड की कार्र-वाहियों में वे ऐसे दृष्टिकोण लाने में सफल हुए, जो मंजे हुए राजनीतिज्ञों के लिए भी आश्चर्य का विषय था।

उनमें संगठन की जो असाधारण क्षमता थी उसके द्वारा उन्होंने अपने सम्पर्क में आनेवालों का सुन्दर संगठन किया। उन्होंने होनहार लोगों को चुना। उन्हें अनुकूल काम दिये। जिन लोगों का जिधर रुख था, उन्हें उसीमें जमा दिया।

वे हिन्दू-शास्त्रों में वर्णित ढंग के अमीर थे। उनके पास धन था तो इसलिए कि वे सत्पात्रों और सत्कार्यों के लिए दें। १९३० में जब हम विचार-विनिमय करते थे तो मालूम हुआ कि उनके दान उस समय तक ही लाखों तक पहुंच चुके थे। जिस किसीको किसी अच्छे काम के लिए रुपयों की जरूरत होती, वह जमनालालजी से या उनके द्वारा पा जाता था। फिर भी वे दान लेनेवालों की सत्पात्रता की परीक्षा करने में बहुत सावधान रहते थे। अपात्रकों को एक पाई भी नहीं देते थे—पर सत्पात्र को देने में तो वे सीमा का उल्लंघन कर जाते थे। वे एक अपरिग्रही की भावना से दान कर देते थे।

व्यापारिक परम्परा की आदतों के होते हुए भी वे एक बड़े आदर्शवादी और नैतिक भावना के आदमी भी। जेल-जीवन की कठोर स्थिति में भी, जबकि हममें से श्रेष्ठ लोगों को भी जेल के नियम तोड़ने का लोभ हो जाता था वे उनका पालन स्वयं तो सावधानी के साथ करते ही थे, दूसरों से भी कराते थे। राजनैतिक मामलों में वे उनके नैतिक पहलू को नहीं भूलते थे और शायद गांधीजी और उनके बीच बंधन की दृढ़ता का सबसे बड़ा कारण यही था।

गांधीजी के व्यक्तित्व में चमत्कारपूर्ण बात यह थी कि वे लोगों से आत्म-समर्पण करा लेते थे, अन्यथा ऐसे लोग पूर्णतः सांसारिक ही बने रहते। जमनालालजी का आत्म-समर्पण बिल्कुल परिपूर्ण था। जमनालालजी की गांधीजी के प्रति जो भक्ति थी उसे देखते हुए उस प्रेरक व्यक्ति 'गांधीजी' के शक्तिशाली आकर्षण का पता लगता था।

: ६७ :

चन्द दिनों के साथी

दातारसिंह

श्री जमनालालजी से पहले-पहल मेरी तब मुलाकात हुई जब महात्माजी ने मुझे १९४० में वर्धा में गो-सेवा-संघ की उद्घाटन-सभा में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया था। संघ के नियमोपनियमों पर बहस करने में हमें लगभग एक सप्ताह का समय लगाना पड़ा। चूंकि जमनालालजी ही इस संस्था के सर्वेसर्वा थे, मैंने अधिक समय उनके साथ बिताया। मैं बजाजवाड़ी में ठहरा था। वहां से हम महात्माजी से बातचीत करने सेवाग्राम जाया करते थे और महात्माजी बजाजवाड़ी आया करते थे। जब महात्माजी ने देखा कि हम उस काम में रम गये तो उन्होंने कहा कि अब आगे के लिए तुम दोनों भाई-भाई होगे और संघ के लिए मिलकर काम करोगे। इसलिए हमने इस संगठन को विकसित करने की योजना बनाई और उसके लिए देश के विभिन्न भागों में जाने का कार्यक्रम बनाया, लेकिन दुर्भाग्यवश माण्टगोमरी से घर पहुंचने के पहले ही मुझे अखबारों द्वारा जमनालालजी के निधन का समाचार पाकर गहरा धक्का लगा।

उनका व्यक्तित्व, सचाई, कठिन कार्य-साधना और कार्य के प्रति लगन ने मुझे इतना आकर्षित किया कि उन थोड़े ही दिनों के साथ से मैंने यह महसूस किया कि हम लम्बे समय से मित्र हैं और उनकी सहसा मृत्यु मुझे उतनी ही दुःखद लगी, जैसे मेरा अपना ही निकट-सम्बन्धी मर गया हो।

: ६८ :

संस्मृति

अकबर रजबअली पटेल

मैं जब अपने काकाजी के बारे में कुछ भी लिखना चाहता हूं तो अनेक घटनाएं मेरे दिमाग़ में चक्कर लगाने लगती हैं। मैं जमनालालजी को इसी नाम से सम्बोधित करता था। एक बालक के रूप में मैं काकाजी को अपने मैदान में टहलते देखता था और हमेशा सोचता था कि काकाजी कितने लम्बे कद के थे और इससे मैं खुद लम्बा बन जाता था। वे जब कभी बम्बई में होते तो हमारे यहां आया करते थे। उनसे मेरे पिताजी का पहला परिचय सन् १९२१ में एक ऐसे व्यक्ति के द्वारा हुआ जो मेरे पिताजी तथा काकाजी दोनों ही का दोस्त था। काकाजी की बातचीत में दंभ का नाम नहीं था और उनकी बातें खरेरूप में सीधे दिल पर असर करती थीं, जो कि अन्य व्यापारियों की डींगभरी बातों के समान नहीं होती थी। पहले-पहल काकाजी की बातें सुनकर कोई भी उन्हें रूखा समझने की भूल कर सकता था, परन्तु उसे शीघ्र ही मालूम हो जाता था कि वे रूखे नहीं, संत प्रकृति के थे। वे आपके अन्तरतम को जानते थे और आपके उस अन्तरतम को बाहर लाना चाहते थे। इस तरह हम-जैसे नवयुवकों के लिए वे पिता-तुल्य थे और बड़ों के लिए सच्चे भाई के रूप में।

मैं कभी-कभी उनसे वाग्युद्ध कर बैठता था और हमारी बहस का विषय बनती थी अहिंसा। वे बड़े ही चुस्त अहिंसक थे और मैं सदा उनसे इस विषय में मतभेद रखता था। एक दिन मैंने उनसे हँसते हुए कहा—"इन्सान तो आखिर जानवर ही है।" उन्होंने फौरन जवाब दिया—"नहीं, कुछ जानवर तो इन्सान से भी बेहतर हैं।" और तब मैंने अपनी बात में संशोधन करते हुए कहा—"इन्सान तो जानवर से भी बदतर है।"

उन्होंने अहिंसा का सहारा इसलिए लिया था कि उनका विश्वास था कि वह मानवीय प्रगति के लिए अनिवार्य है। अगर आप रचना करना चाहते हैं तो आपको अच्छाई की रक्षा करनी होगी, बुराई अपनी मौत मर जायगी—बुराई को मारने में लगकर अपने हाथ को गन्दा क्यों किया जाय और खतरा क्यों मोल लिया जाय, जिससे बुरे रोगाणुओं के इन्जेक्शनों का कोई अंश आपके शरीर में रहकर विकार पैदा करे।

मैंने काकाजी को असली रूप में तब पहचाना जब हमारे पिताजी की मृत्यु होगई। हम सब घबड़ा उठे थे और उनकी लम्बी बीमारी से हम सब परेशान होकर थक गये थे। ऐसे समय पर काकाजी हमारे काम आये और हमारे मामलों को दुरुस्त किया। कोई भी व्यक्ति ऐसे निःस्वार्थ भाव से कोई काम क्यों करता ? परन्तु मानवता का यह महान् नायक प्राणियों की सेवा के लिए ही पैदा हुआ था। वे जब कभी बम्बई आते हमारे पास आते और हमारी सभी चिन्ताएं दूर कर जाते।

हम माथेरान में थे उस समय हमें काकाजी के दुःखद अवसान का समाचार मिला। सुनकर हम बिल्कुल स्तब्ध रह गये। यह मौत ऐसी आकस्मिक थी। वे बहुत बुड्ढे तो थे नहीं। एक महीना पहले ही मैं उनसे वर्धा मिल आया था और जब मैंने पूछा कि उनका उस एकाकी झोपड़ी में रहने का आशय क्या है और वे मोटरकार तथा रेल-गाड़ी की यात्रा त्यागकर ऐसा तपस्यामय जीवन क्यों बिता रहे हैं। तो उसका जवाब उन्होंने यह दिया कि दो महीने बाद जब उनकी तपस्या की अवधि समाप्त हो जायगी तो वे उसका उत्तर मुझे देंगे। उनकी उस बात पर विचार करता हूं तो मुझे लगता है कि वे अपने भगवान् द्वारा उस लोक में बुला लिये जाने का कोई इशारा प्राप्त कर चुके थे, इसीलिए उन्होंने अपना दिल सादा और परिपूर्ण बना लिया था। हां, बालक के रूप में उन्हें देखकर मैं उनके समान लम्बा होना चाहता था। जब अन्तिम बार उनसे मिला तो मैं उनसे भी आगे बढ़ गया, मेरे हृदय के नायक जीवन की दौड़ में गिर गये थे। उनकी आत्मा को अनित्य शान्ति प्राप्त हो !

: ६९ :

एक हृदयस्पर्शी प्रसंग

महेन्द्रप्रताप साही

गुप्तदान किसी अनधिकारी को प्राप्त हो, इस विचार से जमनालालजी कभी सहमत न थे। अनधिकारी से उनका तात्पर्य किसी ऐसे व्यक्ति से था, जो दान पाकर उसका दुरुपयोग करे, अर्थात् दीन-आरत न होते हुए भी आर्थिक सहायता पाकर उसकी अधर्म की ओर प्रवृत्ति उत्तेजित हो, ऐसे दान का महत्व उनकी दृष्टि में न था। साथ ही, यदि अनेक धार्मिक कार्यों में बुद्धि से सहायता ली जाती है तो गुप्तदान में उसका प्रयोग-प्रयास परमावश्यक

ऊपर लिखे सिद्धांत का जीता-जागता उदाहरण एक बार मुझे जमनालालजी के संपर्क में प्राप्त हुआ, जिसने मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। उस घटना की स्मृति सदैव बनी रहती है।

लगभग १६ वर्ष पहले की बात है। जमनालालजी प्रसिद्ध चिकित्सक श्री दीनशा मेहता के आरोग्य-केन्द्र में स्वास्थ्य-साधन कर रहे थे। उन दिनों वह प्रातःकाल नियमानुसार वायु-सेवन करने तथा साधारण व्यायाम के हेतु रोज टहलने जाया करते थे। स्वभावतः उनका अतिथि रहकर मैं भी उनके साथ हो लिया करता था।

एक दिन जमनालालजी नगर में घूम रहे थे। अचानक एक मैला-कुचैला व्यक्ति सामने आगया और करुण शब्दों में अपनी विपत्ति का कुछ परिचय देकर आर्थिक सहायता की याचना करने लगा। जमनालालजी के पास एक छोटा-सा बटुआ था, जिसमें, संयोगवश, उस समय केवल एक इकन्नी थी। चलते-चलते अधिक ध्यान न दे सकने के कारण उन्होंने जल्दी से वह इकन्नी निकालकर उस व्यक्ति को दे दी, परन्तु याचक को यह स्वीकार

न हुआ और उसने निर्भीकता से उत्तर दिया कि यह सहायता उसके लिए पर्याप्त न होगी। इसपर जमनालालजी ने फिरकर मेरी ओर देखा, "क्या आपके पास टूटे पैसे होंगे ?" मैंने झट से अपना बटुवा खोला और एक चवन्नी निकालकर दे दी, परन्तु याचक ने इस बार भी धृष्टता और हठ का परिचय देते हुए वह चवन्नी लौटा दी।

अब मैं बड़े संकोच में पड़ गया। सोचने लगा कि याचक का दुराग्रह सेठ-जी को अवश्य ही रुष्ट कर देगा और यह सेठजी की सहिष्णुता की परीक्षा होगी। परन्तु सेठजी ऐसी कितनी ही परीक्षाओं में पहले ही सफलता से उत्तीर्ण हो चुके थे। यह तो केवल मेरेलिए ही एक नई-सी बात थी।

सेठजी ने एक क्षण विचार किया और बोले—"क्यों भाई, क्या बात है ? तुम अपना दुःख तो बताओ।" वह बोला, "श्रीमान्जी, मैं दसवां दर्जा पास हूं, लेकिन मुझे नौकरी नहीं मिलती, क्योंकि मुझे एक भयानक गुप्त रोग है। मेरे छः बच्चे हैं और उनके निर्वाह का कोई साधन नहीं।" इसपर सेठजी फिर ठहरे और थोड़ी देर रुककर बोले, "ठीक है। अच्छा, आओ मेरे साथ मोटर पर बैठो। चलो, किस मुहल्ले में रहते हो ?" उस व्यक्ति ने एक दूर मोहल्ले का नाम बताया और मोटर पर बैठ गया। साथ में सेठजी तथा उनकी धर्मपत्नी, मैं और ड्राइवर बैठे। थोड़ी देर चलने के पश्चात् हम लोग एक संकरी गन्दी गली के द्वार पर पहुंचे, जहां से मोटर आगे न जा सकती थी। जमनालालजी तत्काल मोटर से उतरे और उस व्यक्ति को लेकर आगे बढ़े। कुछ समय पश्चात् उस व्यक्ति के साथ लौटे और जानकीदेवीजी को संबोधित करते हुए बोले—"इस आदमी के दुःखी होने का सबूत पा चुका हूं। इसे दस रुपये का एक नोट निकालकर दे दो।"

याचक को विदाकर शांत होकर मोटर पर बैठ गये और मौन रहकर घर लौट आये। इस घटना की चर्चा उनके मुंह पर कभी नहीं आई।

: ७० :

साहस और चतुरता के प्रतीक

बनारसीलाल बजाज

आज से ३८ वर्ष पहले कलकत्ते की बात है। मैं स्कूल से लौटकर घर में ऊपर जा ही रहा था कि पिताजी ने मुझे अपने पास बुलाया और पास बैठे एक सज्जन को प्रणाम करने के लिए कहा। मैं उनके चरण छूने को झुका ही था कि आगन्तुक ने मुझे अपनी गोद में खींच लिया और बड़े प्रेम से मुझसे कई प्रश्न पूछे। किसी प्रकार उनके प्रश्नों का संक्षेप में 'हां' या 'ना' में उत्तर देकर पीछा छुड़ाकर ऊपर भागा, क्योंकि भूख बहुत जोर की लगी थी। जलपान करने के बाद ही मेरे मन में आगन्तुक को फिर से देखने की इच्छा जागृत हुई। मन में सोचने लगा कि यह कौन आदमी है, जिसने दादी की तरह इतना प्रेम दिखलाया। नीचे आकर देखा कि वे प्रेमालु सज्जन चले गये हैं। पिताजी से पूछने पर उनके नाम के अलावा यह पता लगा कि वे नागपुर की तरफ के रहनेवाले हैं, बजाज-परिवार के बड़े धनी-मानी तथा सुधारक व्यक्ति हैं और कांग्रेस-अधिवेशन में भाग लेने कलकत्ता आये हैं। यह अधिवेशन हमारे निवास-स्थान के पास ही हो रहा था। कांग्रेस क्या चीज है, यह पता न था, परन्तु 'बंकिमबाबू का 'आनन्द मठ' तथा अन्य बंगला-साहित्य पढ़ने से मन में भावना जरूर जागृत होगई थी कि अंग्रेजों को भारत से निकाल देना चाहिए। पिताजी बंग-भंग आन्दोलन के समय से ही केवल स्वदेशी वस्तु घर में लाते थे। अतः स्वदेशी और विलायती का भी थोड़ा ज्ञान उस समय हो चुका था।

मेरा जमनालालजी से फिर मिलने का आग्रह देखकर पिताजी उसी रात मुझे उनके निवास-स्थान पर ले गये। उन्होंने मुझे देखते ही पहले की तरह पुनः अपनी गोद में बिठा लिया और बड़े प्रेम से बातें करने लगे। आगे जाकर वह प्रेम बराबर बढ़ता ही गया। आज ३८ वर्ष बाद भी उसकी स्मृति

मेरे मानस-पटल पर ज्यों-की-त्यों अंकित हैं।

जमनालालजी के संपर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति यही अनुभव करता था कि उनका मैं ही सबसे अधिक प्यारा हूं। उनके मन में अपने और पराये का कोई भेद न था। गृहस्थ-जीवन में रहकर इस प्रकार का भेद न रखना कोई साधारण बात नहीं है। यह उन-जैसे साधक के लिए ही संभव था। जिसको वे एक बार अपना लेते थे, उसके सुख में अपनेको सुखी और दुख में अपने दुखी अनुभव करते थे।

राजाओं के दरबार में अच्छे-बुरे सभी तरह के लोग आश्रय पाते हैं, किन्तु सेनापति अपने साथ चुने हुए केवल साहसी व्यक्तियों को ही रखता है। उसी प्रकार पूज्य बापू के दरबार में शोषित और शोषक, अच्छे और बुरे सभी पनपते थे, किन्तु कर्मठ सेनानी जमनालालजी के क्षेत्र में वे ही लोग रह पाते थे जो कि सेवाभाव में रत थे। मनुष्यों को परखने की उनमें बड़ी क्षमता थी और इसी कारण केवल कर्मठ व्यक्ति ही उनके पास रह पाते थे। एक हजार की वस्तु खरीदते समय मनुष्य उतनी सतर्कता नहीं बरतता, जितनी कि एक पैसे की हंडिया लेते समय; क्योंकि जरा भी असावधानी होने से हजार की चीज में दस-पांच प्रतिशत का नुकसान हो सकता है, किन्तु यदि हंडिया फूटी निकल जावे तो उसमें शत-प्रतिशत का नुकसान है। इस बात का जमनालालजी को बहुत ध्यान था, और इसीलिए वे अपना चुनाव ठोंक-पीटकर करते थे। पूज्य बापू के रचनात्मक विचारों को कार्य रूप में परिणत करने का मुख्य भार जमनालालजी पर ही था। इस कार्य के लिए उन्होंने कई ईमानदार रचनात्मक कार्यकर्त्ता तैयार किये।

दयालु जमनालालजी दूसरों के दुःख से द्रवित होकर मुक्त-हस्त से मदद करने में कभी नहीं चूकते थे। बम्बई की बात है। उस समय कालबादेवी में उनकी गद्दी थी। दोपहर को एक महाराष्ट्रीय सज्जन उनके पास आये और बड़े ही करुणाजनक शब्दों में अपनी स्त्री की शोचनीय हालत का बयान सुनाने लगे। वे भी शायद वर्धा के ही रहनेवाले थे और पू. जमनालालजी के कर्जदार थे। कर्जदार भी ऐसे कि रुपया तो पचा ही गये, उल्टे उनको बदनाम भी

करते थे। उक्त सज्जन की पत्नी का आपरेशन तुरन्त करवाना जरूरी था और उनके पास इतन पैसे न थे कि वे इसकी व्यवस्था कर सकते। जमनालालजी ने बड़े ध्यान से सब हाल सुना तथा कुशल व्यापारी की तरह आपरेशन के खर्च का हिसाब लगाकर अपने मुनीमजी को बुलाकर कहा कि इनको इतने रुपये दे दो। मुनीमजी सन्न होगये, क्योंकि वे जानते थे कि उक्त सज्जन के नाम पर पहले के ही रुपये बाकी पड़े हैं। उन्हें चुपचाप खड़े देखकर जमनालालजी ने पुनः कहा, "जाओ, इनको तुरन्त रुपये दे दो।" इससे बढ़कर स्वार्थ-रहित गुप्तदान का कोई दूसरा उदाहरण मिल सकता है ?

जमनालालजी का सारा जीवन ही अतिथि-सेवा से ओतप्रोत था। शायद ही किसी गरीब या अमीर के यहां अतिथियों का इतना जमघट लगता हो। यदि लगता भी हो तो आप वहांपर भेद-भाव अवश्य पावेंगे। गरीब-अमीर अतिथि के लिए अलग-अलग भोजन-सामग्री बनती होगी और गृह-स्वामी की तो बात ही क्या ? किन्तु पूज्य जमनालालजी की अतिथिशाला में कोई भेदभाव नहीं था। भोजन सब एक-सा बनता था। घी और दूध की मात्रा सबके लिए समान थी। यदि किसी समय किसीने जमनालालजी की रोटी में घी अधिक डाल दिया तो फिर उनका मानसिक कष्ट देखते बनता था।

जमनालालजी का नाम देश-विदेश में कितना था, इसका एक उदाहरण यहां देता हूं। द्वितीय महायुद्ध के दौरान में मेरे पिताजी स्वर्गीय रामेश्वरलालजी बजाज इंग्लैण्ड से जब भारत आ रहे थे, अटलांटिक महासागर में उनका जहाज जर्मन लड़ाकू जहाज द्वारा डुबो दिया गया। फिर वे कैद करके फ्रांस के बोर्ड-स्थित कैम्प में भेज दिये गए। वहां करीब दस हजार युद्ध-बंदी थे। हालत बहुत शोचनीय थी। भारतीय कैदी थे तो थोड़े-से ही, किन्तु जो थे, वे अपढ़ और उजड्ड नाविक। उनके बीच में रहना पिताजी के लिए असंभव होगया। बहुत कोशिश करने के बाद उनको कैम्प के कमान्डेन्ट से मुलाकात करने की आज्ञा मिली। कमांडेंट ने पूज्य पिताजी को देखते ही पहचान लिया। वह पहले लन्दन के जर्मन दूतावास में काम करता था। १९३०

के असहयोग-आन्दोलन के समय हमलोग धरसाना-नमक-सत्याग्रह, सीमाप्रांत गोलीकांड की पटेल-रिपोर्ट आदि बहुत-सा अंग्रेजी साहित्य बनारस के बने लकड़ी के खिलौनों के साथ पैक करके लन्दन भेजा करते थे। वह साहित्य पूज्य पिताजी वहां पार्लमेंट के उग्रदल के सदस्यों में तथा कतिपय विदेशी दूतावासों में वितरित किया करते थे। कमांडेंट ने पिताजी को पहचानकर उनकी शिकायतों पर सहानुभूति के साथ विचार किया। उनके बारे में उसने बर्लिन के उच्च अधिकारियों के पास अपनी रिपोर्ट भेजी, जिसके फलस्वरूप थोड़े दिनों बाद ही पिताजी बर्लिन कैम्प में भेज दिये गये, जहां केवल ऊंचे दर्जे के कैदी ही रक्खे जाते थे। संयोग की बात कि बर्लिन कैम्प का जो कमांडेंट था, वह द्वितीय महायुद्ध के पहले पत्रकार की हैसियत से भारत आ चुका था। नवागन्तुक कैदियों में बजाज नाम देखकर उसे कौतूहल हुआ और उसने पिताजी को अपने पास बुलाया। उसने पूछा कि भारत में क्या कोई 'बजाज' राजनैतिक नेता है? पिताजी ने जमनालालजी का नाम बताया और कहा कि हम लोग एक ही परिवार के हैं। उसने कहा कि मैं भारत-भ्रमण के समय मि. बजाज का मेहमान रहकर उनका नमक खा चुका हूं। भारतीय परम्परा के अनुसार आप मुझे अपना मित्र समझें। बोर्डा के कमांडेंट की रिपोर्ट तो अच्छी थी ही। फिर बर्लिन-जेल के इस कमांडेंट ने भी उसके साथ ही अपनी रिपोर्ट लगाकर उच्च अधिकारियों के पास भेज दी, जिसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों बाद पिताजी रिहा कर दिये गए। यह बात सन् १९४१ की है, जबकि युद्ध बहुत जोरों से चल रहा था। वे जर्मनी में चाहे जहां जा सकते थे और वहां से बाहर जाने की भी अनुमति उन्हें मिल गई। युद्ध के समय शत्रु देश के बन्दी को स्वतन्त्र नागरिक के रूप में रहने देना तथा अपने देश को लौटने देना एक असाधारण घटना थी। पिताजी को ऐसा लगा मानों उनका पुनर्जन्म होगया हो। यह जमनालालजी की अतिथि-सेवा का ही फल था।

जमनालालजी में साहस और चतुराई कूट-कूटकर भरी थी। उन्होंने विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र बोस को दार्जिलिंग में साइंस इन्स्टीट्यूट की

स्थापना के लिए काफी बड़ी रकम दान में दी। जमीन देखने के लिए सर बोस ने सन् १९१९ में जमनालालजी को दार्जिलिंग बुलाया। मैं भी कलकत्ते से उनके साथ होगया। उनके व्यापारिक ज्ञान का छोटा किन्तु अच्छा उदाहरण मुझे देखने को मिला। सर बोस ने जो जमीन खरीदी थी वह एक पहाड़ के ढाल पर थी। जमीन समकोण किन्तु पेड़ों से आच्छादित थी। ढलाव के कारण जमीन के क्षेत्रफल का अन्दाज लगाना कठिन था। जमनालालजी तथा सर बोस आपस में बातें कर रहे थे। मुझे जमनालालजी ने हँसी-हँसी में कहा—"बनारसी, जाओ पूरी जमीन के चारों तरफ चक्कर काट आओ, और देखना, दौड़ते-दौड़ते अपने कदमों को गिनते भी जाना।" कदमों की गिनती से उन्होंने जमीन के क्षेत्रफल का अन्दाज लगा लिया।

बापू की चरखा-योजना को कार्य-रूप में लाने का सारा भार स्वर्गीय मगनलाल गांधी पर था, किन्तु खादी की उत्पत्ति तथा प्रचार का सारा भार जमनालालजी ने अपने कंधों पर उठाकर पूरी लगन और मेहनत के साथ उसे मजबूत पांवों पर खड़ा किया। काश्मीर-यात्रा में जब हम लोग श्रीनगर से पहलगाम जाते समय मार्तण्ड-मन्दिर देखने गये, तो पंडों ने हमें चारों ओर से घेर लिया। उनसे पिंड छुड़ाना कठिन देखकर जमनालालजी ने कहा कि आप लोगों में यदि कोई खादी पहननेवाला हो तो सामने आइए। हम उसीको अपना नाम और गांव बतावेंगे। यह सुनकर कुछ देर बाद ही ६०-७० वर्ष के एक वृद्ध शुद्ध मोटी खादी पहने हुए आ पहुंचे। प्रश्नोत्तर के बाद जब जमनालालजी को इस बात का पूर्ण संतोष हो गया कि ये वृद्ध महोदय केवल खादी और वह भी अपने घर की बनी खादी पहनते हैं तो बहुत खुश हुए। पंडे से बही लेकर अपना परिचय उसमें लिखा तथा मुझसे कहा कि तुम भी लिख दो, क्योंकि अपने बजाज-परिवार का पंडा होने की यही व्यक्ति योग्यता रखता है। जिस प्रकार भगवान बुद्ध की गाथा से उनके प्रमुख शिष्य सारिपुत्र तथा महामोगलायन को अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार युगपुरुष बापू के साथ उनके प्रमुख शिष्य जमनालालजी भी अमर होगये।

: ७१ :

दो स्मरणीय प्रसंग

गोरधनदास जाजोदिया

मेहमानों के लिए जमनालाल बड़ी चिन्ता करते थे। एक बार की बात है। शाम की रसोई में दूध नहीं परोसा गया। श्री राजेन्द्रबाबू के सेक्रेटरी मथुराप्रसादजी ने अमरस नहीं लिया और दूध भी नहीं मिला। उन्होंने मांगा नहीं। रात को उन्होंने सेठजी से इसकी चर्चा की।

सुबह जब मैं आया तो सेठजी बेचैन-से लगे। उन्होंने मुझसे कहा—"रात को मथुराप्रसादजी को दूध क्यों नहीं मिला?"

मैंने कहा, "मैं दादीजी (जमनालालजी की मां) से पूछता हूं। परोसगारी वे ही करवा रही थीं।"

पूछने पर मालूम हुआ कि अमरस होने के कारण दूध किसीको भी नहीं परोसा गया।

इससे सेठजी को कष्ट हुआ और उन्होंने मेहमानों के लिए उनकी सभी आवश्यकताओं की पूछ-ताछ करने की कड़ी हिदायत कर दी।

चीन की यात्रा के बाद पं. जवाहरलालजी कुछ चैक आदि लाये थे, जो खजान्ची के नाते सेठजी के पास आये। उनकी पहुंच अंग्रेजी में टाइप हुई तो साथ में पत्र भी अंग्रेजी में ही टाइप कर दिया गया। इस पत्र के नीचे सेठजी ने लिखा कि पत्र अंग्रेजी में लिखा गया, इसलिए माफ करें।

इसपर मैंने कहा, "मुझे दूसरा पत्र हिन्दी में लिखने को कह देते। इतनी-सी भूल के लिए इतनी बड़ी सजा तो मेरेलिए ज्यादा हो जायगी।"

इसपर उन्होंने हँसकर कहा, "मेरा आशय यह नहीं था। अगर तुम ऐसा लिखने को सजा समझते हो तो दूसरा लिख दो—सजा माफ हो जायगी।"

: ७२ :

उनका सत्कार्य

मूलचंद सदाराम गिंदोरिया

जमनालालजी के प्रति सारा राष्ट्र आभारी और कृतज्ञतापूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित कर चुका है; पर छोटा-सा नगर धूलिया उनका अतिशय कृतज्ञ है, क्योंकि उसकी जलपूर्ति-योजना को सफल बनाने का श्रेय उन्हींको है।

जमनालालजी साल में एक-दो बार धूलिया आते थे और यहां के निवासियों का जल-कष्ट प्रत्यक्ष देख चुके थे। जब १९३७ में इन पंक्तियों के लेखक को धूलिया म्यूनिसिपैलिटी के चुनाव में सफलता मिली तो उसने पानी की पूर्ति के लिए योजना बनाई और सारी बातें जमनालालजी के समक्ष रखीं।

उन्होंने कहा, "अब कांग्रेस मिनिस्ट्री है। एक शिष्ट-मण्डल लेकर मुख्यमंत्री श्री बालासाहब खेर के पास जाओ तो मंजूरी मिल जायगी।" इसके अनुसार योजना सरकार द्वारा स्वीकार तो होगई, लेकिन बिना रुपयों के कार्यरूप में कैसे परिणत होती? म्यूनिसिपैलिटी के डिबेंचर बिके नहीं। समस्या खड़ी हुई कि अब किया क्या जाय।

हम लोग फिर जमनालालजी से मिले। उन्होंने म्यूनिसिपैलिटी की रिपोर्ट और बजट की कापियां मंगाकर उसकी आर्थिक हालत देखी। फिर उन्होंने कमलनयनजी को भेजकर सत्तर हजार के डिबेंचर खरीद लिये। फिर तो मित्रों ने भी लगभग पच्चीस हजार रुपयों के खरीद लिये और एक साथ पिच्चानवे हजार के डिबेंचर बिक जाने से पानी की मुसीबत तुरन्त हल होगई और खूब पानी मिलने लगा। आज आबादी बढ़ जाने पर भी जल-पूर्ति हो रही है।

जमनालालजी के स्वर्गवास के बाद धूलिया म्यूनिसिपैलिटी ने उसकी सेवा के प्रतीक रूप उनके नाम पर अपने शहर के मुख्य मार्ग का नामकरण 'जमनालाल बजाज-मार्ग' कर दिया।

: ७३ :

विश्वसनीय मित्र

छोटेलाल वर्मा

स्वर्गीय सेठ जमनालालजी से मेरा परिचय बहुत पुराना था। विशेष परिचय तब हुआ जब मैं सन् १९३२ से सन १९३७ तक वर्धा जिला डिप्टी-कमिश्नर के पद पर नियुक्त था।

जमनालालजी सच्चे देश-भक्त, सत्यवादी, मिलनसार तथा सरल स्वभाववाले थे। उनके वर्धा-निवासी होने के नाते, मुझे सरकारी कामों में बहुत कम झंझटों का सामना करना पड़ता था। उन दिनों कुछ हिन्दुस्तानी अफसरों की, ब्रिटिश सरकार से वाहवाही लेने के उद्देश्य से, यह नीति थी कि कांग्रेस पर झूठे आरोप लगाकर कांग्रेसियों को दबायें। मैंने जमनालालजी से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मुझे ऐसी झूठी नेकनामी नहीं चाहिए। यदि वे अथवा अन्य कांग्रेसी सज्जन कानून तोड़ेंगे तो उनके विरुद्ध उचित कार्रवाही की जायगी, अन्यथा नहीं। इसका फल यह हुआ कि यदि किसी कांग्रेसी न कोई अनुचित कार्य किया तो उसकी उन्होंने खुले प्रकार से निंदा की। इसी प्रकार यदि किसी सरकारी अफसर से कोई गलती बन पड़ी तो उसके विरुद्ध उन्होंने अपनी आवाज ऊंची की।

एक बार की बात है। ब्रिटिश-सरकार के एक अंग्रेज बन्दोबस्त-कमिश्नर, जो मध्य-प्रदेश में नियुक्त थे, चांदा जिले के दौरे से लौटकर नागपुर ज़ानेवाली गाड़ी के आने तक वर्धा में ठहरे। उनकी अचानक जमनालालजी से मुलाकात होगई। उन्होंन कहा, "सेठजी, यह बताइए कि पहले आप अंग्रेज-सरकार के मित्र थे। अब क्यों सरकार-विरोधी कांग्रेस में सम्मिलित होगए ?"

उन्होंने निडर होकर उत्तर दिया, "यह आप लोगों की ही कृपा का

फल है।" उन्होंने आगे बताया कि किस प्रकार एक पुलिस कप्तान ने उनके साथ बहुत असभ्यता का बर्ताव किया था। फिर बोले, "जबतक विदेशी सरकार हमारे सिर पर है, देशवासियों के साथ उससे सद्व्यवहार की आशा करना झूठ है।"

साहब बहादुर निरुत्तर थे।

मैं सदैव सेठजी को आदर तथा प्रेम की दृष्टि से देखता था। मैं यह भली-भांति समझता था कि इस परस्पर प्रेम का वे कभी दुरुपयोग न करेंगे, बल्कि वे समय आने पर मेरा साथ देंगे। एक साल वर्धा नदी में बाढ़ आने से नदी के किनारे की फसलें बह गईं और कुछ तट-निवासी बेघरबार के होगए। मेरे सामने कठिन समस्या उपस्थित हुई कि उन बेचारों को आर्थिक सहायता किस प्रकार पहुंचाई जाय। रास्तों में कीचड़ होने के कारण मातहत अफसर दौरे पर जाने से आनाकानी करते थे। जिले के कुछ भागों में तो मैंने नदी में नाव में बैठकर दौरा किया, परन्तु बहुत-से ऐसे स्थान थे, जहां नाव पर सवार होकर जाना असम्भव था। मैंने अपनी कठिनाई जमनालालजी को सुनाई। उन्होंने तुरन्त कुछ उत्साही कांग्रेसी सज्जनों को मेरे सामने उपस्थित किया, जिन्होंने आपत्तिग्रस्त क्षेत्रों का दौरा करके मेरा दिया हुआ रुपया बांटा और लौटकर मुझे पाई-पाई का हिसाब दे दिया।

सन् १९३४-३५ में डाक्टर राघवेन्द्र राव हींगनघाट पधारनेवाले थे। वहां के कुछ युवक कांग्रेसियों ने उनका काली झंडियों से स्वागत करना चाहा। जमनालालजी को यह बात पसन्द न आई। उन्होंने कहा कि विरोधियों का इस प्रकार अपमान करना ठीक नहीं। फल यह हुआ कि उन्होंने सब झंडियां पहले से ही जलवा दीं और कहा कि जो डिप्टी कमिश्नर हमारे साथ सभ्यता का व्यवहार करता है, उसकी बदनामी नहीं होने देनी चाहिए।

वे महात्मा गांधी के सिद्धांतों के सच्चे अनुयायी थे।

स्वराज्य की जब आवाज गूंजी और देश-भक्त धड़ाधड़ जेलखानों में

ठूंसे जाने लगे तो जमनालालजी को भी कई बार जेल की यात्रा करनी पड़ी। कहां घर का सुखी जीवन और कहां जेल का कठोर जीवन! उनकी जीवन-यात्रा इतनी जल्दी समाप्त न होती, यदि जेल जाने की नौबत न आई होती। देशानुरागी होने के नाते उन्होंने अपनी जिन्दगी की कोई परवा न की। त्याग उनकी रग-रग में भरा था।

सन् १९३४-३५ में खान अब्दुल गफ्फारखां के विरुद्ध, जो उस समय वर्धा में थे, एक बिना जमानती वारंट गिरफ्तारी चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट, बम्बई की अदालत से मेरे सामने पेश हुआ। मैंने ब्रिटिश पुलिस कप्तान जिला को आदेश दिया कि खानसाहब को हथकड़ी न पहनाई जावे। खानसाहब की गिरफ्तारी के समय वे महात्मा गांधी के पास बैठे थे। जब वे महात्माजी के सामने उपस्थित हुए तो महात्माजी ने हँसते हुए कहा, "क्या मुझे पकड़ने आये हो?" कप्तान ने कहा, "जी नहीं, खानसाहब को गिरफ्तार करना है। महात्माजी ने कहा, "खानसाहब ये बैठे हैं, ले जाओ।" कप्तान ने कहा, "यदि आपको खानसाहब से अकेले में बातचीत करनी हो तो मैं अलग हो जाता हूं।" कोई पन्द्रह-बीस मिनट तक बातचीत के पश्चात् महात्माजी ने खानसाहब को पुलिस के सुपुर्द कर दिया। तत्पश्चात् मेरे आदेशानुसार खानसाहब लगभग छः बजे सायंकाल मेरे बंगले पर लाये गए। खानसाहब की गिरफ्तारी का समाचार पाकर जमनालाल-जी मेरे बंगले पर पहुंचे और मुझसे खानसाहब को अपने साथ ले जाने की इजाजत मांगी, क्योंकि उन दिनों खानसाहब का कुटुम्ब भी वर्धा में था। जो पुलिस इन्स्पेक्टर बम्बई से वारंट लेकर आया था, उसने खानसाहब को गिरफ्तारी के पश्चात् जमनालालजी के साथ भेजे जाने में आपत्ति उठाई। मैं जमनालालजी की आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर सकता था? मैंने केवल साथ जाने की इजाजत ही नहीं दी, बल्कि खानसाहब को अपने यहां रात्रि का भोजन कराने की भी अनुमति दे दी।

जमनालालजी का मुझपर पूर्ण विश्वास था। जब उन्होंने नागपुर-बैंक की स्थापना की तो मुझे भी बैंक का डाइरेक्टर नियुक्त किया।

: ७४ :

उनके जीवन का व्यावसायिक पहलू

चिरंजीलाल जाजोदिया

१९७० वि. में बच्छराज जमनालाल नाम से बम्बई-दुकान का उद्-घाटन मेरे सामने हुआ था। मैं पहले उसमें रोकड़िये के रूप में और बाद में मुनीम की हैसियत से काम करता रहा।

जमनालालजी ने दुकान खुलने पर सबसे पहले मुझसे ही कहा कि दुकान का सारा कारोबार सचाई और ईमानदारी से होना चाहिए, जिससे आपकी और हमारी दोनों की ही परलोक सुधरे। उन्होंने यह भी कहा कि ईमानदारी के कारण अगर कुछ दिन काम हो या नुकसान भी लगे तो कोई चिन्ता नहीं।

दुकान पर सचाई और ईमानदारी से काम होने के कारण पेढ़ी की साख बढ़ गई। नमूने के अनुसार ही सौदे का माल दिया जाता था और माल के नामंजूर होने की कभी नौबत ही नहीं आई। रुई की गांठें बांधते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि माल की किस्म एक-सी हो।

जितना माल खरीदा जाता उतने ही की बिक्री होती थी——सट्टा नहीं होता था। हर साल लगभग ४०,००० गांठ का काम-काज होता था। बम्बई के बाजार में साख और विश्वास इतना जमा कि कम-से-कम याज पर रकम मिल सकती थी, लेकिन बाजार से रकम कम ही ली जाती थी। बैंकों के दलाल पीछे लगे रहते थे, लेकिन उनसे काम लेने की जरूरत बहुत कम पड़ती थी। गांठ खोलने पर जिस गांठ से जो रुई ली जाती, उसके खरीदार को ही वापस दे दी जाती थी, हालांकि बाजार का दस्तूर यह था कि वह रख ली जाय क्योंकि साल में उससे पांच-सात हजार रुपये बन जाते थे। जमनालालजी ने

कहा कि वह नमूना जिसके माल में से निकाला गया हो, उसका मुनाफा उसे ही मिले, जो उसे खरीदे।

इनकमटैक्स में हिसाब दिखाने गये और आफीसर न जब इस प्रकार की सहायता की रकमें देखीं तो उन्होंने बिना किसी विशेष हिसाब के मान लिया कि हिसाब ठीक है। उसने कहा कि जो आदमी ऐसी सहायता करता है और आढ़तियों तक की नमूने की रुई का पैसा वापस करता है, वह फिर टैक्स क्यों बचावेगा ?

सेठजी का टाटा-कम्पनी में आना-जाना था। टाटा इ. डी. सासून मिल के शेयर १०) के निकाले। उस समय उन्होंने ५-५ हजार शेयर कुछ लोगों को दिये। इसकी सूचना जमनालालजी को भी भेजी कि आपको भी ५ हजार शेयर दिये जाते हैं, लेकिन जिस समय सूचना मिली शेयर का बाजार-भाव १४) का था। सेठजी ने लिखवा दिया कि मैं अनुचित लाभ नहीं लेना चाहता। बाद में सासून के शेयर ।।।=) होगये। इस प्रकार सेठजी की बात रही और नुकसान से भी बच गये। इस बात का असर डाइरेक्टरों पर पड़ा। फिर टाटा ने न्यू इंडिया इंश्योरेंस कम्पनी लि. कायम की। सेठजी को भी डाइरेक्टर बनाया। उन्होंने २५००० शेयर अंडरराइट किये, जिससे काफी रकम नफे की रही। डाइरेक्टर्स मीटिंग की फीस ५०) थी। सेठजी ने इसे ज्यादा समझा और २५) करवा दी।

'तिलक स्वराज फंड' में एक करोड़ इकट्ठा हुआ। इसके खजांची सेठजी थे। रसीदों पर सही उनकी व मेरी होती थी। इस काम के लिए एक आदमी १२५) मासिक का रखा। ५०-६० रु० पोस्टेज आदि में लगते थे। २५०००) तक पास में रखने की अनुमति थी, फिर भी वे ५०००) ही रखते थे। यदि कोई रकम शाम को भी आती तो इस दिन का भी वे ब्याज देते थे। सेठजी ने जिस निष्ठा और नेकनीयती से तिलक-स्वराज्य-फंड के रुपयों की रक्षा और प्रबन्ध किया, वह एक अनुकरणीय आदर्श है।

जमनालाल केशवदेव के नाम की दूकान चलती थी, जिसमें हीरालाल रामगोपाल साझीदार थे। केशवदेव रामगोपालजी के लड़के का नाम था।

बम्बई में मारवाड़ी विद्यालय खोलने के काम में जमनालालजी न प्रमुख हिस्सा लिया था और चन्दे में ११,००० रुपये दिये थे। यह समाचार फतहपुर रामगोपालजी के पास पहुंचा। समाचार मिलते ही रामगोपालजी बम्बई आये। जमनालालजी से झगड़ा किया कि ये रुपये क्यों लिखवाये। जमनालालजी ने कहा कि यह अच्छा काम था, इसलिए ये रुपये अच्छे काम में ही लगे हैं। लेकिन वे न माने। तब जमनालालजी ने कहा कि ये रुपये मेरे नाम लिख दो। फिर भी संतोष नहीं हुआ और जिद करते रहे कि तुम फर्म से अलग हो जाओ। दूकान का सारा हिसाब नक्की करो। वर्धा से सब मुनीमों को बुलाया गया। आंकड़ा तैयार किया गया। रुई की करीब ६,००० गांठें थीं। रामगोपालजी ने कहा कि इन्हें इसी समय बेच दो। रामगोपालजी की तरफ से लच्छीरामजी और जमनालालजी की तरफ से बालूभाई मशरूवाला को पंच बनाया गया था। रुई की गांठें नीलाम में जमनालालजी ने ले लीं। फिर वर्धा आये। प्रेस और मकान में से कौनसी-चीजें कौन लें, यह सवाल आने पर जमनालालजी ने कहा—आपको जंचे वह चीज आप रखें। प्रेस की मशीन पुरानी थी, इसलिए रामगोपालजी को लोगों न सलाह दी कि आप मकान और दूसरी जायदाद ले लें और प्रेस जमनालालजी को दे दें। रामगोपालजी के मन में यह भी बात थी कि प्रेस चलाने में जमनालालजी को रुपयों की अड़चन पड़ेगी और वे तकलीफ में आवेंगे। लेकिन जमनालालजी ने प्रेस ले लिया। वे हर तरह से सामनेवाले को संतोष देना चाहते थे। पर जब उन्होंने प्रेस ले लिया तो कुछ लोग कहने लगे कि कमाई की चीज तो उनके चली गई। इससे रामगोपालजी को पछतावा हुआ। जमनालालजी को यह बात मालूम होते ही वे उनके पास गये और बोले कि आप चाहें तो प्रेस ले सकते हैं। पर रामगोपालजी ने इसका उल्टा ही अर्थ लगाया। वे समझे कि इनके पास प्रेस चलाने के लिए पैसा नहीं है, इसलिए वापस लेने की बात कहते हैं। इस विचार से प्रेस वापस नहीं लिया।

यद्यपि सारी व्यवस्था नए सिरे से करने में सेठजी को बड़ी कठिनाई का

सामना करना पड़ा, क्योंकि जल्दी ही लड़ाई शुरू होगई। लोगों में डर फैल गया। घबराहट में रुई के दाम एकदम घट गये। रुई की गांठों के लिए जिनका पैसा लिया था, वे तकाजे करने लगे। इतने पर भी वे घबराये नहीं, बल्कि धीरज रक्खा और रुपयों की भी व्यवस्था कर ली। लेकिन कुछ ही दिनों बाद उन्हें रुई की गांठों में काफी मुनाफा हुआ। प्रेस की भी कीमत चढ़ गई। उनकी दिनोंदिन प्रगति होती चली। इधर रामगोपालजी का काम बिगड़ता गया। जमनालालजी ने उन्हें हर तरह से सहायता दी। संबंध बनाये रखा और उनके खान्दानवालों के साथ आदर का व्यवहार किया।

गांधीजी से सेठजी का संपर्क हुआ तो उनसे पूछा कि आपका निजी खर्च क्या है। १२५) रुपया बताने पर सेठजी ने २५,०००) जमा करवा दिये, जिसके ब्याज से उनका निजी खर्च चलता रहे।

डा. जगदीशचन्द्र बोस पहले दो बार विलायत गये और वहांपर बताया कि पेड़-पौधों में भी जीव है। वहांपर लोगों ने इस बात पर विश्वास नहीं किया और उनका मजाक उड़ाया। वे फिर जमनालालजी से मिले और कहा कि मैं यह बात यंत्रों द्वारा सिद्ध करके बताना चाहता हूँ। इसके लिए २०,०००) रुपये की मांग की। सेठजी ने यह रकम फौरन दे दी और उन्होंने बाद में विलायत जाकर यंत्रों द्वारा यह बात जनता को बताई तो फिर सब मान गये और सबको संतोष हुआ।

दूकान से जो रकम सहायता के रूप में दी जाती, वे सेठजी अपने हस्ते खर्च-खाते लिखवाते थे। यदि वह चाहते तो इस रकम को दूकान में लिखकर इनकमटैक्स से बच सकते थे। ऐसी रकम साल में उस समय २०-२५ हजार होती थी। इस प्रकार सहायता वे खुलेदिल से देते थे और अपने निजी खर्च में बचत करते थे, यहांतक कि वे कहते थे कि यदि समय हो तो ट्राम का एक आना भी बचाना चाहिए। वे कई बार बोरीबन्दर से कालबादेवी पैदल जाते थे। हमेशा कहते थे कि मैं तो ट्रस्टी हूं। अपने पर जितना भी कम खर्च हो, करना चाहिए।

नागपुर-सत्याग्रह के साल की बात है। उस साल दूकान में करीब १७

लाख का फायदा हुआ था। इनकमटैक्स के बारे में मुझसे उनकी बात हुई। सेठजी ने कहा कि अपने बहीखाते बताकर और बिना रिश्वत दिये तुम जितना भी फायदा हो सके, करना। ऐसा बताकर नागपुर-सत्याग्रह में लग गये और जेल चले गये। इनकमटैक्स का नोटिस आने लगा। मैंने कुछ भी कार्रवाही नहीं की। ९८,००० रु० टैक्स लग गया। उस समय मेखानजी कोला नामक सालिसीटर थे। वे मुझपर बहुत नाराज हुए और कहा कि ऐसा नहीं होना था। दूसरे दिन रुपये भरने का निश्चय हुआ। इनकमटैक्सवालों से मिल-मिलाकर ९८००) टैक्स तय करा लिया गया। सेठजी जेल से छूटकर आये। उन्होंने सब बातें पूछीं। इनकमटैक्स की बात निकली। उन्हें बहुत बुरी लगी। वे बापू के पास गये और सारी बात बताई। उन्होंने कहा कि मेरी गैरमौजूदगी में यह पाप होगया है। अब क्या किया जाय? बापू ने कहा कि तुम ये बचे हुए रुपये सार्वजनिक काम में दे दो। जितना टैक्स लगाया था—उसमेंसे खर्च और देना पड़ा—वह रकम काटकर ८२,०००) दे दो। सेठजी ने चेक दे दिया। बापूजी ने कहा कि जब तुम्हारे नौकर यह देखेंगे कि इस तरह असत्य से बचाया हुआ पैसा भी तुम नहीं रखते तो वे कभी असत्य काम नहीं करेंगे।

मेहमानों की खातिर पूर्णरूप से हो, वे इसका बहुत ध्यान रखते थे। एक बार श्री राजगोपालाचारी बम्बई आये। जाते समय उनके साथ जमनालालजी के आदेशानुसार फल देने चाहिए थे, लेकिन दुकान के आदमी ने उनसे इसके लिए पूछा, और उन्होंने इन्कार कर दिया, इसलिए नहीं दिये गये। इसपर जमनालालजी बहुत नाराज हुए और भविष्य में ध्यान रखने को कहा।

एक बार एक फौजी अंग्रेज अफसर फर्स्ट क्लास में इनके साथ थे। ये कमोड पर हिन्दुस्तानी तरीके से पैर रखकर बैठे, जिससे जूतों की मिट्टी उसपर लग गई, वह अफसर बहुत नाराज हुआ और झगड़ा किया। बाद में जब आफिसर किसी स्टेशन पर उतरा तो उसके बेग पर से उसका नाम व पता नोट कर लिया। उसके सीनियर आफिसर को पत्र लिखा गया और

आफिसर ने माफी मांगी।

साधारणतया वे व्यापारिक कामों को ज्यादा नहीं देखते थे, फिर भी थोड़ा-सा कुछ देख लेने से वे सब बात समझ लेते थे और ऐसा प्रतीत होता था कि कोई भी बात उनके ध्यान के बाहर नहीं है।

●

जमनालालजी के लिए यह कहा जाना सच है कि वह देश की उन्नति के लिए जिये और उनका एक भी काम ऐसा नहीं था, जो देशसेवा के लिए न हो। अपने प्रारम्भिक जीवन से ही वह महात्मा गांधी के सच्चे अनुयायी, मित्र व उनकी प्रवृत्तियों के समर्थक बन गये थे। अपने जीवन को ही उन्होंने इस पवित्र उद्देश्य के लिए समर्पित कर दिया था। उन्होंने अपने घर को प्रत्येक सार्वजनिक कार्य और कार्यकर्त्ता का तथा सेवाग्राम को गांधीजी का ही नहीं, गांधी-आन्दोलन से सम्बद्ध कई संस्थाओं का घर बना दिया था। उन्होंने ग्रामोद्योग-संघ, चर्खा-संघ, बुनियादी तालीम योजना को, जो महात्मा गांधी के जीवन, कार्य और विचारों के मूर्त स्वरुप थे, जन्म दिया था।

कार्यसमिति के सदस्य की हैसियत से उनके बिना काम नहीं-सा चलता था। उनकी सलाह हमेशा सद्यस्फूर्त, व्यावहारिक और शुद्ध विवेकपूर्ण होती थी। सब समस्याओं को देखने की उनकी दृष्टि सच्चे रूप में राष्ट्रीय और असाम्प्रदायिक होती थी।

वे सदात्मा थे। स्वभाव में वे अत्यन्त प्रसन्नमुख थे और त्याग में तो देश के सार्वजनिक जीवन में वे अद्वितीय ही थे।

—भूलाभाई देसाई

: ७५ :

राजस्थान के अनन्य हितचिंतक

शोभालाल गुप्त

राजस्थान के सार्वजनिक जीवन में एक विनीत कार्यकर्ता की हैसियत से मैंने अपने जीवन का श्रेष्ठतम भाग बिताया है और इस दीर्घ काल में मुझे जिन अनेक छोटे-बड़े व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला उनमें स्वर्गीय सेठ जमनालालजी मेरे मन पर विशेष छाप छोड़ गए हैं। वह देश के चोटी के नेताओं में से एक थे, किन्तु छोटे-से-छोटे कार्यकर्ताओं के लिए भी सहज-सुलभ थे। उनको उनकी छोटी-से-छोटी कठिनाइयों का भी खयाल रहता था और उनकी सहायता करने में वह कभी संकोच नहीं करते थे। इसी कारण उनका कार्यकर्ताओं के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। सेठ जमनालालजी ने अनेक कार्यकर्ताओं को राष्ट्र-सेवा में नियोजित किया और उसके फलस्वरूप रचनात्मक कार्यों और स्वतंत्रता-आन्दोलनों को बड़ा बल प्राप्त हुआ। वह कार्यकर्ताओं के अच्छे संग्राहक थे।

जमनालालजी का जन्म राजस्थान में हुआ था। राजस्थान के जल और मिट्टी से उनका शरीर बना था। यद्यपि वह दूसरे प्रान्त में गोद चले गए थे, तथापि राजस्थान के प्रति उनका आकर्षण और लगाव हमेशा बना रहा। शेखावाटी में सीकर के पास काशीकावास एक छोटा-सा गांव है। वह वहीं पैदा हुए थे। मैंने वह घर देखा है, जिसमें जमनालालजी ने जन्म लिया था। एक दिन हमने उस घर के आंगन में बैठकर जमनालालजी के साथ बाजरे की रोटियां बड़े स्वाद से खाई थीं। जमनालालजी ने इस गांव में एक कूप निर्माण कराया था और एक विद्यालय भी चलाते थे। उनका अपना गांव उनकी सेवा-भावना से कैसे वंचित रह सकता था? राजस्थान के साथ उनका जो यह सम्बन्ध था, उसीने इनका मेरे साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध

जोड़ दिया था। यदि राजस्थान के प्रति उनकी ममता और भक्ति न होती तो हम-जैसे लोगों के लिए वह शायद दूर के ही नक्षत्र रहते।

बिजौलिया का नाम राजस्थान के आधुनिक इतिहास में अमर होगया है। यहींकी किसान-जनता ने भारत में शायद सबसे पहले सामन्ती शोषण के खिलाफ सामूहिक करबंदी का आन्दोलन चलाया था। एक प्रकार से बिजौलिया को राजस्थान में जन-आन्दोलनों का जन्मदाता कहा जा सकता है। बिजौलिया के किसान-आन्दोलन का नेतृत्व स्वर्गीय श्री विजयसिंहजी पथिक ने किया था। कई हजार किसानों ने अनुचित टैक्सों के विरोध में कई वर्ष तक जमीन नहीं जोती। इस सत्याग्रह की ओर गांधीजी का ध्यान आर्कषित हुआ और उन्होंने उसमें दिलचस्पी ली। जमनालालजी ने गांधीजी की प्रेरणा पर बिजौलिया के संकटग्रस्त किसानों की मुक्तहस्त होकर आर्थिक सहायता की और उनको अपनी मांगों पर डटे रहने का बल प्रदान किया। मेरे बचपन के कुछ वर्ष बिजौलिया में व्यतीत हुए और बिजौलिया-किसान-आन्दोलन के नेता श्री पथिकजी से मैंने देश-भक्ति का मंत्र प्राप्त किया। उन्हींके द्वारा मैंने सबसे पहले जमनालालजी का परिचय प्राप्त किया।

सन १९१९-२० की बात है। श्री पथिकजी को जमनालालजी न वर्धा आमंत्रित किया। उस समय राजस्थान के महारथी स्वर्गीय अर्जुनलालजी सेठी और केसरीसिंहजी बारहठ भी जमनालालजी के अतिथि के रूप में वर्धा पहुंच चुके थे। वर्धा जमनालालजी के कारण राजस्थान के नेताओं का केन्द्र बन गया। वहीं राजस्थान की रियासती जनता के उद्धार की विविध योजनाओं ने मूर्त रूप धारण किया। 'राजस्थान केसरी' नामक एक हिन्दी पत्र पथिकजी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ। यह पत्र जमनालालजी की राजस्थान-भक्ति का प्रथम प्रतीक था। इस पत्र को उस समय जितनी सफलता मिली, उतनी शायद ही और किसी रियासती पत्र को मिली होगी। यह पत्र रियासतों में बड़ा ही लोकप्रिय हुआ और देखते-देखते उसके हजारों ग्राहक बन गए। श्री पथिकजी कुछ समय बाद राजस्थान की राजनीति में

सक्रिय भाग लेने के लिए वर्धा से अजमेर लौट आये। उसके बाद भी 'राजस्थान केसरी' वर्धा से कुछ वर्ष तक प्रकाशित होता रहा है, किन्तु वर्धा राजस्थान से बहुत दूर पड़ता था और उसकी भूमि पत्र के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं हुई। वह बन्द होगया, किन्तु जमनालालजी के राजस्थान-प्रेम की याद पीछे छोड़ गया।

वर्धा में ही राजस्थान की जनता की सेवा के लिए आजीवन सेवकों की 'राजस्थान-सेवा-संघ' नामक संस्था की स्थापना हुई। उसका कार्यालय वर्धा से हटकर अजमेर आया और मैं भी उसमें आजीवन सेवक के रूप में शामिल हुआ। यह वह संस्था थी, जिसने राजस्थान की रियासतों में सैकड़ों वर्ष पुरानी सामन्तवादी व्यवस्था की जड़ों को हिला दिया था। जमनालालजी का इस संस्था की कार्यनीति से मतभेद था। जमनालालजी यह मानते थे कि रियासतों में सीधा राजनैतिक आन्दोलन नहीं करना चाहिए। राजाओं की स्वीकृति और सहमति से केवल खादी-प्रचार आदि रचनात्मक काम करना चाहिए। किन्तु इस संस्था के कार्यकर्ता जिस सादगी से रहते थे और कष्ट सहन करते थे, उसकी जमनालालजी पर अच्छी छाप थी। जब संस्था के प्रमुख श्री पथिकजी मेवाड़ में किसान-आन्दोलन के सम्बन्ध में पकड़ लिये गए तो जमनालालजी उसके प्रति उदासीन न रह सके। उनकी ओर से प्रतिमास एकसौ रुपये का बीमा संघ के कार्यालय में पहुंचने लगा। यह क्रम कई वर्ष तक जारी रहा और पथिकजी के जेल से छूटने के बाद ही बन्द हुआ। वह राजनीति में अपने विरोधी के भी गुणों की कदर करते थे। स्वर्गीय अर्जुनलालजी सेठी एक समय जमनालालजी के कटु आलोचक बन गए थे। लेकिन जब जमनालालजी को मालूम हुआ कि सेठीजी आर्थिक संकट में हैं तो उन्होंने उनको आर्थिक सहायता देने में संकोच नहीं किया। इस प्रकार किसी विरोधी की सहायता करना किसी उदार-हृदय व्यक्ति का ही काम हो सकता है। ये उदारहण इस बात के परिचायक हैं कि उन्होंने हृदय पाया था।

सन् १९२९ में हम लोगों ने ब्यावर से रियासती जनता के लिए एक अंग्रेजी साप्ताहिक निकालना शुरू किया। उस समय 'राजस्थान-सेवा-संघ'

आन्तरिक मतभेदों के कारण समाप्त हो चुका था। इस अरसे में जमनालालजी ने हम लोगों को पहले से भी ज्यादा अपनी ओर खींचा। उन्होंने प्रस्ताव किया कि हम लोग कुछ समय के लिए साबरमती-आश्रम में रहकर गांधीजी के व्यक्तिगत सम्पर्क में आवें। हमने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। अंग्रेजी साप्ताहिक का प्रकाशन बन्द कर दिया गया और मैं तथा भाई रामनारायणजी चौधरी साबरमती चले गए। हमारा आर्थिक दायित्व जमनालालजी ने अपने कंधों पर ले लिया। विश्व की एक महान आत्मा के चरणों में बैठकर कुछ सीखने और समझने का जो अवसर मिला, यह जमनालालजी की ही कृपा का फल था और उनके इस अनुग्रह को कभी नहीं भुलाया जा सकेगा।

गांधीजी ने ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दी। आश्रम के अहिंसक सैनिकों को साथ लेकर उन्होंने नमक-कानून तोड़ने के लिए डांडी के समुद्र-तट की ओर प्रस्थान किया। साबरमती-आश्रम उजड़ गया। मैं जमनालालजी के साथ निजी मंत्री के रूप में उनके साथ हो लिया। उस समय उनको और भी नजदीक से देखने का मौका मिला। प्रायः चौबीसों घण्टे उनका साथ रहा। उनका सारा पत्र-व्यवहार मेरे हाथों में होकर गुजरता था। देश के भिन्न-भिन्न भागों से कार्यकर्ता उनका पथ-प्रदर्शन मांगते रहते थे। इस अरसे में मैंने देखा कि वह कितने सादगी-पसंद, मितव्ययी, सहृदय, सरल, नियमित, उदार और सेवा-रत थे। उनका दैनिक कार्यक्रम बहुत व्यस्त रहता था। समय-समय पर उपस्थित होनेवाली समस्याओं को वह बड़ी कुशलता के साथ निपटा देते थे। यह भारत के राष्ट्रीय जीवन में उथल-पुथल का काल था। देश में सत्याग्रह का वातावरण फैलता जा रहा था। सरकार ने जमनालालजी को अधिक दिन स्वतंत्र नहीं रहने दिया। वह बम्बई में पकड़ लिये गए। उनके साथ मेरा निकट का सहवास छूट गया। मैं राजस्थान में काम करने के लिए लौट आया। उन्होंने जेल के सींखचों के भीतर से जो पत्र उस समय मुझे लिखा, वह मेरे प्रति गहरी आत्मीयता और विश्वास से भरा हुआ था। उनका यह प्रेम और विश्वास अन्त तक बना रहा।

जमनालालजी बीच-बचाव और मध्यस्थता करने में भी बड़े कुशल थे। उनके व्यक्तित्व का रियासती अधिकारियों पर बड़ा प्रभाव था। गांधीजी का हाथ सदा उनकी पीठ पर रहता था। बिजौलिया के किसानों की एक गुत्थी बहुत दिनों से चली आ रही थी। वहां जमीन का बन्दोबस्त हुआ था और लगान की दर काफी ऊंची स्थिर की गई थी। किसानों में इससे असन्तोष पैदा हुआ और उन्होंने विरोध-स्वरूप अपनी गैरसिंचाईवाली जमीनों को सामूहिक रूप से त्याग दिया। राज्य को कुछ समय बाद लगान में कमी करनी पड़ी, किन्तु इस बीच जमीनें दूसरे लोगों को दे दी गईं। किसान चाहते थे कि उनकी जमीनें उनको लौटा दी जायं। राज्य ने जमीनें न लौटाने की हठ पकड़ ली। अतः किसानों ने सत्याग्रह का आश्रय लिया। अपनी जमीनों में हल चलाने जा पहुंचे। राज्य ने नए जमीन-मालिकों के पक्ष में हस्तक्षेप किया। सामूहिक गिरफ्तारियां हुईं और पशु-बल द्वारा, कानूनी और गैर-कानूनी तरीकों से आन्दोलन को दबाया गया। सारे इलाके में आतंक का राज्य छा गया। श्री हरिभाऊजी उपाध्याय इस आन्दोलन का संचालन कर रहे थे, किन्तु उनका मेवाड़-राज्य में प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया।

आखिर जमनालालजी को इस मामले को अपने हाथ में लेना पड़ा। वह उदयपुर गए तो मैं भी उनके साथ था। उनको राजकीय अतिथि के रूप में ठहराया गया। उस समय मेवाड़ राज्य के प्रधान कर्ता-धर्ता सर सुखदेव-प्रसाद थे, जिन्हें मुसाहिबआला कहा जाता था। उनके साथ बातचीत करके जमनालालजी ने एक समझौता किया। वह महाराणा से भी मिले। समझौते में राज्य ने स्वीकार किया कि वह नए मालिकों को समझा-बुझाकर जमीनें उनके पुराने मालिकों को लौटाने की कोशिश करेगा। गिरफ्तार राजबंदी रिहा कर दिये जायंगे और जुर्मानों आदि की राशि लौटा दी जायगी। इस तरह जमनालालजी उदयपुर से सफल होकर लौटे।

यह तय पाया कि जमनालालजी अपना एक प्रतिनिधि बिजौलिया भेजें, जो किसानों को समझौते की शर्तों से अवगत करे, ताकि उनकी ओर से उनकी अवहेलना न हो। मुसाहिबआला सर सुखदेवप्रसाद ने कहा कि वह बिजौलिया

के अधिकारियों को सूचित कर देंगे कि जमनालालजी के प्रतिनिधि को किसानों से सम्पर्क स्थापित करने दें और उसके काम में कोई रुकावट न डालें। जमनालालजी ने मुझे बिजौलिया जाने के लिए चुना। कुछ किसानों के साथ, जो अजमेर से आये हुए थे, मैं बिजौलिया के लिए रवाना हुआ। किन्तु सर सुखदेव की सूचना समय पर बिजौलिया न पहुंची और बिजौलिया की सीमा में प्रवेश करने पर जो स्वागत बिजौलिया के अधिकारियों ने मेरा किया, उसको मैं कभी नहीं भूल सकूंगा। कुछ घुड़सवारों ने मुझे और मेरे साथी किसानों को घेर लिया और बुरी तरह मारा-पीटा। उस दिन सिर पर इतने जूते पड़े कि उसकी कोई गिनती न थी। जो किसान मेरे साथ थे, उनको भी मेरे जते मारने के लिए बाध्य किया गया। एक घुड़सवार ने तो अपने दांत मेरी नाक पर गड़ा दिये, किन्तु नाक बचनी थी, बच गई। अच्छी तरह मरम्मत करने के बाद मुझे दूसरे दिन बिजौलिया की सीमा से बाहर निकाल दिया गया। यह व्यवहार मेरे ही साथ नहीं हुआ। इससे पहले और भी कई कार्य-कर्ता राज्य-कर्मचारियों द्वारा ऐसी ही पशुता के शिकार हो चुके थे।

जब मैंने लौटकर इस घटना की सूचना जमनालालजी को दी तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उदयपुर के मुसाहिबआला को तार दिया और घटना की जांच करवाने और अपराधी कर्मचारियों को दण्ड देने की मांग की। उन्होंने लिखा कि यह मेरा नहीं, बल्कि उनका अपमान हुआ है।

मुसाहिबआला ने इस घटना पर अफसोस प्रकट किया और उसकी जांच करने के लिए उच्च अधिकारी नियुक्त किया। जांच के पश्चात बिजौलिया के पुलिस कोतवाल को बर्खास्त कर दिया गया। मैं दुबारा बिजौलिया गया और किसानों को समझौते से अवगत किया। तब राज्य का आतंक समाप्त होगया था।

हमने रियासती जनता की सेवा के लिए 'राजस्थान-सेवक-मंडल' नाम की अजमेर में एक नई संस्था स्थापित की और जमनालालजी को उसका सलाहकार मनोनीत किया। हम लोग अपनी प्रवृत्तियों से उन्हें परिचित रखते थे और उनका पथ-प्रदर्शन हमको निस्संकोच प्राप्त रहता था।

जमनालालजी की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वह अन्तर्मुख थे, आत्म-जागरूक थे। नियमित रूप से डायरी लिखते थे और हमेशा अपनी कमजोरियों से लड़ते रहते थे। यही कारण था कि उनका जीवन सदा विकासोन्मुख रहा।

यह कोई साधारण बात नहीं कि जो आपका अनिष्ट करे, उसके भी आप भले की कामना करें। किन्तु जमनालालजी ने उनका अनिष्ट करने या चाहनेवालों का भी जान-बूझकर मदद की। एक उदाहरण तो मुझे ऐसा मालूम है कि एक कार्यकर्ता ने उनके हृदय को अकारण गहरा आघात पहुंचाया था, किन्तु उन्होंने उस न भूल सकनेवाली बात को भी भुला दिया और उस कार्यकर्ता को अपना विश्वास और प्रेम देकर अपनी असाधारण महानता का परिचय दिया। यह उनके जीवन के आखिरी काल की बात है। ऐसी क्षमाशीलता इस दुनिया में मुश्किल से ही मिलेगी।

जमनालालजी से मेरी अन्तिम भेंट अप्रैल सन् १९४१ में हुई। मैं अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में भाग लेने वर्धा गया हुआ था। हमारी राजस्थान में काम करने की एक योजना थी और मेरा उद्देश्य उसमें जमनालालजी का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना था। किन्तु उस समय जमनालालजी राजस्थान के कार्यकर्ताओं से खिन्न और निराश-से थे, इसलिए उन्होंने कोई उत्साह नहीं दिखाया। पर उन्होंने मुझे वर्धा आ बैठने का न्यौता दिया, जिसे मैं परिस्थितिवश स्वीकार न कर सका। उनका पत्र आया कि जब सुविधा हो तब आ जाना। इस पत्र के मिलने के तीन-चार दिन बाद ही वह चल बसे।

: ७६ :

विजयी जीवन

ब्रिजलाल बियाणी

भाई जमनालालजी हमें अचानक छोड़ गये। उनकी स्मृति, उनके कार्यों की विशालता आज भी इतनी स्पष्ट आंखों के सामने बनी हुई है कि उनका वियोग सन्निकटता में ही दिखाई देता है। दुनिया में निरुपयोगी वस्तुओं के पुनर्विकास के लिए मृत्यु की आवश्यकता रहती है, पर वह भी कभी-कभी अपने कर्तव्य में भूली हुई दिखाई देती है। एक उदाहरण भाई जमनालालजी का स्वर्गवास है। गलती में हमेशा हार होती है। इसी कारण इस घटना में मृत्यु की हार और जमनालालजी की विजय है। मृत्यु उनके शरीर को हमसे अलग कर सकी, पर उनकी अमर और पवित्र कीर्ति को वह हमसे नहीं छीन सकी। जमनालाल-जी का सारा जीवन विजयी जीवन रहा। जीवन के जिस क्षेत्र में उन्होंने हाथ डाला, विजय-श्री उनके सान्निध्य में बैठी ही दिखाई दी। अन्त में मृत्यु पर भी उन्होंने विजय पाई। विजयी जीवन पर मृत्युंजय का विजय-कलश उन्होंने चढ़ा दिया। यही भाई जमनालालजी का सम्पूर्ण विजयी जीवन है। वह आरम्भ से अन्त तक विजय से भरा है।

उनका जीवन क्रिया का सतत स्रोत था, सेवा का शांत और अथाह प्रवाह था, निर्भयता का निवास था, श्रद्धा का आश्रय था, उदारता का निर्निनाद निर्झर था, सादगी की पाठशाला थी, प्रेम का निर्मल निकेतन था और था सबका सहारा। उनकी शारीरिक विशालता उनके हृदय की या भीतरी जीवन की विशालता की द्योतक थी। उनका स्मित अन्तर-पवित्रता का परि-मल था, और उनका सहवास शक्ति और स्फूर्ति का प्रवर्तक था।

: ७७ :

शक्ति के स्तम्भ

इंदिरा गांधी

मैं बचपन से ही जमनालालजी को जानती थी और उन्हें अपने परिवार का एक सदस्य समझती थी। वह भी मुझे अपनी बेटी की तरह मानते थे। हमारी बहुत-सी घरलू समस्याओं को सुलझाने में उनकी सलाह भी ली जाती थी। कांग्रेस के तो वह 'भामाशाह' थे ही।

और भी बहुत-से कांग्रेसी परिवार उनकी हमदर्दी से वंचित न थे। उन दिनों ज्यादातर कांग्रेसजन जेल में होते थे तो जमनालालजी उनके परिवारों के लिए शक्ति का एक स्तम्भ थे। उन्हें आर्थिक सहायता देने के साथ पढ़ाई और दूसरी घरेलू समस्याओं के हल करने में भी हर प्रकार की मदद देते थे।

स्त्रियों को कांग्रेस-संस्था में उचित स्थान दिलाने के लिए जमनालालजी खास तौर पर उनकी सहायता किया करते थे। वह समय स्त्रियों के लिए बहुत मुश्किल का था, जबकि उनके सार्वजनिक जीवन में आने के विरुद्ध कटु भावनाएं थीं।

उनके छोटी बातों पर भी पूरा ध्यान देने, उनकी शुद्ध सहृदयता तथा सादगी ने मुझपर गहरा असर छोड़ा।

उनके स्वर्गवास से देश-भर के कांग्रेसी तथा अन्य मित्रों को जो अभाव प्रतीत हुआ, उसको पूरा करना कठिन है।

: ७८ :

सफल जीवन

पूनमचंद रांका

भारत को गुलाम बनाने और बनाये रखने में अंग्रेजों का सबसे अधिक हाथ भारतीयों ने ही बंटाया। यह कम लज्जा और दुख की बात नहीं थी। सेठ जमनालालजी ने इस अपराध का प्रायश्चित किया, इस कलंक को धो डाला। अपनी पूंजी, बुद्धि और शरीर का देश-हित के लिए उपयोग करके एक ऊंचा आदर्श उपस्थित किया।

गांधीजी का नेतृत्व उन्होंने अन्त तक माना। इतना ही नहीं, उनके प्रत्येक सिद्धान्त, व्रत और कार्यक्रम पर अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में अमल करने की निरंतर चेष्टा भी की। इसमें उन्होंने जो सफलता प्राप्त की, वह दूसरों के लिए एक अनूठी मिसाल पेश करती है। महात्माजी ने सच ही कहा था—"विचार और कार्यक्रम मेरा होता था, परन्तु योजना और संगठन जमनालालजी का।" उनकी यह विशेषता बेजोड़ है। इसीलिए उनके रिक्त स्थान की पूर्ति करना बहुत मुश्किल है। गांधीजी के यों तो लाखों भक्त और करोड़ों अनुयायी हैं, पर सेठजी-जैसे नैष्ठिक, धुन के पक्के, बात के धनी और पुरुषार्थी अनुयायी बिरले ही मिलेंगे।

वर्धा, सेवाग्राम, नालवाड़ी, मगनवाड़ी, पवनार, जयपुर आदि स्थानों की यात्रा करनेवालों से पूछिये तो वे कहेंगे कि वहां की भूमि का जर्रा-जर्रा सेठ जमनालालजी की सात्विक क्रियाशीलता, लगन और तत्वनिष्ठा की गवाही दे रहा है।

: ७९ :

'स्वयंसेवक'

गंगाधर माखरिया

मुझे सन्-संवत् का स्मरण तो नहीं है। पर शायद १९२० के आसपास की बात होगी। उन दिनों मैं छोटा था, जब जमनालालजी हमारे घर बगड़ पधारे थे। यह बात भली-भांति याद है कि जब चिड़ावे में नवयुवक सेठों ने सेवा-समिति की स्थापना की थी तो खेतड़ी के राजा इस बात से डर गये थे कि उससे उनके राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र होने की संभावना है। वहां के चार बड़े सेठों के नाम वारंट निकालकर उन्हें गिरफ्तार करने के बाद बीस-बीस मील पैदल चलाकर जेल पहुंचाया गया। उन सेठों पर कोड़े की मार पड़ी, जिससे वहां की जनता में खलबली मच गई।

जब जमनालालजी को इस घटना का पता चला तो वे तुरन्त बम्बई से रवाना होकर खेतड़ी पहुंचे गये।

खेतड़ी में जब उन्होंने अधिकारियों से कहा कि वे राजासाहब से मिलने आये हैं तो उन्होंने उन्हें मिलाने में आना-कानी की। इसपर जमनालालजी ने अनशन शुरू कर दिया। तीसरे ही दिन घबड़ाकर उन्होंने उन्हें राजासाहब से मिला दिया।

मुझे स्मरण आता है कि जमनालालजी पगड़ी पहनकर राजासाहब से मिलने गये थे, क्योंकि उन दिनों लोग खास-खास अवसरों पर पगड़ी अवश्य पहनते थे। लोग डर रहे थे कि कहीं राजा नशे में चूर होकर जमनालालजी को भी जेल में न बन्द कर दें, पर प्रजा के सद्भाग्य से समझिए या जमनालालजी की चतुराई से, राजा ने उनकी बात मान ली और गिरफ्तार सेठों को छोड़ देने का आर्डर निकाल दिया। जमनालालजी ने राजा को कहा, बताते हैं कि, सेवा-समिति तो जनता की सेवा के लिए स्थापित की

गई है, आपको तो इन बातों से डरने के बदले उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए। ऐसा करने से राज्य कैसे टिकेगा ? इस बात से डरकर ही राजासाहब ने सेठों को तत्काल छोड़ देने का हुक्म दे दिया। जमनालालजी ने चीड़ावा सेवा-समिति का नाम राजा के नाम पर अमर-सेवा-समिति रखा। नवयुवक राजासाहब खुश होगये। जब जमनालालजी राजा से मुलाकात करके लौट रहे थे तो उधर जेल से छूटे हुए सेठ लोग भी अपने-अपने घर वापस आ रहे थे। जब वे लोग जमनालालजी से रास्ते में ही मिले तो उनकी खुशी का पारावार न रहा। इससे जमनालालजी का नाम खेतड़ी के बच्चे-बच्चे की जबान पर चढ़ गया और लोग उन्हें देखने को बहुत उत्सुक हुए—सारे राजस्थान में इस घटना की चर्चा गांव-गांव गूंज गई।

जमनालालजी हमारे घर एक रात ठहरे और उन्होंने हमारे यहां भोजन किया। इसके बाद हमें आशीर्वाद देकर वहीं से उन्होंने राजस्थान का दौरा शुरू कर दिया। बम्बई लौटने के पहले अपने दौरे में उन्होंने रतनगढ़, चुरू और चिड़ावे में सेवा-समितियों की स्थापना कर दी। नासिक में कुम्भ-स्नान पर्व (जो बारह वर्ष बाद आया था) के अवसर पर, जमनालालजी द्वारा स्थापित सेवा-समिति ने सेवा-कार्य आरंभ किया और उसमें बहुत-से नवयुवकों ने बड़े उत्साह से भाग लिया।

जमनालालजी मारवाड़ी-समाज में शायद पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने सेवा-समिति की ड्यूटी पर आधी बांह की खाकी कमीज और चड्डी पहनी। वैसे आम तौर से वे धोती, पूरी बांह की कमीज और कोट पहनते थे। उनका शरीर लम्बा, मोटा-ताजा और स्वस्थ तथा प्रभावशाली था। सेवा-समिति के कार्य में उन्होंने नासिक में आधी बांह की कमीज और चड्डी पहनी तथा उसे पहनकर मेले में घूमे तो बम्बई के मारवाड़ी समाज के बहुत-से युवकों में वह पोशाक पहनने का साहस हुआ, अन्यथा लोग उन दिनों यह पोशाक पहनने से हिचकते थे। बम्बई के युवकों में उन दिनों नासिक के कुम्भ मेले से सेवाभाव का विशेष प्रसार हुआ।

: ८० :

स्नेह के अवतार

शिवाजी भावे

हरिपुरा-कांग्रेस के समय की बात है। मैं, मूलचन्द्रजी, सूरजमलजी, मामा आदि हम मित्र लोग इधर-उधर टहल रहे थे कि जमनालालजी वर्किंग कमेटी की मीटिंग के लिए सुभाषबाबू और अन्य नेताओं के साथ जाते हुए दीख पड़े। ऐसे समय बिना किसी प्रयोजन के नमस्कार करके अपनी ओर उनका ध्यान खींचना हमें अच्छा नहीं लगा। और हम किसीने उनको नमस्कार नहीं किया। लेकिन उन्होंने तो हमें देख ही लिया और फौरन हँसते हुए खुद ही हमें नमस्ते किया। हम सब लज्जित-से होगये।

दूसरा मौका था—फैजपुर-कांग्रेस के समय का। अनेक कार्यकर्ताओं की जो-जो शक्तियां थीं, उन सबका उपयोग उस समय लेने का प्रयत्न चल रहा था। एक अपरिचित, लेकिन विशेष शक्तिमान् सज्जन पर कुछ लोग विशेष भार डालना चाहते थे। जमनालालजी ने यह देखा और कहा, "आप इस ढंग से, आकस्मिक रूप से उनपर काम डाल रहे हैं, यह तरीका गलत है। पहले आप उनका स्नेह संपादन कीजिए। परिचय हो जाने के बाद फिर उनसे किसी काम की अपेक्षा कीजिए, अन्यथा आपका बर्ताव तो 'काम बना, दुख बिसरा' की श्रेणी में आ जायगा।"

जमनालालजी से तो उन सज्जन का अच्छा परिचय था। उनके कारण बाद में वे कांग्रेस-अधिवेशन के कामों में तुरंत पूरी मदद देने लगे।

इस तरह जमनालालजी की कार्य-पद्धति इस ढंग की थी कि स्नेह में से काम उपजता था और काम में से स्नेह। परिणामस्वरूप उनकी भव्य मूर्ति स्नेह का अवतार ही प्रतीत होती थी।

'सकल गुणवरेण्यः पुण्यलावण्यराशिः !

: ८१ :

उनके विविध गुण

गोविन्दलाल पित्ती

हैदराबाद से वैसे कई बार बंबई आया और गया, लेकिन सन् १९१३ में मैं अपना पैतृक कारोबार संभालने के लिए स्थाई रूप से बंबई जाकर रहने लगा। इसके एक-दो वर्ष के भीतर ही सबसे पहले सेठ जमनालालजी से मिलना हुआ। फिर तो उनके साथ घनिष्ठता बढ़ने लगी। हम दोनों को ही राजनैतिक तथा सार्वजनिक जीवन से दिलचस्पी थी। हमारी मित्रता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

१९१६ में वे मुझे वर्धा ले गये। वहां मैंने उनके कहने पर मारवाड़ी-छात्रालय का निरीक्षण किया। श्री जाजूजी आदि सज्जनों से भी वार्तालाप हुआ। दो-तीन दिन के बाद जब मैं बंबई लौटने लगा तो जमनालालजी तथा अन्य सज्जन मुझे स्टेशन पहुंचाने आये। पहले दर्जे के सभी डिब्बे भरे हुए थे। केवल एक ही डिब्बा ऐसा था, जिसमें एक सैनिक अंग्रेज अफसर बैठा हुआ था। उसने मेरे नौकरों को डिब्बे में सामान रखने से रोका। जब मुझे मालूम हुआ तो मैंने नौकरों से कहा कि वे साहस-पूर्वक उसी डिब्बे में सामान रक्खें। उन्होंने वैसा ही किया।

वह अफसर बड़बड़ाता रहा। मेरे और उसके बीच गरमागरम बातचीत होते देख जमनालालजी ने मुझसे कहा कि मैं आपके साथ बंबई चलता हूं। उन्होंने एक कार्यकर्त्ता को बंबई का टिकट लाने के लिए कहा। मेरे बहुत समझाने पर उन्होंने कहा कि बंबई न सही, परन्तु भुसावल तक तो चलूंगा ही। रास्ते में उस सैनिक अफसर से खटपट चलती रही, परन्तु बाद में शांति होगई।

भुसावल से जमनालालजी लौट गये। बंबई आने पर मुझे उनका तार मिला कि अपनी कुशलता के समाचार तार द्वारा भेजो। ऐसी थी उनकी आत्मीयता!

एक दूसरी स्मरणीय घटना है। सन् १९१८ में महात्मा गांधी ने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन को बंबई में आमंत्रित किया। जमनालालजी न महात्मा-जी से कहा कि स्वागत-समिति के प्रबंध का भार मुझपर डाला जाय। महात्मा गांधी ने मुझे बुलाकर यह बात कही और मैंने सहर्ष इसे मान लिया। ज्यों-ज्यों अधिवेशन का समय समीप आता गया त्यों-त्यों काम बढ़ता गया। जमनालालजी ने अनुभव किया कि कार्यालय में जमकर बैठकर कार्य करने की आवश्यकता है। मैं जन-सहयोग आदि प्राप्त करने के कार्यों में व्यस्त था। इसलिए जमनालालजी ने स्वयं रात-दिन कार्यालय में बैठकर कार्य करना प्रारंभ कर दिया। वस्तुतः उनकी सहायता के बिना काम में कई त्रुटियां रह जातीं।

बंबई के मारवाड़ी-विद्यालय की स्थापना करने तथा बाद में उसकी समुचित व्यवस्था करने में जमनालालजी ने अपना महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। सन् १९४० के आसपास उन्होंने मुझसे कई बार कांग्रेस का कोषा-ध्यक्ष बनने का आग्रह किया, परन्तु कई कारणों से मैं इस कार्य-भार को ग्रहण करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता रहा। उनका व्यवहार सदैव मित्रतापूर्ण बना रहा।

भारत के महापुरुषों के प्रति उनमें अतीव प्रेम तथा श्रद्धा थी। मालवीयजी, लाला लाजपतराय और गांधीजी के प्रति तो विशेष श्रद्धा थी। गांधीजी के विचारों तथा सदुपदेशों का उनके जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा।

मारवाड़ी-समाज के सामाजिक सुधार-कार्य में भी वे बहुत प्रयत्नशील रहे। उनके प्रयासों के फलस्वरूप 'अग्रवाल मारवाड़ी सभा' की स्थापना हो सकी और यह संस्था कई वर्षों तक सक्रिय रही।

उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप रियासतों में राजनैतिक चेतना उत्पन्न हुई। गांधीजी को भी रियासतों-संबंधी अपनी तटस्थता की नीति में परिवर्तन करना पड़ा।

: ८२ :

उनके साथ पच्चीस वर्ष

आबिदअली

उनकी याद आते ही मेरे अपने लम्बे सार्वजनिक जीवन की सारी तसवीर आंखों के सामने खिंच जाती है। शुरू के अपने सार्वजनिक जीवन को मैं उनके सार्वजनिक जीवन की छाया कह सकता हूं।

मेरा उनका पुराना खानदानी संबंध था। लेकिन मुझे अपनी शुरू की उमर का अधिक समय वर्धा से बाहर बिताना पड़ा। जब मैं वर्धा लौटा तब वे रायबहादुर और आनरेरी मजिस्ट्रेट थे। शहर के बहुत बड़े रईस थे। रहन-सहन में व मिलने-जुलने में बड़े सरल और मिलनसार होते हुए भी उनकी रईसी का कुछ रौब जरूर था। इसलिए हरकोई उनके पास सहज ही नहीं जा सकता था।

तब मैं केवल १८ वर्ष का था। वर्धा में इन्फ्लूएंजा की बीमारी फूट निकली, जिस-से बहुत-से लोग मरने लगे। बीमारी ने इतना खतरा पैदा कर दिया कि लोगों में बड़ी परेशानी पैदा होगई। जिस घर में कोई बीमार होता उसमें बड़ा डर पैदा हो जाता। सेठजी ने उस समय लोगों की सेवा काम का शुरू किया। उसी समय वर्धा में चोरियों और डकैतियों का जोर बढ़ गया। इनको रोकने के लिए 'नागरिक सेवा दल' की स्थापना हुई। यह दल रात को पहरा देकर लोगों के जान व माल की रक्षा करता था। इन सेवाओं और संगठनों के सिलसिले में मैं पहली बार सेठजी के नजदीक आया और उनके साथ मिलकर काम किया। तब मुझे पता चला कि उनमें कितनी ऊंची सेवा भावना है और उनका स्वभाव कितना मधुर है। दूसरे के दुःख को देखकर दुखी होने और उस दुःख को दूर करने में अपनेको लगा देनेवाले सेठजी का यह सेवा-भावी रूप देखकर मुझे पता चला कि सुने-देखे में कितना अन्तर होता

है। मैंने उनके बड़प्पन और रौब के बारे में जो सुन रखा था, उससे मैंने उनको इतने नजदीक से देखने पर बिल्कुल उलटा पाया। उनमें अपने बड़प्पन का कोई गरूर और अपनी शान-शौकत का कोई रौब नहीं था। उन्होंने एक मामूली स्वयंसेवक अथवा जनसेवक की तरह अपनेको लोगों की सेवा में लगा दिया था। तब मैं सरकारी नौकरी में था। मुझे भी जनसेवा का कुछ शौक था। इसलिए मैं उस समय सेठजी को इतने नजदीक से देख सका। मेरा यह खयाल है कि सेठजी के दिल में छिपी हुई लोकसेवा की इस भावना को जब फूलने और फैलने का मौका मिला तब वह इस बड़े रूप में प्रगट हुई कि उन्होंने देश-सेवा के मैदान में बिना किसी दिक्कत के अपना प्रमुख स्थान बना लिया। उनका व्यक्तित्व ऐसा खिल उठा कि वह सबपर छा गया।

. . . . . .

नागपुर-कांग्रेस के बाद सरकारी नौकरी छोड़कर मैं कांग्रेस में शामिल हुआ और असहयोग-आन्दोलन में जुट गया। तब सेठजी के इतना नजदीक आने का मौका मिला कि मैं एकाएक उनके परिवार का बन गया। मैंने उनके जिस प्रेम और विश्वास को हासिल किया वह बहुतों के लिए रश्क का विषय बन गया। मैंने उनके साथ मिलकर खूब काम किया और जेलों में भी उनके साथ रहा। सेठजी अपने स्वभाव से ही बहुत शांत, सरल, नेक, ऊंची दृष्टि-वाले, आदर्शवादी, सिद्धान्तवादी थे। मैं था छोटी अवस्था का, बे-तजुर्बेकार, बड़ा जोशीला, बड़ा चंचल और हमेशा ही कुछ-न-कुछ उलट-पुलट करते रहने का आदी। इन दो विरोधी स्वभावों का मेल भी अजीब था। मैं उनको हमेशा बड़ा मानकर उनका बहुत अदब करता था। इसलिए इन विरोधी स्वभावों में कभी कोई विरोध नहीं हुआ। लेकिन जेल में कुछ ऐसे दिलचस्प मौके जरूर आये, जब इस विरोधी स्वभाव का कुछ रंग दीख पड़ा।

. . . . . .

१९२३ में नागपुर में झंडा-सत्याग्रह के सिलसिले में मुझे उनके साथ गिरफ्तार किया गया था। उनके ही साथ जेल में रखा गया था। गांधीजी

के अनुयायी होने के कारण जेल में भी वे गांधीजी के रास्ते से टस-से-मस नहीं होते थे। वहां के नियमों का वे पूरी तरह पालन करते थे और दूसरों से भी करवाना चाहते थे। एक दिन मैंने नियम-विरुद्ध एक कैदी वार्डर शाहबाज से नीम की दातुन मंगवा ली। मुझे उसकी आदत थी। मैंने दातुन मुंह में डालकर चबाई ही थी कि सेठजी ने देख लिया और मुझसे पूछा कि दातुन कहां से मंगवाई ? मैंने शाहबाज का नाम बता दिया। सेठजी ने मेरी चबाई हुई दातुन का हिस्सा उससे अलग करके बाकी दातुन धुलवाकर उसको वापस करवा दी। अभी तक हमको सजा नहीं हुई थी।

.. .. ..

मुकदमा चलने के बाद दो वर्ष की सजा दे दी गई और मुझको सेठजी से अलग कर दिया गया। मुझे झगड़ालू मानकर मेरा तबादला खंडवा-जेल में कर दिया गया। उसके लिए मुझको जेल के दफ्तर ले जाया जा रहा था। मैं अपने सामान की पोटली बगल में दबाए दफ्तर की ओर जा रहा था कि सामने से सेठजी आते दीख पड़े। ज्यों-ज्यों वे मेरे पास आते गये, मुझसे बात करने की उनकी उत्सुकता बढ़ती गई, परन्तु मैंने उनसे आंख तक न मिलाई। जब बिल्कुल नजदीक आगये तो सेठजी रुक गये और उन्होंने मुझे पुकारा, परन्तु मैं बिना रुके और बिना कुछ उत्तर दिये उनके पास से निकल गया। वे देखते ही रह गये। उन्होंने समझा कि मैं उनसे कुछ नाराज हूं। वे मुझे बेहद प्यार करते थे। इसलिए मेरा यह व्यवहार उनको अखर गया। उन्होंने किसी प्रकार एक आदमी को खंडवा-जेल भेजकर मेरी इस नाराजगी का कारण जानने की कोशिश की। मैंने कहला भेजा कि जैसा उन्होंने सिखाया था, मैंने वैसा ही किया। जेल के कायद के मुताबिक मैं उनसे बात नहीं कर सकता था और मैंने बात नहीं की।

सेठजी का समझाने-बुझाने का और गूढ़-से-गूढ़ समस्याओं को हल करने का अपना ही तरीका था। मुझे १९३० में आर्थर रोड बम्बई से थाना-जेल केवल इसलिए भेजा गया था कि आर्थर रोड जेल में अधिकारियों के साथ मेरा कोई-न-कोई झगड़ा बना रहता था। वहां पहुंचने पर जेल सुपरिंटेंडेंट

ने मेरा हिस्ट्री-टिकट देखते ही मुझसे पूछा, "तुम्हारा व्यवहार यहां कैसा रहेगा ?" मैंने जवाब दिया, "यह तो आपके व्यवहार पर निर्भर है।"

सेठजी उस जेल में पहले ही से थे। उन्होंने जेल-सुपरिंटेंडेंट से मेरे वहां आने के बारे में पूछा तो उसने कहा कि वह तो बड़ा झगड़ालू आदमी है। सेठजी ने मेरे बारे में उसका भ्रम दूर करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह दूर न हुआ।

कुछ समय के बाद ईद का त्योहार आया। मुझे साधारण मुसलमान कैदियों के साथ नमाज पढ़ने का मौका नहीं दिया गया। मौका न देने का कारण यह भय था कि कहीं मैं उनमें भी कोई बगावत पैदा न कर दूं। बात टल गई, परन्तु मेरे मन में वह चुभ गई। कुछ-न-कुछ करने की मैं सोचता रहा।

उसी सप्ताह बात काटने की एक नई मशीन हमारे वार्ड में आई। सबने उससे बाल कटवाये और सिर के सब बाल साफ करवा दिये। कुछ लोग पुराने विचारों के थे। उनको ब्राह्मणों का भी चोटी कटवा देना बहुत बुरा लगा। उन्होंने उसपर एक आन्दोलन-सा खड़ा कर दिया। मैं बाल कटवा रहा था कि मेरे कानों में उसकी भनक पड़ी और मैंने चोटी के स्थान के बाल नहीं कटवाए। इसपर पुराने विचार के लोग अपना झगड़ा भूलकर मेरी ओर आर्कषित होगये। यह देखकर कि मेरे कारण एक झगड़ा मिट गया मैं बहुत खुश हुआ। लेकिन, जेल-सुपरिंटेंडेंट इसपर घबरा गया। उसने मुझसे उसका कारण पूछा तो मैंने कह दिया कि मुझे ईद के दिन नमाज नहीं पढ़ने दी गई, इसलिए एक वर्ष तक मुझे इस तरह प्रायश्चित करना पड़ेगा। वह मेरी बात सुनकर इतना अधिक घबराया कि सेठजी के पास जाकर उसने सारा मामला पेश किया। उसने उनसे यह भी कहा कि आप तो आबिदअली की इतनी तारीफ करते थे, परन्तु उसने एक नई मुसीबत खड़ी कर दी है।

सेठजी जेल के दूसरे हिस्से में रहते थे। उनको दफ्तर में लाया गया और मुझको भी वहां बुलाया गया। सेठजी ने मुझे बहुत समझाया, परन्तु मैं

यह मजाक इतनी जल्दी खत्म नहीं कर देना चाहता था। अन्त में उन्होंने मुझसे कहा कि बम्बई में तुम्हारी बड़ी इज्जत है (उन दिनों प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का जनरल सेक्रेटरी था) और कांग्रेस-आन्दोलन भी बम्बई में जोरों पर है। यदि कहीं तुम्हारे इस प्रकार चोटी के खेल की गलत खबर बाहर फैल गई तो आन्दोलन को कितना धक्का लगेगा, यह भी सोचा है ? यह सुनकर मुझ चुप हो जाना पड़ा। उन्होंने कैंची ली और मेरे बाल काट डाले। मैं जब अपने वार्ड में आया तब चारों ओर शोर मच गया। साथियों ने मुझसे पूछा, "यह क्या हुआ ?" मैं सबको एक ही उत्तर देता था, "सेठजी से पूछो।"

गांधीजी के उसूलों, विशेषकर सत्य और अहिंसा पर चलने का, वे बात-बातमें ध्यान रखते थे। वर्धा-कांग्रेस-कमेटी और नागपुर प्रदेश कांग्रेस कमेटी का वर्षों झगड़ा चलता रहा। डा. मुंजे उन दिनों प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। हर वर्ष कांग्रेस के चुनावों पर खूब खींचातान होती थी और डा० मुंजे हमारे पक्ष की अधिकांश कमेटियों के चुनाव रद्द करके प्रदेश कांग्रेस पर अपना अधिकार बनाए रखते थे। वर्धा शहर, तहसील और जिला कांग्रेस कमेटियों पर अपना कब्जा करने के लिए उनके साथी बड़ी कोशिश किया करते थे। तहसील कांग्रेस कमेटी का चुनाव सेठजी के ही मकान के आंगन में होने वाला था। उसी दिन सेठजी बम्बई से वर्धा पहुंच गये। हमारे पक्ष के कांग्रेस सदस्यों की संख्या बहुत अधिक थी। दूसरे पक्ष-वालों ने हमें पराजित करने के लिए बहुत-से गैर-कानूनी सदस्य बना लिये थे। इसलिए हमने भी कुछ गैर-कानूनी सदस्य बना लिये। सेठजी के पास यह शिकायत पहुंचाई गई और उनसे कहा गया कि आपके साथी सत्य की हत्या करने में लगे हुए हैं। सेठजी ने चुनाव से ठीक पहले मुझे और भाई सत्यदेव विद्यालंकार को बुलाकर पूछा कि ठीक-ठीक बात क्या है। हमने कह दिया कि हमने भी कुछ ऐसे सदस्य अवश्य बनाए हैं। बात यह है कि हमारे कानूनी सदस्यों की संख्या अधिक होने से दूसरे पक्षवालों ने हमको हराने के लिए बहुत-से गैरकानूनी सदस्य बनाये हैं। हमने दोनों ही तरह से उनका सामना करने की तैयारी की है। हम नहीं चाहते कि वे गैर-

कानूनी तरीके से हमको हरा सकें। इसपर सेठजी ने चुनाव की सभा शुरू होते ही अध्यक्ष-पद से अपने साथियों द्वारा गैरकानूनी सदस्य बनाने की घोषणा करते हुए अपने पक्ष के उम्मीदवारों की सूची वापस ले ली और अपने पक्ष को चुनाव से हटाकर कांग्रेस कमेटी दूसरे पक्ष के हाथों सौंप दी। दूर-दूर गांवों से आये हुए हमारे साथी बहुत नाराज और निराश होकर लौट गये, किन्तु हम सबके हृदयों में सेठजी के प्रति आदर बढ़ गया। हानि उठाकर भी सत्य की हत्या न होने देने के सेठजी के इस आचरण का हमपर बहुत गहरा असर पड़ा।

.. .. ..

व्यापार-व्यवसाय और उद्योग के क्षेत्र में सेठजी के कुछ अपने ही उसूल थे। उसमें भी वे सत्य और अहिंसा से कभी डगमगाते नहीं थे। खादी को उन्होंने सत्य और अहिंसा की तरह अपने जीवन का अंग बना लिया था। स्वदेशी के दृष्टिकोण से उनके अनेक मित्रों और सलाहकारों ने उनको कपड़े की मिल चालू करने की सलाह दी और उसके लिए उनपर जोर भी डाला, लेकिन वे तो हाथ के कते और हाथ के बुने कपड़े का उसूल अपना चुके थे। मिल का काम वे उसके बरखिलाफ मानते थे। इसलिए ऐसी सलाह और लालच में वे कभी नहीं फंसे।

एक बार एक अच्छी बड़ी मिल खरीद कर बिना चलाए ही दूसरे को बेच देने में कई लाख की बचत हो जाती थी। वह काफी समय से बन्द पड़ी थी। उसको चालू करने का भी सवाल नहीं था। केवल जमीन और मशीन को एक हाथ से लेकर दूसरे को बेच देने में ही इतना बड़ा मुनाफा मिलता था। सेठजी ने उसको भी खादी के सिद्धान्त के विरुद्ध समझा और उसमें हाथ नहीं लगाया। ऐसे कई मौके सेठजी के जीवन में आये।

आम तौर पर यह समझा जाता है कि व्यापार, व्यवसाय तथा उद्योग में कोई गलत बात कह देना दोष नहीं किन्तु गुण है और उसको चतुराई तथा कुशलता माना जाता है। सेठजी ऐसा नहीं मानते थे। उन्होंने अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया कि सचाई पर कायम रहकर भी व्यापार, व्यवसाय

और उद्योग में कामयाबी हासिल की जा सकती है।

• •　　　　• •　　　　• •

सेठजी किसीकी सिफारिश करने या मानने के भी बहुत विरुद्ध थे। एक बार एक मित्र ने अपने किसी मित्र के बारे में मैनेजर के काम के लिए उनसे सिफारिश की। सेठजी ने उनसे पूछा कि उनको उनकी सचाई और ईमानदारी के बारे में सिफारिश करने का साहस कैसे हुआ? उसपर उन्होंने सवालों की बौछार कर दी। उससे पूछा कि तुमको उसको कितने वर्षों से जानते हो? क्या तुमने कभी बिना लिखत-पढ़त किये उसको कुछ कर्ज दिया है और क्या वह उसने वापस किया? क्या कभी कोई अमानत उसके पास रखी थी और वह जैसी-की-तैसी वापस मिल गई? क्या कभी किसीने अपनी लड़की या बहू किसी स्थान पर पहुंचाने के लिए उसके सुपुर्द की थी और उसने वहां उनको सुरक्षित और सही-सलामत पहुंचा दिया था? सेठजी के इन प्रश्नों से सिफारिश करनेवाला चक्कर में पड़ गया और अपना-सा मुंह लेकर रह गया।

• •　　　　• •　　　　• •

एक दिलचस्प घटना उनके और उनकी पत्नी जानकीदेवीजी के बीच की बहुत पहले की है। उससे भी सेठजी के अपने उसूलों पर दृढ़ रहने का पता चलता है। नागपुर-कांग्रेस के बाद विदेशी कपड़ों की होली का कार्यक्रम भी शुरू किया गया था। वर्धा के तिलक-चौक में विदेशी कपड़ों की एक होली जलाई गई थी। तब सेठजी वर्धा में नहीं थे और जानकीदेवीजी ने अपने घर के कपड़े दिये तो, लेकिन बहुत-से कीमती किनारी गोटेवाले कपड़े रख लिये थे। सेठजी जब वर्धा आये और उन्हें यह मालूम हुआ तो उन्होंने विदेशी कपड़ों की होली का एक और आयोजन किया, जिसमें वे अपने घर के सब विदेशी कपड़ों को जलाना चाहते थे। घर में एक विवाद शुरू होगया। घरवालों का, जिनमें जानकीदेवीजी भी शामिल थी, कहना था कि कोई नए कपड़े तो खरीदे नहीं जायंगे। इनकी कीमत पहले ही चुकाई जा चुकी है। यदि इनको त्यागना ही है तो इनको गरीबों में क्यों न बांट दिया जाय। जलाने से क्या फायदा

होगा । कम-से-कम उनपर लगा सोने-चांदी का गोटा-किनारी आदि तो उतार लिया जाय । सेठजी का कहना था कि जहर तो जहर है और यह मालूम होने पर भी कि वह जहर है, उसको नष्ट करने के सिवा उसका कुछ और उपयोग नहीं किया जा सकता । जिन चीजों में वह जहर समा जाता है उनको भी नष्ट करना जरूरी हो जाता है। कई दिन तक यह चर्चा चलती रही। आखिर सेठजी ने अपनी जिद्द पूरी की और घर का एक-एक कपड़ा होली के लिए निकाल दिया गया।

कांग्रेस में प्रवेश करके उसमें अपना विशिष्ट स्थान बना लेने में सेठजी को अधिक समय नहीं लगा और गांधीजी के तो वे पांचवें पुत्र बन गए। कांग्रेस की कार्यसमिति में उनका स्थान हमेशा बना रहा । कांग्रेस के वे खजान्ची भी रहे। वर्धा आने पर सेठजी ने गांधीजी को १ लाख रुपया भेंट किया था। यह उन वकीलों की सहायता करने के लिए दिया गया था, जो वकालत छोड़-कर असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे । उसी समय कांग्रेस ने तिलक स्वराज्य फंड में १ करोड़ रुपया जमा करने का निश्चय किया था।

•• •• ••

सेठजी तमाम हिन्दुस्तान में घूमे । लाखों रुपया उनकी कोशिशों से जमा हुआ । मेरा यह निश्चित मत है कि यदि सेठजी का व्यक्तित्व उसके पीछे नहीं होता तो १ करोड़ रुपया जमा होना मुश्किल हो जाता । सेठजी की ही वजह से उस रकम का उपयोग अनेक रचनात्मक कार्यों के लिए जायज ढंग से हो सका और कई महत्वपूर्ण राष्ट्रीय संस्थाएं बन गईं । बाद में अखिल भारतीय चर्खा-संघ की नींव डाली गई और वैसी ही अनेक रचनात्मक संस्थाएं सेठजी की सूझ-बूझ, सहायता और सहयोग से बन गईं। इतनी बड़ी सार्वजनिक निधि यह पहली ही थी।

•• •• ••

अतिथि-सेवा और खिलाने-पिलाने का सेठजी को अद्भुत शौक था। बहुत ही व्यवस्थित ढंग से वे उसका इंतजाम करते थे। हमेशा उसके लिए कोई-न-कोई मौका ढूंढ़ते रहते थे। दिसम्बर १९२१ में अहमदाबाद-कांग्रेस में

सेठजी ने अपना लंगर चलाया था। उसके लिए वर्धा से घी, अनाज, रसोइया आदि एक डिब्बा रिजर्व करके ले गए थे। १९२३ के नागपुर-झंडा-सत्याग्रह के सम्बन्ध में जेल जाने तक उनका यह शौक जारी रहा। लखनऊ में पब्लिक लायब्रेरी में आल इंडिया कांग्रेस-कमेटी की जो मीटिंग हुई थी, उस समय भी सेठजी ने खाने-पीने का अपनी तरफ से भी इंतजाम किया था। उसकी एक पंक्ति में बैठनेवालों की गिनती की गई तो उनमें करीब ७८ जातियों और २७ देशों के लोग सम्मिलित थे। इस प्रकार विभिन्न जाति और देशवालों को एक पंक्ति में बिठाकर भोजन कराने में वे विशेष आनन्द अनुभव करते थे।

... .

युवकों और युवतियों का योग्य सम्बन्ध कराकर उनका विवाह करवाने में भी सेठजी को बड़ी दिलचस्पी थी। वे अपनी डायरी में ऐसे युवकों और युवतियों के पते आदि के साथ सूची रखा करते थे और उनका सम्बन्ध करवाने का विशेष ध्यान रखते थे। जिसका विवाह उन्होंने करवाया उसका हमेशा ध्यान रखा। उसके बच्चा हुआ कि नहीं, कहीं अधिक सन्तान तो होनी शुरू नहीं हुई, बच्चों का लालन-पालन तथा शिक्षण आदि ठीक ढंग से होता है कि नहीं, बड़े होने पर वे किसी धन्धे में लग गए कि नहीं, आदि-आदि बातों का वे पूरा ध्यान रखते थे। जिनका वे विवाह-सम्बन्ध करवाते थे उनको अपने ही परिवार का मानकर उनका हमेशा ध्यान रखा करते थे। अन्तर-जातीय और अन्तरप्रान्तीय विवाह कराने और समाज की बुरी रूढ़ियों व धार्मिक परम्पराओं पर चोट करने के लिए वे हमेशा उत्सुक रहते थे।

.. .. ..

खिलाने-पिलाने में भी वे जात-पांत अथवा सम्प्रदाय का कोई खयाल नहीं रखते थे। अपना चौका भी उन्होंने सबके लिए खोल दिया था। इस कारण उनके रसोइया आदि काम छोड़ देते थे और कभी-कभी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ जाता था। हरिजनों के सवाल को लेकर बहुत बड़ा जंग छिड़ गया। आखिरी जंग तब छिड़ा जब हम-सरीखे मुलसमानों को सेठजी ने अपने साथ चौके में बिठाना शुरू किया। एक बार सेठजी को यह भी सलाह

दी गई कि वे खाने के समय किसीका नाम आदि न लेकर रसोइय को यह पता न लगने दें कि कौन किस जात का है। खादी के कपड़े हम सब एक-सरीखे पहनते थे। उनसे किसीकी जात वगैरह का पता नहीं चल सकता था। परन्तु सेठजी ने उस सलाह को नहीं माना। वे इस प्रकार लुक-छिपकर कोई भी काम करना नहीं चाहते थे। उनका उद्देश्य तो इन्कलाब लाना था और वह इन्कलाब चोरी से काम करने से नहीं लाया जा सकता था। न उनका मतलब केवल किसीको खाना खिलाना ही था। उन्होंने अपना सारा जीवन गांधीजी के इन्कलाब को कामयाब करने में लगा दिया था और खाना-पीना भी उनके लिए उसीका एक हिस्सा था।

यह वह जमाना था, जबकि आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के बड़े-बड़े इन्कलाब-पसन्द लोग भी छोटी जात या दूसरे धर्मवालों के साथ बैठकर खाना खाने की हिम्मत नहीं करते थे। कई बार ऐसे मौके आये कि हम कुछ नौजवान ए. आई. सी. सी. के अवसर पर एक दूसरे के जानबूझकर ऐसे नाम लेते जो हिन्दू नहीं होते थे और आपस में हमारे वे नाम सुनकर खानेवाले चौंककर परे हो जाते थे। सेठजी को जब इसका पता चला तब उन्होंने हम सब को बहुत डांटा और समझाया कि ऐसा करना धोखा है। धोखा देना सेठजी को बहुत बुरा लगता था। हम नौजवान इसको धोखा न मानकर विनोद और मनोरंजन माना करते थे। सेठजी विनोद या मनोरंजन में भी किसीको धोखा देना अच्छा नहीं समझते थे।

.. .. ..

मेरी वयोवृद्ध माताजी को भी मेहमानदारी का बड़ा शौक था और वे इस बात का बड़ा खयाल रखती थीं कि यदि कोई मांस न खानेवाला घर में खाना खाने आये तो उसके लिए उन बर्तनों में खाना बनाया जाय जो मांस-वाले बर्तनों से दूर रखे जाते थे। एक बार दावत में सेठजी भी शामिल थे। माताजी ने बड़े शौक से उनके खान-पान का खयाल रखते हुए खाना तैयार किया, परन्तु उन्होंने यह कहकर कि मैं ऐसे घर में खाना नहीं खाता, जहां मांस बनाया जाता है, केवल फल आदि लिया और खाना नहीं खाया। यह

बहुत पहले की बात है। उसके बाद मैं ऐसे हिन्दु घरों को याद रखता रहा, जिनमें मांस बनता था और जहां सेठजी ने खाना खाया था।

भाइखला-जेल में इनसब बातों का जिक्र विस्तार से हुआ। मैंने जब उनको माताजी के बड़े प्रेम से खासतौर पर अलग बर्तनों में खाना बनाने और उनके खाना न खाने पर माताजी के दुखी होने की बात कही तो उन्हें अफसोस हुआ और उन्होंने वादा किया कि जेल से छूटने के बाद माताजी के सन्तोष के लिए वे हमारे यहां अवश्य खाना खाने आयंगे। लेकिन वैसा होना नहीं था। हम लोग जेल में ही थे कि माताजी का देहान्त होगया। सेठजी को इसका बड़ा दु:ख रहा और कई बार उन्होंने इसकी चर्चा भी की। खाने का तो उनको इतना शौक नहीं था, किन्तु जिनको वे अपना मान लेते थे उनके यहां वे बड़े शौक से खाना खाया करते थे और इसमें बड़ा आनन्द अनुभव किया करते थे।

सेठजी की यह जन्मजात आदत थी कि वे जिस काम को हाथ में लेते थे उसको पूरी तरह अंजाम देते थे। असहयोग और सत्याग्रह को अपनाने के बाद उसका मर्म समझने के लिए वे महात्मा गांधी से विनोबाजी को मांगकर १९२१ में वर्धा ले आये थे। उनकी देख-रेख में एक सत्याग्रह-आश्रम खोला गया और बढ़ते-बढ़ते उसने मुख्य आश्रम का रूप धारण कर लिया। काम इतना बढ़ गया कि गांधीजी के तरीकों पर काम करनेवाली बड़ी-बड़ी संस्थाओं के केन्द्र और कार्यालय वर्धा में कायम होगए। इससे गांधीजी भी इतने आकर्षित हुए कि वे भी साबरमती छोड़कर वर्धा चले आये। सेठजी ने अपनी जमीन और जायदाद का बहुत बड़ा हिस्सा उन संस्थाओं के सुपुर्द कर दिया और इन संस्थाओं को कभी भी पैसे की कमी नहीं होने दी। इससे सेठजी के काम करने के तरीके का ही नहीं, किन्तु उनके काम में चुम्बक की-सी दूसरों को अपनी ओर खींच लेने की जो शक्ति थी उसका पता चलता है। सेठजी की इस शक्ति का लोहा सभी मानते थे और सबपर उन्होंने जादू का-सा असर किया हुआ था।

खाने-पीने के बारे में भी सेठजी के अपने ही कुछ उसूल थे और वे दिन-

पर-दिन सख्त होते जाते थे। कभी वे एक बार ही जो कुछ लेना होता था ले लेते थे। कभी कुछ नियत संख्या में ही खाने का सामान लेते थे। खाने की मात्रा के बारे में उनका यह नियम हमेशा रहा कि जरूरत से अधिक लेना नहीं और थाली में कुछ जूठा छोड़ना नहीं। खाने की थाली को धोई हुई थाली की तरह साफ करने की मेरी आदत उन्हींसे सीखी हुई है। खाने के समय न बोलने का भी उनका नियम काफी लम्बे समय तक चला। दूसरों को अच्छा-से-अच्छा भोजन कराने का शौक रखते हुए भी उनको अपने बारे में खाने का ऐसा कोई शौक नहीं था। चीज को रूखा-सूखा और बे-स्वाद बनाकर खाने में उनको खास मजा आता था। कभी-कभी तो वे एक ही चीज खाने में खुश होते थे। गाय के घी-दूध का नियम भी उन्होंने ले लिया था। वे यह जरूर चाहते कि दूसरे भी वैसा ही करें, जैसा वे स्वयं करते थे।

सेठजी का दिल बड़ा उदार और सहृदय था। बहुत-सी सार्वजनिक संस्थाएं उनकी सहायता या उनके ही पैसे पर चलती थीं। परन्तु उनका उसूल यह था कि वे किसी भी ऐसी साम्प्रदायिक संस्था की सहायता नहीं करते थे, जिसका लाभ किसी एक ही सम्प्रदाय, जाति व धर्म के लोगों को मिलता था। इसपर भी जब वर्धा के कुछ गरीब मुसलमानों ने अपने स्कूल के लिए उनसे मदद मांगी, तो उन्होंने इंकार नहीं किया। कारण इसका यह था कि वे पिछड़े हुओं और अल्प-संख्यकों की मदद करना अपना फर्ज समझते थे। वर्धा की दो अंजुमन उनके अन्तिम समय तक उनकी सहायता प्राप्त करती रहीं।

इस प्रकार मुसलमानों को भी उन्होंने अपने प्रेम के इतना वश में कर लिया था कि वर्धा में कभी कोई साम्प्रदायिक सवाल नहीं उठा। अपनी इच्छा से ही मुसलमानों ने गोवध को १९२२ में बिल्कुल बन्द कर दिया था। वे ईद पर भी गो की कुरबानी नहीं करते थे। श्री शंकराचार्य डा. कुर्त्तकोटी के वर्धा आने पर मुसलमानों ने एक गाय खूब सजाकर उनको भेंट की थी और यह बताया था कि वे गाय का कितना सम्मान करते हैं।

लेकिन इसके बाद ही वर्धा की म्युनिसिपैलिटी में कुछ लोगों ने प्रस्ताव पेश किया और कानून द्वारा गोवध पर रोक लगवानी चाही। सेठजी को ऐसे

तरीके पसन्द नहीं थे। वे तो प्रेम के उसूल को मानते थे। प्रेम, मुहब्बत और भाईचारे से वे कोई भी काम करवा सकते थे। परन्तु कानून से जबरन ऐसे काम करवाने के विरुद्ध थे। साथ-ही-साथ वहां के मुसलमान भी इस कानूनी बन्धन के विरुद्ध थे। सेठजी ने प्रस्ताव पेश करनेवालों को समझाने की कोशिश की कि गोवध न होने पर उस प्रस्ताव की क्या जरूरत है, परन्तु वे अपनी जिद पर अड़े रहे। इसपर सेठजी ने मुसलमानों से कह दिया कि वे स्वतन्त्र हैं। उनका प्रेम का बन्धन तभी तक है जबतक कि उनपर कोई कानूनी जोर-जबरदस्ती नहीं की जाती।

•• •• ••

वे एक बार रेल में दूसरे दर्जे में सफर कर रहे थे। उनके साथ का दूसरा मुसाफिर डिब्बे में ही थूक रहा था। उन्होंने उसको समझाने और डिब्बे में न थूकने का उससे अनुरोध किया। बार-बार कहने पर भी उसने थूकना बन्द न किया। उसका पान का चबाना और थूकना जब बन्द होगया, तब सेठजी उठे और अपने हाथों से उन्होंने उसके थूक को साफ करके हाथ धो लिये। इसपर वह इतना लज्जित हुआ कि उसने सेठजी से क्षमा मांगी और आइन्दा वैसा न करने की खुद ही कसम खाई। सेठजी का सुधार का यह अपना ही तरीका था। बड़े-से-बड़े मौकों पर भी वे अपने इस तरीके से काम लेने में चूकते नहीं थे। इसका दूसरों पर अचूक असर पड़ता था।

: ८३ :

एक सप्ताह का सत्संग

श्रेयांसप्रसाद जैन

पूज्य श्री जमनालालजी बजाज का जिक्र आते ही मुझे मसूरी की वे ऊंची चोटियां याद आ जाती हैं जहां अब से दो दशाब्दी पहले मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरा खयाल है कि वह सन् १९३६ की बात है। जमनालालजी उसी बंगले में आकर रहे थे, जिनमें मैं और मेरे भाई शांतिप्रसाद रहते थे।

मैं तब उनसे पहले-पहल ही मिला था। मैंने सुन रखा था कि जमनालालजी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के दाहिने हाथ हैं। गरीबों और जरूरतमंदों की भलाई के लिए निःस्वार्थ सेवा के बल पर उन्होंने गांधीजी के हृदय में अपने लिए स्थान बना लिया था।

इस प्रकार उनके साथ सम्पर्क स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त करने को मैंने अपना बड़ा सौभाग्य माना। ज्योंही मुझे उनके वहां आकर ठहरने की बात मालूम हुई, उनसे मिलने और बातचीत करने की इच्छा हुई।

पहले तो मैं उनसे मिलने में हिचकिचा रहा था पर कुछ ही क्षणों की बातचीत से उनका व्यक्तित्व मुझपर प्रकट होगया। मैंने तुरन्त यह जान लिया कि जमनालालजी सादगी और दयालुता की साक्षात मूर्ति हैं। मैंने देखा कि वे बड़े ही विचारशील, शिष्ट, अनुग्रहपरायण और स्वभाव से ही सहानुभूतिपूर्ण हैं। उनके अन्दर न तो अपनी सम्पत्ति का कोई खयाल था और न राष्ट्रपिता महात्मा गांधी से घनिष्ट संपर्क का। मैं समझता हूं कि यह इस सफलता का रहस्य था कि जो लोग उनके सम्पर्क में आते, वे उनके प्रिय बन जाते। ऐसे लोगों में से मैं कोई अपवाद नहीं था।

उन दिनों जमींदारी का प्रश्न समाचार-पत्रों और सभाओं में वाद-विवाद का विषय बन गया था। जमींदार-परिवार में जन्म होने और तब-तक औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश न होने के कारण मैं जमींदारी-उन्मूलन विचार का विरोधी था। जमनालालजी ने मुझे यह समझाया कि जमींदारी-प्रथा समाज-विरोधी है। उन्होंने बताया कि यह प्रथा स्वयं जमीदारों के ही हितों के विरुद्ध है, बशर्ते कि इस समस्या पर दूरदर्शितापूर्वक विचार किया जाय। वे देश के औद्योगीकरण के बहुत पक्ष में थे और उन लोगों के प्रयत्नों की सराहना करते थे, जो उस क्षेत्र में थे।

जमींदारी में निहित स्वार्थ होने के कारण मैंने उन दिनों उनके विचारों को पसन्द नहीं किया। अपने सीमित अनुभव के कारण मैंने उनके तर्कों का खंडन करने की कोशिश यह कहकर की कि अगर जमीन जोतनेवाले की है तो उद्योगधंधे मजदूरों के हैं। उन दिनों मैं इस बात को बहुत कम समझ पाता था कि आराम-तलब जमींदार और परिश्रमी उद्योगपति में कितना बड़ा अन्तर है। मेरे अप्रशिक्षित मस्तिष्क में यह विचार नहीं आया था कि उद्योगपति बनने के लिए कैसे महान् गुणों की आवश्यकता है। अब चूंकि मैं गत पन्द्रह वर्षों से इस क्षेत्र में हूं, इसलिए यह जानता हूं कि यह क्या है और आज मैं यह महसूस करने लगा हूं कि सेठजी ने जमींदारी के मुकाबले औद्योगीकरण की वकालत क्यों की थी।

यद्यपि उस समय मैं जमनालालजी से सहमत नहीं हुआ था, फिर भी उनके विचारों ने उस समय मेरे मन पर जो गहरा असर डाला, उसे मैं नहीं भूल सकता। उन विचारों ने मुझे बहुत-सा मानसिक भोजन दिया। उन्होंने जमींदारी के बारे में जो कुछ कहा था, वह आजादी आने के बाद एक तथ्य बन गया और आज मैं बड़ी कृतज्ञता के साथ वह स्वीकार करता हूं कि उनके परामर्श और विचारों का प्रभाव मुझपर बना है और मुझे अपनी जीवन-वृत्ति के निर्माण का मार्गदर्शन करने में सहायक होगा।

जमनालालजी न केवल एक बड़े नेता थे, बल्कि एक तत्वज्ञ मित्र और मार्गदर्शक भी थे, और थे एक महान् खिलाड़ी। बच्चों में वे बच्चे बन जाते

थे और युवकों में युवक। उनके लिए अवस्था का कोई विचार नहीं था। उस समय मैं लगभग २८ वर्ष का था और वे मुझसे बहुत बड़े थे। इस अवस्था-वैषम्य के होते हुए भी वे न केवल मुझसे बहस करने को तैयार रहते थे, बल्कि मेरे साथ ताश खेलने या घूमने-फिरने के लिए जाने को उद्यत मिलते थे। मैं ब्रिज के खेल में बड़ी दिलचस्पी लेता था। उन्हें भी इस खेल में बड़ी रुचि देखकर प्रसन्नता होती थी। उन दिनों ताश के खिलाड़ी आक्शन ब्रिज को बहुत पसन्द किया करते थे। मुझे यह कहना चाहिए कि यह खेल उनके साथ खेलते हुए मैंने इसका अच्छा आनन्द लिया था।

मसूरी में तो हम दोनों एक सप्ताह ही साथ रहे और वह स्मरणीय सप्ताह जैसे क्षणभर में बीत गया, किन्तु वह अब भी मेरी स्मृति में ताजा बना हुआ है। दुर्भाग्यवश जमनालालजी के साथ मेरी यह पहली और आखिरी मुलाकात थी।

: ८४ :

अमूल्य स्मृति

शांतिप्रसाद जैन

श्री जमनालालजी से मेरा परिचय मेरे विवाह के बाद हुआ। श्री डालमियाजी से उनकी घनिष्टता थी और रमा (मेरी पत्नी) पर उनका बहुत स्नह था, अतः उनसे मिलने पर मेरेलिए उनका प्रेम प्राप्त करना सहज और स्वाभाविक बात थी। किन्तु जब मैं उनसे मिला तो उनके स्नेह की स्वाभाविकता में मैंने विशेष आत्मीयता पाई। उन्होंने मेरे सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक जानकारी मुझसे चाही। मुझे लगा, जैसे उन्होंने मेरे भाव-जगत में प्रवेश करके मुझे अपनाया हो। उनकी इस निकटतम आत्मीयता ने मुझे मोह लिया। दो-चार बार मिलने के बाद ही मैं आश्वस्त होगया कि हर प्रकार के परामर्श और सहायता के लिए मैं उनपर अपना अधिकार समझूं। जीवन के कर्मक्षेत्र में प्रवेश करनेवाले किसी भी महत्वाकांक्षी नवयुवक को श्री जमनालालजी-जैसा सलाहकार मिले, इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है।

डालमियानगर के उद्योगों का श्रीगणेश चीनी मिल की स्थापना से हुआ था, जिसके उद्घाटन के लिए श्री जमनालालजी डालमियानगर पधारे। उनके पुण्य-स्पर्श के प्रताप से डालमियानगर की जो प्रगति हुई वह सर्व-विदित है।

वहां जब वह मेरे घर पधारे तो मेरी मां से पहली बार मिले। मेरी मां उनको शुष्क सुधारक,लीडर जानती थीं और मिलने में भी संकोच करती थीं। वे उनसे घण्टों बात करते रहे। क्या बातें कीं, मुझे पूरा याद नहीं, पर बातों का केन्द्र विशेषतया घरेलू ढांचा रहा होगा। मुलाकात के बाद मेरी मां का उनके प्रति बड़ा सम्मान होगया और उनकी धारणाएं स्नेह और आदर में बदल गईं।

अपने व्यापार की प्रारम्भिक अवस्था में मैं उनसे एक बार एक आवश्यकता के सम्बन्ध में मिला। उन्होंने मेरी तात्कालिक आवश्यकता पूरी ही नहीं की, बल्कि एक उत्तरदायी अभिभावक के नाते मेरी समस्या को समझा और अनेक प्रकार के उपयोगी परामर्श दिये। उनके द्वारा आवश्यकता-पूर्ति के सम्बन्ध में मेरे ऊपर जो जिम्मेदारी आती थी, उसके बारे में उन्होंने केवल इतना ही कहा, "अपनी बात को कम मत होने देना।" यह बात इतने सरल ढंग से कही गई थी और इतने अधिक विश्वास के साथ कि 'बात' की महत्ता और मानरक्षा की शिक्षा सदा के लिए मेरे मानस-पट पर अंकित होगई।

मैं श्री जमनालालजी के पास वर्धा कई बार गया और उनके साथ वहां की सार्वजनिक संस्थाओं को देखा। श्री जमनालालजी उन संस्थाओं को बापू की थाती मानते थे। उन संस्थाओं की कार्यपद्धति के विषय में मेरी और उनकी कई बार बातें हुईं। उन संस्थाओं में जब सालाना घाटा होता था तो उन्हें बड़ी व्यग्रता होती थी। मेरी चढ़ती उमर थी और अपने दृष्टिकोण के प्रति आग्रह का-सा भाव होने के कारण मैंने उनसे कई बार दान के द्वारा संस्थाओं का घाटा भरने की प्रथा का विरोध-सा प्रगट किया। उन्होंने मेरी बात को बड़े ध्यान से और बड़े प्रेम से सुना। उनका भी सदा यही प्रयत्न रहा कि घरेलू धंधों के रूप में चलनेवाली संस्थाएं आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो जायं।

मेरे द्वारा कई बार विभिन्न आर्थिक व सामाजिक समस्याओं पर विपरीत आलोचना सुनने के बावजूद उनका झुकाव मेरी ओर घटने की बजाय अधिक बढ़ा ही। मैं उनके इस गुण से विशेष प्रभावित हुआ कि वे विपरीत विचारों की भी कद्र करते थे, अवहेलना नहीं।

समस्या जितनी ही कठिन होती थी, जमनालालजी की रुचि भी उस समस्या को सुलझाने में उसी मात्रा में बढ़ जाती थी। कठिनाइयों का सामना करने के वे अभ्यस्त थे और उनका हल निकालने में लगनशील। वे समस्या को विस्तार से समझते थे, उसके हर पहलू पर विचार करते थे और दूसरों के दृष्टिकोण की तह तक पहुंचने का प्रयत्न करते थे।

श्री जमनालालजी से मेरा जितना संसर्ग बढ़ता गया, उनका प्रेम भी बढ़ता गया। मुझे उनसे अपनी घरेलू और व्यापार की सभी प्रकार की बातें कहने में कभी संकोच नहीं हुआ। उन्होंने एक बार अपनी बच्छराज एण्ड कम्पनी में साझीदार होने के लिए न्यौता-सा दिया। मेरेलिए यह नाजुक स्थिति थी। उनकी बात को टालना भी मेरेलिए सम्भव नहीं था। मैंने दूसरे दिन उनसे ही पूछा, "अपनी फर्म में रहते हुए और वर्तमान स्थिति को देखते हुए, क्या मेरेलिए यह सही होगा कि मैं दूसरी फर्म में साझीदार बनूं?" उन्होंने फौरन ही स्थिति को इस दृष्टिकोण से सोचकर कहा कि मेरेलिए ऐसा करना ठीक न होगा।

उनमें अद्भुत संतुलन था और उनकी दृष्टि दूरगामी थी।

उनका प्रेरणादायक संपर्क आज जीवन की अमूल्य स्मृति के रूप में भी कल्याणकारी बना हुआ है।

: ८५ :

बहुमुखी सेवाएं

श्रीनिवास बगड़का

किसी भी धर्म का अनुयायी सम्पूर्ण धर्म को मानते हुए भी किसी विशिष्ट देवता या सन्त का उपासक होता है, उसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र मे कार्य करनेवाले व्यक्ति को यद्यपि प्रेरणा बहुत-से व्यक्तियों से मिलती है, फिर भी वह एक व्यक्ति को आदर्श पुरुष मानकर चलता है, उससे प्रेरणा पाता है, और उसके अनुरूप अपनेको बनाने की कामना करता है। मेरे जीवन में जमनालालजी का यही स्थान है। मै उन्हें अपना आदर्श पुरुष मानता हूं। भारत-भर में और विशेषकर मारवाड़ी-समाज के तो कितने ही कार्य-कर्ताओं के लिए सेठजी एक आदर्श थे।

महापुरुष जो कुछ होते हैं, या बन पाते है वह उनकी जीवन-भर की साधना का परिणाम होता है। माना कि परिस्थिति, परम्परा और तत्कालीन अन्य महापुरुषों का इस निर्माणकार्य में पर्याप्त हाथ होता है, पर वास्तविक वस्तु होती है उनका अपना व्यक्तित्व ही। जमनालालजी भी इसके अपवाद नहीं थे। वे भस्मावगुठित अंगारे-से थे। गांधीजी के सम्पर्क में आने से ऊपर की राख उड़ गई, यह सच है; लेकिन वह चमक और आभा जो प्रकट हुई उनकी अपनी थी। धीरे-धीरे यह प्रभा-रश्मि प्रसार पाती गई और देश के अणु-अणु में व्याप्त होगई।

जमनालालजी बजाज को 'गांधीजी का पांचवां पुत्र' कहा जाता है। गांधीजी ने स्वयं कहा था कि लोग पुत्र गोद लेते है, जमनालाल ने बाप दत्तक लिया। मैं मानता हूं कि वे गांधीजी के सच्चे मानस-पुत्र थे और थे गांधीवाद की साकार प्रतिमा, साथ ही गांधीजी की सत्य और अहिसा के जीते-जागते स्वरूप। उनके जीवन की कुछ घटनाएं आज याद आती

हैं। एक बार की बात है कि कांग्रेस के लिए एक निधि एकत्र करनी थी। निधि कोई बहुत बड़ी नहीं थी और यह निश्चय किया कि सबसे एक-एक हजार रुपये लेंगे। हम एक सेठ के पास गये और उनसे एक हजार रुपये मांगे। उसने किसी दूसरे सज्जन का नाम लिया और कहा कि वे दे देंगे तो मैं भी दे दूंगा। जब मैंने कहा कि उसने स्वीकृति दे दी है तो उसने भी एक हजार की रकम लिख दी। मैं बड़ा प्रसन्न था कि इनसे यह रकम मिल गई, क्योंकि मुझे इनसे इतनी आशा नहीं थी। जब हम लोग नीचे आये तो सेठजी ने कहा, "श्रीनिवास, आज हम झूठ बोले हैं, झूठ बोलकर तो एक क्या, एक करोड़ रुपये भी नहीं चाहिए। तुम जाकर उन्हें सच्ची बात बता दो, फिर वे जो कुछ देंगे, हमें स्वीकार होगा।" मैंने कहा, "सेठजी, मेरी हिम्मत तो पुनः जाने की नहीं होती है, क्योंकि मुझे विश्वास है वह स्पष्ट इंकार कर देंगे।" इसपर वे स्वयं अकेले ऊपर गये, उन्हें स्थिति बताई। उक्त सज्जन ने आश्वासन दी हुई रकम के लिए फिर भी 'हां' भर ली, और हमें पहले सज्जन से भी रकम मिल गई। इस घटना का उल्लेख मैंने उनकी सत्य के प्रति आस्था का उदाहरण देने के लिए किया है। ऐसे सहस्रों उदाहरण उनके जीवन में मिलेंगे।

सेठजी का जीवन अध्यवसाय, लगन, साहस, सत्यनिष्ठा और त्याग का एक सुन्दर उदाहरण है। देश को उनका परिचय भले ही राजनैतिक क्षेत्र में आने पर ही अधिक मिला हो (नागपुर झंडा-प्रकरण से उनकी ख्याति सारे देश में फैल गई), लेकिन उनके जीवन का यह पहलू उनके सामाजिक जीवन का स्वाभाविक विकास मात्र है। उनके राजनैतिक जीवन की आधारशिला है उनका सामाजिक कार्य। कोई भी राजनैतिक परिवर्तन या क्रांति तभी सफल होगी जब समाज सबल और सुयोग्य हो। हम देखते हैं कि सेठजी का प्रथम और महत्वपूर्ण प्रयास समाज-सुधार की ओर था। इसका अर्थ यह नहीं कि वे राजनैतिक क्षेत्र में किसी से पीछे रहे।

अपने सार्वजनिक जीवन में उन्होंने अनुभव किया कि मारवाड़ी-समाज

के पास अगाध सम्पत्ति है, फिर भी उससे जितना लाभ समाज या राष्ट्र को होना चाहिए उतना हो नहीं रहा है। इसीलिए उन्होंने अ. भा. मारवाड़ी अग्रवाल जातीय कोष की स्थापना आषाढ़ कृष्णा द्वितीया सं० १९७७ को अपने कुछ साथी कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से की। जातीय-कोष अग्रवाल-समाज की जो सेवा आज भी कर रहा है उसकी यहां चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। सेठजी ने इस बात की आवश्यकता भी अनुभव की कि समाज के सेवाभावी व्यक्तियों को एकत्र कर उन्हें संगठित किया जाय। इसी भावना से उन्होंने 'अग्रवाल-सेवक-संघ' की स्थापना की।

शिक्षा के प्रति उनका विशेष अनुराग था। बम्बई के 'मारवाड़ी विद्यालय' की स्थापना में उनका विशेष हाथ था। वर्धा में उन्होंने 'मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल' की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत आज तीन तो वाणिज्य महाविद्यालय चल रहे हैं।

गांधीजी सेठों को समाज के धन के ट्रस्टी मानते थे। इस विचार-धारा को प्रस्तुत करते हुए शायद बापू के दिमाग में सेठजी का ही उदाहरण था। देश का दुर्भाग्य है कि ऐसे ट्रस्टी देश-भर में एक-दो ही हुए।

भारतीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन को सेठजी की जो देन है वह सर्वविदित है। परन्तु एक बात कहे बिना नहीं रह सकता कि भारत के राजनैतिक इतिहास में जो स्थान बापू का था वही राजस्थान की राजनीति में सेठजी का था। राजस्थान में राजनैतिक चेतना का जो कार्य पथिकजी और सेठजी ने प्रारंभ किया उसे सेठजी ने पूरा किया। दुहरे गुलाम प्रदेश में राजनैतिक जागृति का शंख बजाकर अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ने के लिए उसे सेठजी ने ही तैयार किया। सन् १९३९ में सेठजी के नेतृत्व में जयपुर-सत्याग्रह का श्रीगणेश हुआ और उसके बाद सभी देशी राज्यों में सत्याग्रह की एक लहर-सी दौड़ गई, जिसके परिणाम-स्वरूप जगह-जगह पर राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं के नेतृत्व में मंत्रिमंडल बने।

उनके निधन से समाज और राष्ट्र की जो क्षति हुई उसकी पूर्ति नहीं हो सकी। वे बीसवीं सदी के राणा प्रताप और भामाशाह दोनों एक शरीर में थे।

: ८६ :

उनका सबसे बड़ा गुण

भगवतीप्रसाद खेतान

सेठ जमनालालजी बजाज की मेरी याद उनके द्वारा भारत-भर में बच्चों के हृदय पर अंकित इसी प्रकार की छापों की प्रतीक है। वह एक प्रचारक थे, जो जहां भी गए, सामाजिक तथा नैतिक सुधार और देश के प्रति प्रेम का संदेश साथ लेकर गए। आज के नेताओं के विपरीत वह उन सबको, जो उनके संसर्ग में आते थे, अपने निकटतर ले आते थे।

मेरे पिता स्व. श्री नौरंगरायजी खेतान तथा मेरे भाई श्री देवीप्रसादजी खेतान तथा हमारे परिवार में अपनी प्रारंभिक शिक्षा के कारण उन्हें हमारे परिवार के सदस्यों से समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय सेवा—दोनों के मामलों में—जो सदा साथ-साथ चलते थे, बड़ी संभावनाएं दिखाई दी थीं। किसी हदतक मेरे पिता के सरकारी नौकर होने के कारण और किसी हदतक एक संयुक्त कुटुंब के सदस्यों के रूप में रहनेवाले कई व्यक्तियों के अत्यंत भिन्न विचारों के कारण हमारी सीमाओं को भी वह जानते थे। यह केवल उन्हींके कारण था कि हमारा संयुक्त कौटुंबिक मकान, जो कलकत्ते में खेतान-भवन के नाम से विख्यात है, सविनय-अवज्ञा के तूफानी दिनों में देश के सभी भागों के कांग्रेसी नेताओं का अतिथि-भवन बन गया। वे तब उन लोगों के लिए, जो आज नेताओं के पीछे भाग रहे हैं और किसी भी नेता को अपने घर में अतिथि के रूप में रखना एक सम्मान की बात समझेंगे, अप्रिय मेहमान थे। यह केवल सेठ जमनालालजी के ही प्रभाव और व्यक्तित्व के कारण था कि हमारा मकान राष्ट्रीय कार्य करनेवाले सभी बड़े अथवा छोटे कार्यकर्ताओं के लिए खुल गया।

जब मेरे भाई श्री कालीप्रसादजी खेतान सन् १९१४ में इंग्लैंड से बैरिस्टरी

पास करके आये, तो हमारे परिवार को जमनालालजी बजाज तथा बिड़ला-परिवार के सदस्यों से अधिकतम प्रोत्साहन तथा सम्मान मिला, यहांतक कि बाद में हमें जाति-बाहर करने का आंदोलन बिल्कुल असफल रहा।

सेठजी तथा श्री घनश्यामदास बिड़ला मारवाड़ियों में समाज-सुधार के प्राण और प्रेरणा रहे। उनके प्रोत्साहन और सहायता से अनेक महत्वपूर्ण कार्यकर्ता पैदा होगए। महान् नेता होने पर भी उनमें सबसे बड़ा गुण बालकों के साथ बिना किसी अहं-भाव के घुलमिल जाने का था। एक बार मैं और कुछ मित्र कलकत्ता बोटेनीकल बाग में साइकिल पर घूमने गए। सेठजी और श्री महाबीरप्रसादजी पोद्दार भी वहां गए हुए थे। हमें देखकर वे तुरंत हमारे साथ शामिल होगए। मजाक में उन्होंने कहा—"भगवती, मुझे साइकिल चलाना सिखा दो न।" मैं तब बालक ही था। इसलिए घबरा-सा गया, लेकिन महाबीरप्रसादजी ने यह कहकर कि सेठजी को साइकिल चलाना आता है, मुझे तसल्ली दी। सेठजी ने साइकिल ले ली। अभाग्यवश वह एक टैक्सी से टकरा गए, जिसके फलस्वरूप उन्हें घुटने के ठीक ऊपर काफी चोट आगई। उन्हें घर लाया गया। घाव पर टांके लगाने पड़े जो उन्होंने बिना बेहोशी की दवा लिये लगवा लिये। सारी बात उन्होंने खुशी-खुशी बरदाश्त की।

मुझे एक बार उनके साथ जुहू रहने का मौका मिला। यह देखकर मुझे बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ कि अपने स्नेह और व्यक्तित्व से वह अपनी पुत्र-वधू के विचारों में किस तरह परिवर्तन लाने में सफल होगए।

वह स्वयं क्रांतिकारी थे और उनमें बड़ा मित्र-भाव था और दूसरों के दृष्टिकोण को सहानुभूतिपूर्ण समझने से उनके मित्रों तथा अनुगामियों में क्रांतिकारी, साधु-संन्यासी, अमीर-गरीब, समाज-सुधारक, साहित्यकार राजनीतिज्ञ—वास्तव में सभी वर्ग—सम्मिलित थे। जिन लोगों को उनके तरीके तथा विचार नापसंद थे, वे भी उन्हें पसन्द करते थे।

: ८७ :

अनिर्वचनीय कृतज्ञता

रमारानी जैन

ताऊजी (श्री जमनालालजी बजाज) पिताजी के पुराने आत्मीयों में से थे, वैसे भी मारवाड़ी-समाज में प्रायः प्रत्येक परिवार का उनके प्रति सहज श्रद्धा-भाव था। जब मैं पांच-छः वर्ष की थी तब मुझे कुछ दिन के लिए साबरमती-आश्रम में रहने का सुयोग मिला। वहीं मैं पहले-पहल उनके कुटुम्ब के साथ रही। उनके ही सुझाव के अनुसार दो वर्ष बाद मुझे रेवाड़ी-आश्रम में पढ़ने के लिये भेजा गया, जहां मदालसा (श्री जमनालालजी की द्वितीय पुत्री) भी पढ़ती थी। वहां उसे पाकर मुझे ऐसा लगा, जैसे मुझे अपनी ही बहन मिल गई हो।

मैं इसे अपना सौभाग्य मानती हूं कि ीवन के उन महत्वपूर्ण वर्षों में, जब चरित्र-निर्माण की नींव पड़ती है, मुझे उनका मार्ग-दर्शन और स्नेह मिला। उनके सम्बन्ध में अनेक ऐसे संस्मरण हैं, जो महत्वपूर्ण हैं और जिनसे उनकी बहुमुखी महानता का दिग्दर्शन होता है, किन्तु उन सबको लिख सकना मेरेलिए सम्भव नहीं। मैं दो-चार संस्मरणों की पुलकित स्मृति के द्वारा ही अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रही हूं।

सम्भवतया १९३० के नवम्बर-दिसम्बर में जब वह कांग्रेस-कार्य के दौरे के सिलसिले में दानापुर आये और हमारे यहां ठहरे तो मैंने इच्छा प्रकट की कि मैं उनके साथ दौरे पर चलूं। देश-सेवा की अथाह लगन थी मेरे मन में उन दिनों। पिताजी भी देश के कार्यों में सक्रिय सहयोग देते थे। मुझे विश्वास था कि पिताजी की अनुमति मिल जायगी और ताऊजी तो मेरा उत्साह देखकर फौरन ही साथ ले चलने को तैयार हो जायंगे। किन्तु जब मैंने उनसे अपनी इच्छा प्रकट की तो मुझे यह देखकर आश्चर्य और निराशा हुई कि

उन्होंने तत्काल अपना स्पष्ट निर्णय सुना दिया—"अपनी मैट्रिक की परीक्षा छोड़कर, रमा, तू मेरे साथ दौरे पर जाय, यह ठीक नहीं। तुझे पहले अपनी परीक्षा समाप्त कर लेनी चाहिए।"

आज उस बात को याद करती हूं तो समझ में आता है कि उनकी विवेक-बुद्धि कितनी प्रखर थी। यद्यपि वे देश-सेवा के कार्यों में दिन-रात लगे रहते थे और सब प्रकार के साधन जुटाने में उन्हें विस्तृत सहयोग की आकांक्षा रहती थी तथापि वे दूसरों के हित को प्रमुखता देते थे। दूसरे के दृष्टिकोण से बात सोचना उनका बड़ा भारी गुण था।

उक्त घटना के अगले साल, सन् १९३१ में, जब वह पुनः दानापुर आये तो पिताजी ने उनसे मेरे विवाह के विषय में परामर्श किया। उस समय मेरी आयु चौदह वर्ष की थी। उन्होंने इस विषय में बिना मेरी राय व विचार जाने परामर्श देना अनुचित समझा और मुझे बुलाकर पूछ ही तो लिया कि अमुक रिश्ते के बारे में मेरी राय क्या है? इस प्रकार के प्रश्न के लिए मैं तैयार नहीं थी, न मैंने कभी इस विषय में इस दृष्टिकोण से कुछ सोचा ही था। हां, एक बात मन में जरूर दृढ़ होगई थी, जैसाकि उस आयु में, उस वातावरण में, हर आदर्शोन्मुखी लड़की की भावना होती थी, कि विवाह नहीं करूंगी। मैंने भी निस्संकोच कह दिया—"ताऊजी, मैं शादी नहीं करूंगी।" इस बात को उन्होंने न तो हँसकर उड़ाया, न यह कहा कि यह बचपन की या बेवकूफी की बात है। पिताजी से कहकर उन्होंने मुझे अपने साथ भ्रमण के लिए ले लिया। इन पांच-छः महीनों में समय-समय पर समझाकर, तर्क से भावनाओं की महत्ता सुझाकर, वह मुझे इस परिणाम पर ले आये कि लड़कियों के लिए विवाह करना ही अधिक स्वाभाविक, आवश्यक और श्रेयस्कर है।

उन्हें यह बात असह्य थी कि कोई भी व्यक्ति अपने आपको गिराकर बात करे या ऐसी बात कहे जिसकी सचाई का प्रमाण उसे बाहर से जुटाना पड़े। उनके सामने किसी बात को कहने का ही अर्थ यह था कि वह बात अपने आपमें सच्ची है। संयोग की बात कि यह शिक्षा मुझे जरा कठिन तरीके से

सीखनी पड़ी, पर वह भी जीवन का अमूल्यतम संस्मरण है।

एक दिन कलकत्ते में ताऊजी ने सीढ़ियां चढ़ते हुए मुझसे किसी घटना के विषय में पूछा। मैंने बात बता दी। मेरा उत्तर सुनकर वह एक क्षण को सोचने-से लगे व ठिठककर मेरी ओर देखा। मुझे लगा, जैसे उन्होंने विश्वास न किया हो। मैंने कहा—"जी, मैं ठीक कहती हूं।" वह चौंके, चौंककर मेरी ओर देखा। मैंने उनकी दृष्टि की भर्त्सना को देखा, पर समझा नहीं। मैं तो यही समझी कि वह मेरा विश्वास नहीं कर रहे हैं। मैं स्तम्भित होगई। मैंने आग्रहपूर्वक वाणी का सारा बल लगाकर कहा—"ताऊजी, मैं कसम खा सकती हूं, कि"......मैं वाक्य पूरा भी न कर पाई थी कि चट से एक तमाचा मुंह पर आ लगा।

यह एक अनहोनी-सी बात थी। वे कभी भी किसीपर नाराज नहीं होते थे, पर यह बात उन्हें ऐसी लगी कि वे अपनेको रोक न पाये। उनका गला भर आया। बोले, "रमा, तुम्हें यह सब कहने की क्या जरूरत हुई?" मेरे मन में बिजली-सी कौंधी और मैं फौरन ही समझ गई कि उनका अभिप्राय क्या था। आज वह संस्कार इतना दृढ़ होगया है कि अगर कोई अपनी अनावश्यक सफाई पेश करता है या कसम की बात मुंह से निकालता है तो मन विद्रोह कर उठता है।

स्वभाव की सरलता, कोमलता और अनुशासन की दृढ़ता के साथ-साथ उनमें विनोदवृत्ति भी कम नहीं थी। उनकी छोटी लड़की, मेरी सहेली ओम् को यह गुण बहुत विकसित मात्रा में उत्तराधिकार में मिला है। एक रोज उक्त भ्रमण के सिलसिले में जब हम बंगाल के अभय-आश्रम में थे तो उन्होंने ओम् से कहा—"तू जरा भिखारी का तो अभिनय दिखा" वह भिखारी का पार्ट बहुत अच्छा करती थी, पर उसने उस दिन इस बात को टालना चाहा, लेकिन हम सब लोग उसके पीछे पड़ गये। हारकर ओम् को हमारी बात माननी पड़ी। झट वह भीख मांगती-सी मेरे पास आई और चुपके-से कान में कहा—"रमा, जल्दी से मुझे एक तमाचा मार दे। मार, जल्दी कर!" मैं स्थिति समझ ही नहीं पाई थी, पर ओम् ने जिस आग्रह और

अधिकार से यह कहा, मुझे मानना पड़ा। मेरा हल्का-सा तमाचा लगना था कि ओम् ने जोर से रोना शुरू कर दिया। मैं हक्की-बक्की खड़ी रह गई। मेरी आंखों में आंसू आगये। मैं क्या सफाई देती। तमाचा तो मैंने मारा ही था। उसका रोना-चीखना देखकर कौन यह मानता कि मैंने उसके ही कहने से तमाचा मारा। ताऊजी पड़े-पड़े सब देख रहे थे और मुस्करा रहे थे। आखिर जब ओम् का रोना-चिल्लाना सुबकियों के स्तर पर आया तो वह बोली—"गरीबों की फरियाद कोई नहीं सुनता। इस अमीर लड़की ने मुझ भिखारिन को दान तो दिया नहीं, उल्टा तमाचा मार दिया।" अब मेरी समझ में मामला आगया। पर ताऊजी की आलोचना यह रही, "ओम्, ! कुछ बात बनी नहीं।" खैर, बात तो समाप्त होगई, पर ओम् को जैसे लग गई।

उसी रोज शाम को दिन-छिपे एक सार्वजनिक जलसा होनेवाला था। जलसे में चलने की हम लोग तैयारी कर रहे थे कि ओम् मेरे पास आई और बोली, 'रमा ! तू जरा लालटेन लेकर मेरे साथ चल। मुझे बाथ-रूम जाना है। हम लोग जैसे ही बाथ-रूम पहुंचे, वह वहीं घास पर बैठ गई और जोर से चीख उठी—"हाय ! मुझे बिच्छू ने काट लिया, क्या जाने सांप था ! हाय राम ! बड़े जोर की लहर उठ रही है।"

उसे उठाकर कमरे में लाया गया और प्राथमिक उपचार करने की कोशिश की गई, पर उसका रोना बढ़ता ही गया और वह बोलती ही रही—"सारे बदन में लहर-सी उठ रही है, बड़ा दर्द हो रहा है।" डाक्टर को बुलाने भेजा गया। वह दस-पंद्रह मिनट में आये। ओम् अभी भी दर्द के मारे छटपटा रही थी। डाक्टर को जो सामने देखा तो वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। सब भौंचक रह गये। सार्वजनिक जलसे का समय था। हम लोगों को पन्द्रह मिनट की देरी होगई थी। मेरा मन इस बात से बिल्कुल शंकित था कि आज ताऊजी बहुत डाटेंगे, क्योंकि वह समय का बड़ा ध्यान रखते थे। ओम् की यह हालत देखकर ताऊजी पेश्तर इसके कि उससे कुछ कहें, वह झट बोल उठी—"क्यों काकाजी, अब यह एक्टिंग तो सफल रही न ?" ताऊजी भला क्या जवाब दते ! उन्होंने ही तो दोपहर में ओम्

की एक्टिंग पर टीका-टिप्पणी की थी और कहा था कि कुछ बात नहीं बनी। विनोद के खेल में बेटी ने खिलाड़ी की हैसियत से उन्हें मात दी थी। उन्होंने मुस्कराकर ओम् की पीठ पर हाथ फेरा और बस इतना ही कहा, "तूने समय का ध्यान नहीं रखा।"

उनके दृष्टिकोण का सन्तुलन बड़ा अद्‍भुत था। उनका प्यार न तो कभी अनुशासन के रास्ते में आड़े आया, न अनुशासन कभी इतना एकांगी हुआ कि वह परिस्थिति-विशेष की आवश्यकताओं के प्रति आंखें बन्द कर लें।

उनके साथ रहनेवाली लड़कियों में से कभी किसीने यह महसूस नहीं किया कि कोई भी बात या मन के किसी भी भले-बुरे भाव को उनके सामने सरल रूप में रखना संकोच का कारण हो सकता है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों की सूझ और दृष्टि उन्हें बड़े सहज रूप में प्राप्त थी। बड़े सुलझे हुए मनोवैज्ञानिक थे वह! बाल-सुलभ जिज्ञासा के सभी प्रश्न पर और व्यक्तित्व के विकास में सामने आनेवाली सभी समस्याएं, यहांतक कि योन-संबंधी प्रश्न भी, वह ऐसे सरल भाव से समझा दिया करते थे, जैसे वह प्रश्न कोई धार्मिक शास्त्र-शंका हो।

एक दिन मैं ताऊजी के एक नवयुवक सेक्रेटरी के साथ कार में कहीं जा रही थी। रास्ते में उन महाशय ने कुछ विशेष स्नेह के साथ मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर अपने माथे से लगा लिया। तबतक उनके द्वारा दी गई नैतिक शिक्षा के आधार पर मैं इतना समझने लगी थी कि इस प्रकार के आचरण में जो विशेष भाव है वह अच्छा नहीं। मेरे भाव वह ताड़ गये। इसके पहले कि मैं उन सज्जन से कुछ कहूं, वे बोले, "माफ करो, बहन। मेरी कोई बुरी मंशा नहीं थी। अगर्चे मैं मानता हूं कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था।" उन्हें शंका हुई कि मैं ताऊजी से तो यह बात कहूंगी ही। वे तरह-तरह से माफी मांगने लगे और केवल यह आश्वासन चाहा कि मैं श्री जमनालालजी को यह घटना न बताऊं। पर मैं सोच ही न सकी कि उनसे न कहना कैसे संभव होगा। उन सज्जन से मैंने इतना ही कहा कि मैं इस बारे में सोचूंगी। एक दिन तक मेरे मन में बड़ी उथल-पुथल रही। मैंने सब बात मदालसा को बताई।

उसने कहा, "इसमें सोचने की कुछ बात ही नहीं है। उस व्यक्ति के विषय में काकाजी की धारणा क्या होगी, यह सोचने की तुम्हें जरूरत नहीं। तुम्हें काकाजी से सब बात फौरन कह देनी चाहिए।" मेरे मन की द्विविधा मिट गई। मैंने ताऊजी से सबकुछ कह दिया। उन्होंने सब सुन लिया और अपनी दो उंगलियों से मेरी नाक के उठे हुए हिस्से को पकड़कर दो-तीन बार हिला दिया। उनके प्यार की अभिव्यक्ति इस प्रकार ही हुआ करती थी। फिर मुस्कराकर बस इतना ही कहा—"ठीक है, तू जा। मैं देख लूंगा।" मेरे मन में उत्सुकता रही कि आखिर उस व्यक्ति के साथ उन्होंने क्या बर्ताव किया और उसे क्या सजा दी। मुझे बाद में मदालसा से पता चला कि ताऊजी ने उससे कहा था कि वह एक पत्र मेरे पिताजी को लिखे, जिसमें सारी घटना का उल्लेख करके माफी मांगे और इस तरह अपनी भूल का प्रायश्चित्त करे। सेक्रेटरी ने वह पत्र लिखकर ताऊजी को दिया था, किन्तु वह उन्होंने पिताजी के पास भेजा नहीं। उनका अभिप्राय यही था कि व्यक्ति के मन में सच्चा पश्चाताप उदय हो, किन्तु उसका आत्म-सम्मान सदा के लिए खंड-खंड न होजाय। मुझे यह भी पता चला कि सेक्रेटरी ने स्वयं ही जाकर सारी बात उनसे कह दी थी और उक्त प्रकार के प्रायश्चित्त द्वारा उसका मन इतना स्वस्थ होगया कि वह अक्षत आत्मसम्मान के साथ सदा की तरह सरल-सहज बर्ताव करने लगा।

बिना अधिक मिले, बिना अधिक बोले वह कैसे अपने लिए दूसरों के हृदय में श्रद्धा और प्यार प्राप्त कर लेते थे, उनके चरित्र के इस जादू की बात सोचती हूं तो दंग रह जाती हूं। सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि उनके साथ काम करनेवाली और उनके निकट सम्पर्क में आनेवाली हर लड़की के मन में यह पूरा विश्वास था कि सबसे अधिक प्यार वह उसे ही करते हैं।

वे व्यक्तियों के चरित्र का निर्माण स्वयं व्यक्ति की अपनी विवेक-बुद्धि और आत्म-सम्मान की भावना को पुष्ट करके करते थे। सिद्धान्त की बात पर वह अपने से छोटों को भी अपने सम-कक्ष मानते थे और उनके

आग्रह का आदर करत थे।

जब गांधीजी दूसरी गोलमेज-परिषद के बाद बम्बई लौटे, उन दिनों मैं ताऊजी के साथ बम्बई में ही रहती थी और पिकेटिंग आदि में जोर-शोर से भाग लिया करती थी। पुलिस की अवज्ञा करना मैंने असहयोग का अंग मान रखा था। उन्हीं दिनों एक बार एक सिपाही ने मुझे कार चलाते देखकर गाड़ी रोक ली थी। लाइसेंस के बारे में पूछा तो मैंने कह दिया, "लाइसेंस मेरे पास नहीं है।" उसने कहा—"अमुक तारीख को अमुक मजिस्ट्रेट के अदालत में हाजिर हो जाना!" जब ताऊजी को इस घटना का पता चला तो उन्होंने कहा—"अदालत में जाकर अपना अपराध स्वीकार करना होगा, किन्तु अदालत में रमा नहीं जायगी, मदालसा जायगी।" हो सकता है, उनके मन में यह भावना रही हो कि यदि इस कारण को लेकर मुझे सजा होगई तो पिताजी के मन को आघात पहुंचेगा कि उन्होंने मेरे बारे में सावधानी नहीं बरती, पर मैंने उनसे अपने मन की शंका साफ-साफ कह दी। मैंने कहा—"यदि अदालत में हाजिर होकर अपने अपराध को मानना नैतिकता है तो उस नैतिकता का यह भी एक अंग है कि जिसने अपराध किया है वही व्यक्ति अदालत में जाय।" उन्होंने बिना किसी तर्क-वितर्क के मेरी बात मान ली और बाद में मैं ही अदालत में हाजिर हुई।

बाद में जब जीवन की जिम्मेदारियां मेरे ऊपर आईं और जब-जब मुझे किसी कठिन समस्या का सामना करना पड़ा, मैं उनका परामर्श लेती रही। उनकी शिक्षाएं सदा ही जीवन के लिए प्रकाश-स्तम्भ बनी रहेंगी।

उनकी महानता की बातें सोचती हूं तो मेरे जीवन के वे दिन सौभाग्य की आभा से चमक उठते हैं, जो उनके सम्पर्क में बिताये। मन अनिर्वचनीय कृतज्ञता से गद्गद हो उठता है!

: ८८ :

मैं उनके जाल में कैसे फंसा ?

श्रीमन्नारायण

सितम्बर १९३५ में मैं इंगलैंड से भारत वापस आया। आई. सी. एस. परीक्षा में कुछ नम्बरों से रह गया था। अप्रैल १९३६ में लखनऊ-कांग्रेस की रौनक देखने गया। वहां एक मित्र ने पू० जमनालालजी से परिचय कराया। मिलते ही उन्होंने कहा, "बहुत अच्छा हुआ कि तुम आई. सी. एस. परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुए। भगवान् ने तुम्हें बचा लिया। अब तुम बापूजी के काम में लग जाओ।"

जमनालालजी ने मुझे वर्धा आने के लिए निमंत्रण दिया। उस वक्त मुझे ठीक पता भी नहीं था कि वर्धा कहां है। उन्होंने नक्शा दिखाकर बताया कि नागपुर से ५० मील दूर है और वहांतक ग्रांड ट्रंक एक्सप्रेस सीधी जाती है। किन्तु मुझे वर्धा जाने का कोई विशेष उत्साह नहीं था। पू० बापूजी एक महान नेता है, महात्मा हैं। मैं उनसे मिलकर क्या करूंगा ? जब जमनालालजी ने देखा कि मैं वर्धा जाने में आना-कानी कर रहा हूं तो पूछने लगे, "तुम्हें किन बातों में दिलचस्पी है ?"

"शिक्षा व साहित्य में।" मैंने उत्तर दिया।

जमनालालजी फ़ौरन बोले, "इसी महीने के अन्त में नागपुर में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हो रहा है। तुम्हें उसमें तो दिलचस्पी है न ?"

"जीहां, उसमें शामिल होना चाहूंगा।" मैंने कहा, "हिन्दी-साहित्य में रुचि तो रही है। कविताएं व लेख भी लिखता रहा हूं। किन्तु अभी तक किसी साहित्य-सम्मेलन में शामिल होने का मौका नहीं मिला है।"

इस प्रकार मेरा नागपुर जाना तय होगया। घर जाकर कुछ दिन बाद

मैं वहां के हिन्दी साहित्य-सम्मेलन में शामिल हुआ। अपने 'रोटी का राग' काव्य-संग्रह की कुछ पंक्तियां कवि-सम्मेलन में पढ़ी थीं। उनकी प्रशंसा भी हुई। सम्मेलन खत्म होने के बाद मैं वापस घर जाने की तैयारी करने लगा।

"क्या तुम अब भी यहां से वर्धा न जाना चाहोगे ?" जमनालालजी ने पूछा।

"वर्धा जाकर क्या करूंगा ?" मैंने कहा।

"वहां कई संस्थाएं हैं। और पू० बापूजी से मिलना हो जायगा।"

मैं फिर भी चुप ही रहा। जमनालालजी सोचते होंगे कि अजीब लड़का है। इसे महात्मा गांधी से परिचय करने की भी इच्छा नहीं है ! किन्तु वे इतनी आसानी से मुझे छोड़नेवाले नहीं थे। कहने लगे, "देखो, आज ही शाम को अहिंसा-आश्रम की बहनें सीधी बस से वर्धा जा रही हैं। तुम्हें ट्रेन से जाने की परेशानी भी उठाने की जरूरत नहीं है।"

उन्होंने बस में मेरा सामान रखवा दिया और आखिर मैं वर्धा पहुंच ही गया। उन दिनों मौसम काफी गर्म था। पवनार में 'ग्राम-सेवा-मंडल' की यात्रा हो रही थी। गांवों के काफी कार्यकर्ता यात्रा में शामिल हुए थे। इत्तिफाक से उन्हीं दिनों श्री आर्यनायकम्‌जी व आशाबहन वर्धा आये थे। वे शांतिनिकेतन में बहुत वर्ष शिक्षण का कार्य कर चुके थे और अब पू. बापूजी के मार्गदर्शन में वर्धा में शिक्षण के प्रयोग करने की इच्छा रखते थे। जमनालालजी ने मेरा परिचय श्री आर्यनायकम्‌जी से कराया। मुझे शिक्षण-कार्य में पूर्ण रुचि तो थी ही। जमनालालजी बोले—

"तुम व आर्यनायकम्‌जी साथ मिलकर वर्धा में शिक्षा का काम संभाल सको तो बहुत अच्छा होगा।"

उन दिनों वर्धा में एक स्कूल चल रहा था, जिसका नाम 'मारवाड़ी-विद्यालय' था। जमनालालजी इस स्कूल को एक आदर्श शिक्षण-संस्था बनाना चाहते थे।

इन्हीं दिनों वर्धा में पू. बापूजी से मिलना हुआ। मैं तो समझता था कि

मुझ-जैसे सामान्य नवयुवक की ओर महात्माजी क्या ध्यान देंगे ! किन्तु उन्होंने पहली बार ही इतनी आत्मीयता व प्रेम से मुझसे बातें की कि मैं उनकी ओर अनायास खिंच गया । ऐसा महसूस हुआ, मानो उनसे सदियों का परिचय है । उन्होंने मिलते ही मुझसे पूछा, "अब तुम मेरा काम नहीं करोगे ? "

मैं गद्गद् होगया । मैंने नम्रता से उत्तर दिया, "बापूजी, क्यों नहीं करूंगा ?"

दूसरे दिन जमनालालजी ने मेरे सामने दो सुझाव रखे । एक तो यह कि मैं मारवाड़ी-विद्यालय की संचालक-समिति—मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल—का मंत्री बन जाऊं और श्री आर्यनायकम्‌जी विद्यालय के आचार्य । दूसरे, मैं अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति का संयुक्त मंत्री बनूं । दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के मंत्री श्री सत्यनारायणजी उन दिनों वर्धा में ही थे। उन्हें अ. भा. राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति का मंत्री बनाया गया । मैंने उत्तर दिया, "एक बार तो मैं घर जाऊंगा और पिताजी से सलाह-मशविरा करूंगा । किन्तु मेरा विचार वर्धा आने का हो रहा है, पू. बापूजी के आकर्षण से ।"

मैं एक-दो दिन बाद वापस घर (मैनपुरी) चला गया । पू. पिताजी ने कहा, "अगर पू. गांधीजी का व सेठ जमनालालजी का कार्य करने का अवसर मिलता है तो वर्धा एक वर्ष के लिए चले जाओ ! बाद में आगे का सोच लेंगे ।" पू० माताजी की भी इजाजत मिल गई । इस प्रकार मैं जून १९३६ में एक वर्ष कार्य करने के खयाल से वर्धा पहुंच गया ।

पर मुझे स्वप्न में भी खयाल न था कि वर्धा में ही इतने वर्षों तक काम में लग जाना होगा । पू० बापू के शब्दों में जमनालालजी 'मनुष्यों के मछुवे' थे । मैं भी उनके जाल में फंस गया और बापू के आकर्षण के कारण उसमें उलझता ही गया ।

: ८९ :

युवकों के सच्चे सहायक

मदनलाल पित्ती

श्री जमनालालजी हमारे परिवार के बहुत समय से मित्र रहे थे। लेकिन मुझे उनकी सबसे पहली याद आती है सन् १९२१ की, कांग्रेस के अहमदाबाद-अधिवेशन के समय की। उस प्रथम भेंट का चित्र मेरे मन पर हमेशा ताजा रहता है, मानों वह घटना कल ही घटी हो। उनके व्यक्तित्व की उस समय मेरी चेतना पर बहुत ही गहरी छाप पड़ी होगी, इतनी गहरी कि न तो समय और न आयु उनकी स्पष्ट मूर्ति को, जो कि हमेशा मेरे मन में बनी रही है और बनी रहेगी, मिटाने या धुंधला करने में समर्थ नहीं हो सकी।

आज भी मैं साफ देख सकता हूं कि वे शुभ्र खादी पहने कांग्रेस-कैम्प में खादी से सुसज्जित अपनी कुटिया के अहाते में चटाई पर बैठे हैं उनके चारों ओर बहुत-से युवकों और वृद्ध पुरुषों की भीड़ है। मेरे पिताजी को, जो कि मुझे उस प्रवास में अपने साथ ले गये थे, देखते ही उन्होंने जिस मुस्कान के साथ उनका अभिवादन किया, मैं उसे कभी भूल नहीं सकता।

इसी कांग्रेस के अवसर पर मुझे प्रथम बार गांधीजी के दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। पहले तो दूर से ही मैंने उन्हें अधिवेशन में देखा, लेकिन बाद में साबरमती-आश्रम में निकट से देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जमनालालजी हमें साबरमती के तट पर स्थित उस आश्रम में ले गये थे। मेरेलिए तो ये दोनों ही घटनाएं ऐतिहासिक हैं और चिर-स्मरणीय रहेंगी।

जमनालालजी के व्यक्तित्व का अन्तिम प्रभाव मुझपर वर्धा में जनवरी १९४२ में पड़ा, इस धराधाम से प्रभु द्वारा उनको बुलाये जाने के कुछ ही समय पूर्व। उनका अन्त इतने अकस्मात् और अप्रत्याशित रूप से हुआ कि मेरे कान

हरिद्वार में रेडियो पर उनके अवसान के दुखद समाचार को सुनकर विश्वास ही न कर सके। ऐसा लगा, मानो रेडियो से गलती होगई है, लेकिन जब सचाई का भान हुआ तो मैं स्तब्ध रह गया। मैं अपने जीवन की संकट और आवश्यकता की घड़ियों में उनकी सहानुभूतिपूर्ण समझ और सहायता पर इतना निर्भर रहने लगा था कि उस समय से मुझे ऐसी प्रतीति होने लगी, जसे मैं अनाथ होगया होऊं। एक प्रकार का गहरा आत्मिक सूनापन मुझे अब भी अनुभव होता है। वे न केवल एक मित्र, दार्शनिक और सदा मदद करन के लिए उत्सुक मार्ग-दर्शक ही थे, अपितु वे प्रेरणा के स्रोत और शक्ति के स्तम्भ भी थे।

मुझे यह देखकर हमेशा आश्चर्य होता था कि उन-जैसा व्यस्त व्यक्ति, जिसकी अनगिनत प्रवृत्तियां और काम-धंधे थे, किस प्रकार अपने युवक मित्रों के लिए इतना समय निकाल सकता था। भला उन युवक मित्रों और उनके बीच सामान्य बात क्या हो सकती थी? लेकिन वे युवकों को बहुत चाहते थे और शायद उनके बीच वे सबसे अधिक प्रसन्न रहते थे। वे जहां-कहीं भी होते अथवा कितने ही कामकाज में घिरे होते, युवकों को निमंत्रित करने का कोई भी अवसर नहीं चूकते थे और उनके लिए कोई-न-कोई समय निकाल ही लेते थे, भले ही वह कार अथवा ट्रेन के प्रवास में क्यों न हो। ज्योंही उन्हें युवकों का साथ मिला कि फिर वह और सब बातें दिमाग से निकाल देते थे और उनपर पूरा ध्यान केन्द्रित करते थे। उनका प्रयत्न होता था कि वे उनके आन्तरिक जीवन से परिचित हों और उनकी कठिन समस्याओं को सुनकर उन्हें सुलझाने में सहायक बनें।

बच्चों और युवकों के सम्बन्ध में उनकी दो विशेषताओं का यहां उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। एक विशेषता थी—शादी-सम्बन्ध जोड़ने की उनकी शक्ति। किसी भी लड़के या लड़की का पता चला कि वे झट उनके लिए योग्य वर या वधू बता देते थे। उनके सुझाये बहुत-से सम्बन्ध मूर्तरूप धारण कर लेते थे।

उनकी दूसरी विशेषता थी—युवकों के कान या नाक पकड़ना। इसकी

पुष्टि बहुत-से भुक्तभोगी कर सकते हैं। इस प्रकार वे उन लोगों के आन्तरिक व्यक्तित्व के साथ एक प्रकार का संम्पर्क स्थापित करने में सफल होते थे।

सब जानते हैं कि वे ब्रिज खेलने के बड़े शौकीन थे, लेकिन शायद लोगों को उस दूसरे खेल की जानकारी नहीं है, जो वे हम-जैसे अपने युवक मित्रों के साथ खेला करते थे। वे इसे बुद्ध-परीक्षा का खेल कहा करते थे। जमनालालजी के इर्द-गिर्द जब कभी भी युवक होते और उनके पास थोड़ा भी अवकाश होता, वे इस खेल को खेलते कभी अघाते नहीं थे।

जमनालालजी हरकिसी का दुःख सुनने और उसे हमेशा सलाह और यथा-सम्भव सहायता देने के लिए तत्पर रहते थे, भले ही वह व्यक्ति वृद्ध हो या युवा, सम्पन्न हो या गरीब, पुरुष हो या स्त्री और उनकी वे समस्याएं निजी हों या पारिवारिक, सामाजिक हों या नैतिक, आर्थिक हों या भावनात्मक, और भले ही वह प्रश्न पति-पत्नी के बीच का हो या पिता-पुत्र का अथवा कि भाईयों या दूसरे सम्बन्धियों का, हिस्सेदारों या मालिकों का। जरूरतमन्द विद्यार्थी की मदद करने में वे कभी नहीं चूके। उनकी सहायता कभी भी खैरात के रूप में नहीं थी, बल्कि वे विद्यार्थी के परिवार तथा उसके जीवन में बराबर रस लेते रहते थे।

जमनालालजी ने इस बात का हमेशा बहुत ही ध्यान और सावधानी रखी कि उनकी सहायता पानवाले को कभी किसी प्रकार तनिक भी हिचक, अपमान अथवा लज्जा अनुभव न हो। यदि किसी विद्यार्थी या जरूरतमन्द आदमी के पास उसका बनाया कोई चित्र या दस्तकारी की वस्तु होती तो वे उचित मूल्य पर अपने मित्रों को कहकर खरीदवा देते। इससे न केवल पानेवाल को सहायता मिलती, अपितु वह आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता भी अनुभव करता। इससे उस व्यक्ति को उस अवमानना अथवा अनादर से मुक्ति मिल जाती, जैसी कि भावुक युवा मस्तिष्क दान स्वीकार करने में अनुभव करते हैं। इस तथा दूसरे रूपों में जमनालालजी सहयोग और बन्धुत्व की भावना से सहायता देते, न कि दया या दान की भावना से प्रेरित होकर।

दूसरे व्यक्तियों के प्रति अपनी महती भावना को प्रदर्शित करनेवाले उनके बहुत-से तरीकों में से यह तो एक है। वस्तुतः सभी महापुरुषों का यह एक सच्चा चिह्न है। जमनालालजी में यह गुण बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान था। हममें से अधिकांश व्यक्ति, जो उनके निकट सम्पर्क में आये, इस बात की पुष्टि कर सकते हैं। जहांतक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्धित उनके समस्त कार्यों में उनके इस गुण से बहुत ही प्रभावित हुआ हूं। इससे ज्ञात होता है कि मानवीय व्यक्तित्व के प्रति उनके हृदय में आदर-भाव और मानव-परिवार के प्रति एकत्व की भावना थी।

क्या यह आदर्श की बात नहीं है कि जमनालालजी अपने प्रति रूखा आदर और प्रशंसा उत्पन्न करने की अपेक्षा प्रेमपूर्ण आदर प्रेरित करते थे? मेरा विश्वास है कि यदि उनके शत्रु थे तो बहुत थोड़े और वे डाह की अपेक्षा स्वस्थ स्पर्द्धा पैदा करते थे।

अपने लचीले मस्तिष्क के बावजूद कभी-कभी वे ऐसी छाप डालते थे, मानों वे बड़े कठोर हैं, दकियानूसी विचार के हैं। पुरानी पृष्ठभूमि के होते हुए भी आश्चर्य इस बात का है कि उनका दृष्टिकोण आधुनिक और विशाल था। तथाकथित पश्चिमी शिक्षा के अभाव से वैसे उनके मार्ग में कोई रुकावट नहीं आई, लेकिन शायद आगे चलकर उनकी उन्नति में इससे बाधा पड़ती। शायद वे अपनी मर्यादाओं को जानते थे और इसलिए उनका उन्होंने कभी उल्लंघन नहीं किया।

जमनालालजी के दो गुणों में उनके व्यक्तित्व का सार आ जाता है। वे थे उनकी मानवीय भावना और उनकी स्वस्थ सहज-बुद्धि। इन दोनों के अतिरिक्त उनमें ईमानदारी और आध्यात्मिक तथा भौतिक रूप से जरूरत-मन्दों की मदद करने की भावना भी ओतप्रोत थी।

: ९० :

उनकी पुण्यस्मृति

रिषभदास रांका

जमनालालजी के विषय में पहली बार लोकमान्य तिलक से सुना। देश के काम में मार्गदर्शन लेने के लिए उनसे सन् १९१९ में मिला था। तब उन्होंने कहा था, "व्यापारियों का सबसे अच्छा मार्गदर्शन जमनालाल बजाज कर सकते हैं। वे कुछ दिन पहले जब यहां आये थे तब मेरी अध्यक्षता में उनका सम्मान हुआ था। वैसा सम्मान शायद ही अबतक किसी व्यापारी का हुआ हो। उनके हाथ से देश का बहुत बड़ा काम होनेवाला है। वे व्यापारी-समाज की कीर्ति को उज्ज्वल करेंगे।"

उस समय तक सेठजी देश के भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करनेवाले तिलक, रविबाबू, जगदीशचंद्र बसु, गांधीजी आदि महान् देशसेवकों को आर्थिक सहायता देते थे। पर जब मैं उनके संपर्क में आया तबतक वे अपने-आपको 'गांधीजी के पांचवें पुत्र' बनाकर उनके कामों में तन-मन-धन से जुट गए थे।

सन् १९२४ में खादी-कार्य से जलगांव आये थे। उन दिनों वे खादी-बोर्ड के अध्यक्ष थे। 'चर्खा-संघ' स्थापित होने के पहले खादी-बोर्ड के द्वारा खादी का काम चलता था। उस समय उन्होंने कार्यकर्ताओं से कहा था, "सच्चा व्यापारी काम शुरू करने के पहले उसमें आनेवाले खतरों और कठिनाइयों को अधिक-से-अधिक गिनता है और होनेवाले लाभ को कम-से-कम। हिरन की शिकार करनेवाला शेर के शिकार की तैयारी रखे तो उसे पछताने के कम मौके आते हैं। वैसे ही व्यापार की बात में समझना चाहिए। व्यापारी आश्वासन देने के पहले सोच-विचार लेता है, पर आश्वासन देने पर उसे पूरा ही करता है। खादी का काम एक तरह से व्यापार का ही काम है। इसलिए व्यापारी के आवश्यक गुण कार्यकर्ता में होने ही चाहिए।"

यह बात केवल कहने के लिए नहीं कही गई थी। इसपर वह स्वयं भी अमल करते थे। ज्यों-ज्यों उनसे संपर्क बढ़ा, मैंने देखा उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं है। वे जो कुछ कहते, वैसा करने का ही उनका प्रयास रहता।

मैं जब नया-नया उनके पास आया था, तब दलीलें अधिक किया करता था। वे कहते कि महाराष्ट्र में रहकर तू अव्यावहारिक बन गया है, बिना जरूरत की दलीलें किया करता है। सेठजी बार-बार टोकते। मन को अच्छा न लगता। एक दिन मैं गंभीर होकर उनके पास गया, बोला, "काकाजी, आप बार-बार कहते हैं कि मैं अव्यावहारिक हूं, तो मुझे इजाजत दें। मैं आपके पास बोझ बनकर नहीं रहना चाहता।"

वे हँसकर बोले, "तभी तो कहता हूं कि तुम बिल्कुल अव्यावहारिक हो। क्या तुम जानते हो कि कवि भास को सुकवि बनाने के लिए उसके पिता को कितनी गलतफहमी सहनी पड़ी थी?"

आगे उन्होंने जो सुनाया, उसका सार यह था—

भास काव्य रचकर राजसभा में सुनाता। उसके काव्य की प्रशंसा होती। उसे पुरस्कार मिलता। पर जब वह पिता के पास जाकर राजसभा की बात सुनाता तो पिता उसके काव्य के दोष बताते। भास उन दोषों को दूरकर निर्दोष काव्य रचने का प्रयत्न करता। एक दिन वह एक उत्कृष्ट काव्य रचकर राजसभा में पहुंचा। काव्य सुनकर राजसभा में बड़ी प्रशंसा हुई। राजाभोज ने एक लाख मोहरें पुरस्कार में दीं। भास को विश्वास था कि आज पिताजी को संतोष होगा। खुशी-खुशी घर आया। पिता के पास पहुंचकर काव्य सुनाया। पिता ने कहा, "ठीक है तुम्हें लाख मोहरें मिलीं। यह पुरस्कार इसलिए मिला कि तुमसे बढ़कर अच्छा कोई कवि नहीं है। इस काव्य में भी दोष नहीं, ऐसी बात नहीं।" यह सुनकर भास की खुशी क्षोभ में परिवर्तित होगई। वह गुस्से में वहां से उठकर एकांत में जाकर सोचने लगा। उसे अनुभव हुआ कि बाप को उसकी कीर्ति से ईर्ष्या होती है। उसने पिता को मारने का निश्चय किया। रात के समय

वह हाथ में तलवार लेकर पिता को मारने जाने लगा। शरद पूर्णिमा थी। पिता वाटिका में बैठे भास की माता के साथ बात कर रहे थे। वह ठहर-कर बातचीत सुनने लगा।

भास की मां बोली, "आज का चन्द्र-प्रकाश कैसा निष्कलंक है!"

पिता ने कहा, "आज का चन्द्र-प्रकाश ठीक आज के भास के काव्य की तरह निष्कलंक है।"

"पर यह क्या? जब भास आपके पास आया तब तो आपने उसे काव्य के दोष ही बताए थे?" मां ने विस्मय से पूछा।

"हां, मैं जो उसके दोष बताता हूं, वे इसलिए कि वह और भी अच्छा काव्य रचे। जिस दिन मैं उसकी प्रशंसा करूंगा, उस दिन से उसका विकास रुक गया समझो। उसकी उन्नति होती रहे, इसलिए मुझे दोष बताने पड़ते हैं।"

यह घटना सुनकर सेठजी बोले, "मैं जो तुम्हारे दोष बताता हूं, वे इसलिए कि वे तुममें न रहें, तुम निर्दोष बनो। पर तुम यह समझ नहीं पाते, इसीलिए तो कहता हूं कि अव्यावहारिक हो। फिर जो अपने होते हैं, उन्हींको कहा जाता है। गुस्सा भी निकालना हो तो अपने पर ही निकाला जाता है।"

जिस दिन जमनालालजी ने देह त्यागी उस दिन की बात है। सवेरे कुटिया से घूमते हुए वह बजाजवाड़ी के अतिथिगृह में आये और बड़ी देर तक अतिथियों की सार-संभार के विषय में सूचनाएं देते रहे। पं. गोविंदवल्लभ पंत का शाल अतिथिगृह से खो गया था। जब यह बात उन्हें मालूम हुई तो बहुत दुःखी हुए। अतिथियों का सामान सुरक्षित रहे, इस विषय में अनेक सूचनाएं दीं। रहन-सहन, भोजन आदि के विषय में भी कई बातें कहीं। भोजन के विषय में कहा, "भोजन सादा, स्वास्थकर और सात्विक हो। सब चीजें ग्रामोद्योग की ही काम में लाई जायं। दूध-घी गाय का ही हो। भोजन में हरी सब्जी और मौसमी फल अवश्य होने चाहिए। दूध और छाछ भी रहें। इसमें कंजूसी न हो।"

अतिथि-सेवा की तरह उनका दूसरा प्रिय कार्य था व्यक्तिगत सुख-

दु:ख में सहायक बनना। सवेरे घूमने का समय बीमारों से मिलने और व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने में मार्ग-दर्शन करने में बीतता था। उनका मार्ग-दर्शन चाहनेवालों की संख्या हजारों की थी। हर रोज दो-चार व्यक्ति सवेरे घूमते समय साथ रहते थे। यह कार्य भी अन्त तक चलता रहा। अंतिम दिन जैसे अतिथिगृह के विषय में बात की, वैसे ही चिकित्सक से भी उनकी व्यक्तिगत समस्याओं के विषय में देर तक बातें करते रहे। चिकित्सक महोदय का इरादा सब काम छोड़कर सेवा में लगने का था। प्रश्न महत्वपूर्ण होने से गंभीरतापूर्वक काफी समय तक बात चलती रही।

उनका स्वास्थ्य कुछ ऐसा ही चल रहा था। सिर में कई दिनों से दर्द था। जानकीदेवी ने यह देखकर कहा, "आपके सिर में दर्द है, फिर कभी बात कर लेना।"

सेठजी बोले, "तुझे मेरे सिर की चिंता है! इसके तो जीवन का प्रश्न है।" और बातों में लग गए।

अतिथिगृह से जब फलाहार के लिए दूकान पर जाने लगे तो बोले, "राममनोहर लोहिया को किसीको बुलाने भेजो। कुछ सिर भारी होगया है, उसके साथ ताश खेलेंगे।"

मैंने अतिथिगृह के कार्यकर्ता से कहा, "जाओ, लोहियाजी से कहो कि सेठजी बुला रहे हैं।"

यह सुनते ही हाथ की लकड़ी हलके हाथों मारते हुए बोले, "क्यों, 'काकाजी' कहने में क्या शर्म आती है, जो सेठजी कहते हो!"

इसके कुछ ही समय बाद जो न होना था, सो होगया!

: ९१ :

उनका उपकार

चिरंजीलाल बड़जात्या

सेठ जमनालालजी का संबंध मेरे साथ करीब ३५ साल से रहा—सन् १९१५ में जब मैं गोद आया तभी से। उस समय सेठजी जेठमलजी बड़जाते फर्म के ट्रस्टी थे और उन्होंने ही मुझे जेठमलजी बड़जाते के नाम पर गोद लिया था। मैं नाजुक स्वभाव का था। भूत-प्रेत, जादू-टोने, मंत्र-तंत्र आदि पर मेरा अधिक विश्वास था और मैं डरता बहुत था। उन्होंने मेरे अन्दर से डर निकालने का प्रयत्न किया और १९२३ में नागपुर-झंडा-सत्याग्रह में जेल भेज दिया। जेल जाने से मुझमें हिम्मत आई और मेरा डरपोकपन जाता रहा।

मैं पहले मखमल व रेशम के विलायती कपड़े पहना करता था। सेठजी की प्रेरणा से मैंने विदेशी वस्त्रों को त्यागकर स्वदेशी को अपनाया और शुद्ध खादी पहनना शुरू किया।

.. .. ..

मैं पहले बहुत ही कट्टरपंथी जैन था, सेठजी की वजह से सुधारक बना और सब धर्मों को समान दृष्टि से देखने लगा। इतना ही नहीं, विधवा-विवाह, जात-पांत तोड़ना, भरण-भोज बन्द करना, पर्दा-प्रथा का उठाना, आदि-आदि समाजोपयोगी कार्यों के प्रचार में लग गया।

.. .. ..

नागपुर-कांग्रेस की स्वागत-कारिणी के सेठजी अध्यक्ष बन। तबसे मैं भी उनकी प्रेरणा से कांग्रेस-संगठन में लग गया। महात्मा गांधी के सन् १९२१ के असहयोग-आन्दोलन में सेठजी ने बहुत काम किया तथा उनकी ही आज्ञा से म भी इस काम में जुट गया।

१९२७ में मैं अमीर से गरीब बन गया। करीब एक लाख रुपये की उधारी अदालत में नालिश न करने से डूब गई। उतना ही रुपया कांग्रेस के प्रचार-कार्य में मैंने अपना निजी खर्च कर दिया। कोई एक लाख का मुझपर कर्ज होगया। मेरे मित्र, कुटुम्बी तथा अन्य संबंधी मुझे दिवालिया बनने की सलाह देने लगे, परन्तु सेठजी ने मुझे हिम्मत बंधाई और दिवालिया न बनने दिया। मेरी जायदाद बिकवाकर सबका पाई-पाई कर्ज चुकवा दिया। पच्चीस हजार रुपये अपने पास से दिये। यदि मेरा कर्ज न चुकता तो मैं सार्वजनिक सेवा के योग्य न रहता।

.. .. ..

सेठजी की प्रेरणा से १९२७ में हरिजन-आन्दोलन में कुंए और मन्दिर खुलवाने के काम में लग गया। उस समय जाति-वालों ने मुझे जात-बाहर कर दिया। मेरी मां जब मन्दिर जातीं तो समाज-वाले उन्हें टोकते और कहते कि यह ढेड़नी (चमारनी) मन्दिर में आई है। मुझे वे लोग ढड़ कहकर सम्बोधित करते। सेठजी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने मेरी मां को बहुत हिम्मत बंधाई तथा एकनाथ, सन्त ज्ञानेश्वर और तुकाराम आदि के नाटक मन्दिर में करवाकर दिखाये।

.. .. ..

सेठजी के उपकार की बात कहांतक कहूं। मैं अधिक पढ़ा-लिखा नहीं था। पच्चीस रुपये पर भी शायद ही कोई नौकर रखता। सेठजी ने मुझे सौ रुपया मासिक देकर मेरा हौसला बढ़ाया, मुझमें आत्म-विश्वास पैदा किया और व्यावहारिक कार्यों में होशियार बनाकर धीरे-धीरे इस योग्य बना दिया कि मैं अपने पैरों पर अच्छी तरह से खड़ा हो सकूं।

मेरी मां की ७५०० रुपये की सम्पत्ति का उन्होंने एक ट्रस्ट बना दिया था, जिसका मूल्य उनके जीवन-काल में ही ७५००० रुपये होगया। उसी सम्पत्ति से मेरा काम चला।

मुझमें अनेक दोष थे। सेठजी के सत्संग में आने से मेरा जीवन सुधरा।

सेठजी समय-समय पर मुझे अनेक महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए

देते रहते थे। श्री राजेन्द्रबाबू की जायदाद संभालने तथा उनके कर्ज को चुकाने की व्यवस्था करने के लिए मुझे जीरादेई तथा छपरा आदि स्थानों पर भेजा। उस समय राजेन्द्रबाबू तथा उनके भाई पर बहुत कर्ज होगया था, जो सेठजी के सहयोग से चुका।

‥ ‥ ‥

सेठजी को खेती का बड़ा शौक था। उन्होंने एक कम्पनी खोली, जिसका मुझे मैनेजिंग डाइरेक्टर बनाया। अपने स्वर्गवास के एक वर्ष पहले, जबकि सेठजी ने रेल में बैठना छोड़ दिया था, बैलगाड़ी में बैठकर दस-बारह गांवों का उन्होंने भ्रमण किया और खेती-बाड़ी और गाय-बैल आदि देखकर बहुत प्रसन्न हुए। मृत्यु के आठ दिन पहले उन्होंने मुझे बुलवाया और कहा कि तुम कमलनयन की नौकरी छोड़कर गो-सेवा के कार्य में लग जाओ। परन्तु उन्होंने साथ ही एक कड़ी शर्त लगाई और वह यह कि घर-बार के साथ मेरा कोई संबंध न रहे, मैं पैसा कमाना छोड़ दूं और जैन-मुनियों की तरह रहूं। मैं कभी हिम्मत करता तो कभी अपनी कमजोरी देखकर डर जाता। एक दिन सेठजी मेरे घर आये और दाल-बाटी की रसोई बनवाई। भोजन कर चुकने के बाद मेरी पत्नी से कहा कि तू चिरंजीलाल को मेरे सुपुर्द कर दे और हमेशा के लिए उससे संबंध छोड़ दे। मेरी धर्मपत्नी ने अपनी लाचारी बताई और माफी मांगी। उनकी वह बात हमें आज भी याद आ जाती है।

‥ ‥ ‥

सेठजी ने सत्य और अहिंसा को व्यवहार में उतारा और अपने जीवन से दूसरों पर असर डाला। मैंने हजारों साधु-सन्तों, मठों और तीर्थों क दर्शन किये हैं, परन्तु मेरा जीवन सेठजी के कारण ही सुधरा और सुखी बना। उन्हींकी प्रेरणा से मैं देश-सेवा के लिए दो बार जेल गया और अनेक सार्वजनिक कार्यों को करने का मुझे अवसर मिला। आज भी जीवन में कभी कोई गलती होने लगती है तो झट उनकी मूर्ति सामने आ खड़ी होती है और मुझे बचा लेती है।

: ९२ :

मेरे निर्माण में उनका हाथ

शांता रानीवाला

मेरे पिताजी पू. सूरजमलजी रुइया के साथ पू. जमनालालजी का बहुत घनिष्ट स्नेह-सम्बन्ध था, इसीसे मैं जमनालालजी को 'चाचाजी' कहती आई थी। उनका हमारे परिवार में सदा आना-जाना था, इससे बचपन से ही मुझे उनका परिचय और प्यार मिलने लग गया था।

उस जमाने के मारवाड़ी-समाज के रिवाज के अनुसार बहुत छोटी उम्र में ही मेरी शादी होगई थी। तब मैंने बारहवें साल में प्रवेश किया ही था। उसके दो साल बाद ही मैं दुःखग्रस्त होगई और घोर निराशा के अंधकार में घिरने लगी। उस वक्त चाचाजी ने मुझे सहारा दिया और धीरे-धीरे बहुत स्नेह और मिठास के साथ मेरे जीवन को उपयोगी बनाने का विचार जागृत करने लगे। उन्होंने एक बार मुझसे पूछा—पढ़ने का मन होता है ? मैंने 'हां' कह दिया। यह बात उन्हें अच्छी लगी और उन्होंने मेरी पढ़ाई-लिखाई और अच्छे संस्कार दिलवाने का सतत प्रयत्न किया। कभी मुझे 'वनिता विश्राम' में रक्खा, कभी बापूजी के साबरमती-आश्रम में तो कभी अपने साथ मुसाफिरी में ले गये। कांग्रेस के कितने ही महत्वपूर्ण अधिवेशन मैंने उनके साथ देखे। बहनों की अनेक संस्थाएं उनके साथ देखीं और इस प्रकार अपने जीवन को उपयोगी बनाने की भावना मेरे मन में दृढ़ होती चली गई। तब चाचाजी ने मुझे ही निमित्त बनाकर, मुझसे भी अधिक दुखी बहनों के जीवन को सार्थक बनाने के लिए वर्धा में 'महिलाश्रम' की स्थापना करवाई। इस संस्था से चाचाजी का अत्यन्त आत्मीयता का संबंध रहा। वे स्वयं सदा और देश-विदेश के अगणित महापुरुषों और अनुभवी जनों को अक्सर आश्रम में लाकर उनके सत्संग का सुयोग हमें दिलाते रहे। पू. बापूजी और विनोबाजी

का स्नेह और पथ-प्रदर्शन आश्रम को बराबर मिलता रहा है, इससे मुझे सदा बहुत सुख, संतोष और उत्साह मिला।

कोई ३०-३२ साल पहले की बात है, चाचाजी अपने पूरे परिवार के साथ गर्मियों में नासिक गये हुए थे। उन्होंने मुझे भी अपने पास बुलवा लिया था। तब भाई रामकृष्ण एकदम गोदी का बच्चा था। चाचाजी की आदत थी कि वे बच्चों के साथ उनके गुण-दोषों की चर्चा भी बड़े चाव से किया करते थे। एक बार मेरे हाथ में भी स्लेट-कलम देकर बोले कि तू भी इसपर अपने गुण-दोष लिखकर दिखा और बता कि तुझमें कौन-से गुण-दोष कम हैं और कौन-से ज्यादा। मुझे पहले तो यह बड़ा अटपटा लगा, पर फिर कोशिश करके कुछ लिख ही लिया। जहांतक मुझे याद है, उन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, आलस्य आदि का विश्लेषण करवाया था। विचार करने पर मैंने पाया कि मुझमें लोभ और मोह की मात्रा अधिक है। स्लेट के सहारे अपने चरित्र का चित्र दर्पण की तरह उस समय मेरे सामने आगया। मुझे अपनी इन कमजोरियों की ओर आकर्षित करके उन्होंने मुझे सतत प्रेरणा दी और इस घटना का मेरे मन पर आज तक प्रभाव है, जिससे पू. चाचाजी का सतत स्मरण और सहारा आज भी मुझे मिल रहा है, ऐसा महसूस होता है।

: ९३ :

सेठजी की उदारता

लक्ष्मण

सेठजी आज इस दुनिया में नहीं रहे, लेकिन उनके संबंध की बहुत-सी घटनाएं रह-रहकर याद आती हैं। एक बार रेवाड़ी स्टेशन से सेठजी भगवत्भक्ति-आश्रम गये । साथ में माताजी (जानकीदेवीजी) तथा नानूभाई आदि नौकर थे । आश्रम में गरीब मजदूर तालाब खोद रहे थे । सेठजी जाकर उनमें शामिल होगये और उन्होंने भी कुछ मिट्टी खोदकर बाहर डाली । हम लोगों ने भी खुदाई की । इसके बाद सेठजी कुंए पर गये और अपने हाथ से पानी खींचकर हम लोगों को स्नान कराने लगे । हमने कहा, "आप रहने दीजिए हम स्वयं ही पानी खींचकर नहा लेंगे ।" लेकिन वे नहीं माने । उन्होंने कहा, "आज तुम लोगों ने बहुत मेहनत की है, इसलिए मैं ही पानी निकालकर तुम्हें नहलाऊंगा ।" फिर कुछ देर चुप रहकर बोले—"गरीब घर के अन्दर जो जन्म ले और पैसेवाला बने तो पुण्य कर सकता है और वही धर्मात्मा बन सकता है । लेकिन पैसेवाले के यहां जो जन्म लेता है, वह धर्म नहीं कर सकता है ।"

.. .. ..

एक बार सेठजी कनखल गये, वहां से ऋषीकेश । माताजी ने कहा कि यहां तो ज्यादा आदमी हैं नहीं, सामान कम लाना । मैंने २५-३० आदमियों के लिए दाल-बाटी और चूरमा बनाया । सेठजी ने कहा कि आज तो सब लोग साथ खाना खायंगे । नौकर-चाकर आदि सब लोग साथ में भोजन के लिए बैठे । भोजन होगया, फिर भी काफी सामग्री बच गई । असल में हुआ क्या कि सेठजी के डर से नौकरों ने बहुत कम खाया । यदि साथ में खाने न बैठे होते तो कहीं ज्यादा खाते । सेठजी ने यह देखा तो कहा कि तीर्थ में

आकर दिल साफ हो जाना चाहिए। खाने में संकोच नहीं करना चाहिए।

.. .. ..

नागपुर-सत्याग्रह के समय की बात है। चारों ओर से सत्याग्रही आते थे। सेठजी का कहना था कि उन्हें भरपेट भोजन कराके जेल भेजा जाय। रसोई में १००-१५० आदमी भोजन करते थे। खाने-पीने में कुछ भेद-भाव हो जाता था। जब सेठजी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने कहा कि सब लोगों के लिए एक-सा ही भोजन बनना चाहिए। नतीजा यह हुआ कि अमृतसर के चावल आते थे, वे बन्द कर दिये गये। चांदी की थालियां हटा दी गईं और सब के लिए एक-सा भोजन बनने और परोसा जाने लगा।

.. .. ..

एक बार सेठजी गोहाटी गये। वहां उनका लोगों ने बड़ा ही शानदार स्वागत किया। उन्हें मानपत्र दिया गया। लौटते समय सेठजी पांच-छः सेर शहद साथ में लाये। एक नौकर ने उसमें आठ आने की चोरी कर ली। सेठजी को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने उस नौकर को बुलाकर कहा, "तुम्हें चोरी नहीं करनी चाहिए थी। अगर खर्च के लिए पैसों की आवश्यकता थी तो मांग लेते।"

.. .. ..

हम लोग वर्धा में बंगले पर रहते थे। आदत कुछ ऐसी पड़ गई थी कि छिपकर बीड़ी पीते थे, सो तो पीते ही थे, दूध भी उड़ा लिया करते थे। पांच-पांच मन पक्का दूध आता था। हम लोग करते क्या कि उसमें से एक बाल्टी दूध छिपाकर उड़ा जाते। होते-होते यह बात सेठजी को मालूम हुई। उन्होंने हमसे कहा, "चोरी करना बड़ा खराब है; बीड़ी भी नहीं पीनी चाहिए। हम तुम सबकी पांच-पांच रुपया तनखा बढ़ा देंगे। आइन्दा चोरी न करना।" इसके बाद उन्होंने हुक्म दिया कि सब नौकरों को एक-एक गिलास दूध पीने को दिया जाया करे।

.. .. ..

मैं रसोई का काम करता था। दुकान पर ..... नाम का रोकड़िया

था। उसने बाईस रुपये की चोरी की। मैंने शिकायत की तो मुनीम ने उल्टे मुझे ही निकाल दिया। मैं सेठजी के पास पहुंचा। उस समय महात्माजी, वल्लभभाई और सेठजी की मीटिंग चल रही थी। मैं सीधा वहीं पहुंचा। सेठजी नाराज हुए, बोले, "तू समय नहीं देखता, मीटिंग में नहीं आना चाहिए था।" मैं रोने लगा। महात्माजी ने कहा, "पहले इसकी बात सुन लो, मीटिंग बाद में हो जायगी।

मैंने रोते हुए सेठजी से कहा "आपके यहां चोरी होती है। मैंने शिकायत की तो मुनीमजी ने मुझे ही निकाल बाहर किया।"

मेरी बात सबने सुनी और तब एक वकील से कहा गया कि वे इस मामले की जांच करें। जांच हुई, बात ठीक निकली। मुझे सौ रुपये इनाम में मिले।

.. .. ..

बंगले पर बहुत-से मेहमान आते थे। उनकी रुचि का ध्यान रखा जाता था। सेठजी स्वयं चौके में जाकर देख लिया करते थे। वे अक्सर कहा करते थे कि मेरी खातिरदारी करने की जरूरत नहीं, घर-आये मेहमानों की खातिरदारी किया करो।

जो अधिक भोजन किया करते थे, उनपर सेठजी बहुत प्रसन्न होते थे। एक बार बनारस के तीन-चार पंडे आये। उन्हें भोजन करवाया गया। उस दिन तीस आदमियों का खाना बना था। उन्होंने सब-का-सब समाप्त कर डाला। सेठजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रत्येक पंडे को पांच-पांच रुपये दक्षिणा में दिये।

: ९४ :

पावन स्मरण

लक्ष्मीनारायण भारतीय

बंबई के के. ई. एम. अस्पताल में मैं खटिया पर पड़ा था। दो ही रोज हुए थे। आपरेशन हुआ था। भाईसाहब (दामोदरदास मूंदड़ा) की प्रतीक्षा में था। उनके आने में देर होगई थी। अतः सोच रहा था कि ऐसा क्यों हुआ। तभी वार्ड में पू. काकाजी (जमनालालजी) की भव्य मूर्ति, साथ में मदालसाबहन और भाईसाहब प्रवेश करते दिखाई दिये। कुछ और भी लोग थे। मैं हक्का-बक्का होकर उठने लगा कि वह खटिया के पास आ पहुंचे मुझे उठने से रोका और बड़े ही स्नेह से तबीयत का हाल पूछा। मैं अभिभूत हो उठा। वह अचानक आये थे और जिस आत्मीयता से उन्होंने मेरे साथ व्यवहार किया, वह निस्संदेह हृदय पर गहरा प्रभाव डालनेवाला था।

पोहरी (ग्वालियर) और देवघर (संथाल परगना) में काकाजी ने मुझे पढ़ने के लिए भेजा। मेरे जाने के बाद कभी भाईसाहब के द्वारा, कभी स्वयं लिखकर बराबर समाचार पूछते और अपनी अनुभवी सीखों से अनुप्राणित करते। परीक्षा के समय या बाद में उन्होंने लिखा—"ये परीक्षाएं तो बहुत छोटी हैं, जीवन में आगे तुम्हें बहुत बड़ी परीक्षाएं देनी होंगी, जिसकी तैयारी तुम्हें कर लेनी चाहिए।"

दूसरे आपरेशन के समय मैं कुछ चिंता-ग्रस्त था। उन्होंने लिखा, "पहले स्वास्थ्य सुधार लो। आगे जिन्दगी पड़ी है, काम करने के लिए।"

पढ़ाई समाप्त होते-होते लिखा—"जीवन में स्वावलंबन अत्यंत आवश्यक है। तुमको अपने पैरों खड़े होने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।"

वे चाहते थे कि मैं व्यापार में पड़ूं, ताकि भाईसाहब मुक्तमन से हर क्षण

सेवा में लग सकें। पर जब मेरी तैयारी उसके लिए नहीं देखी तो सेवा के, खासकर हिन्दी के काम के लिए, उन्होंने निरंतर प्रेरित किया।

हैदराबाद-सत्याग्रह के समय मुझे नागपुर-दफ्तर को संभालने की जिम्मेदारी दी गई। बुलेटिन आदि का काम करते-करते मैं उकता गया और मैंने चाहा कि मुझे प्रत्यक्ष क्षेत्र में भेजा जाय। शायद भाईसाहब ने उनसे कहा हो। काकाजी ने मुझे बुलाकर कहा, "जैसा क्षेत्र में जाकर काम करना महत्वपूर्ण है, दफ्तर में रहकर काम करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है और अभी मौका समाप्त थोड़े ही होनेवाला है? बाद में चले जाना।"

उनकी प्रेरणा से मैं फिर उसी काम में लगा रहा। बाद में सांप्रदायिक तत्वों के घुस आने से सत्याग्रह स्थगित कर देना पड़ा और मौका मिला ही नहीं; पर काकाजी की ही प्रेरणा थी, जिसने मुझे दुखी नहीं बनाया। इसके लिए फिर छोटे नहीं, बड़े क्षेत्र में उनका आश्वासन काम आया!

छोटी-छोटी बातों में भी वे बड़ी सूक्ष्मता से व्यवहार-ज्ञान सिखाते रहते थे। एक समय भाईसाहब ने पत्र लिखा और दस्तखत के लिए उनके पास रखा। उसमें एक वाक्य ऐसा था कि उससे पत्र-व्यवहार और बढ़ता। काकाजी ने वह अंश काट दिया और उसी समय उनसे कहा, "उनके पत्र का उत्तर तो हमने दे दिया है। लेकिन इस अंश के रखने से फिर पत्र-व्यवहार बढ़ाने के लिए हम कारण दे देते हैं। गैरजरूरी चीज नहीं होनी चाहिए।"

एक बार महिलाश्रम में एक व्याख्यान में उन्होंने बताया, "व्यापारी-वृत्ति कैसी होनी चाहिए।" हमने सोचा—यहां लड़कियों के शिक्षण में व्यापार की बातों का क्या प्रयोजन? लेकिन उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से बताया कि किस तरह व्यावहारिकता की सिखावन जीवन में काम आती है। मुझे तबका उनका एक वाक्य आज भी याद है—

"व्यापारी हमेशा बुरे-से-बुरे घटना-क्रम के लिए तैयार रहता है, परंतु उम्मीद वह अच्छे-से-अच्छे घटना-क्रम के लिए रखता है। इसी तरह हमें हर व्यवहार में, परिणाम कैसा भी हो, उसके लिए तैयारी रखनी चाहिए और आशा व प्रयत्न अच्छे का ही करना चाहिए।"

: ९५ :

अनाथ हो गया !

मार्तण्ड उपाध्याय

आज से कोई बत्तीस बरस पहले की बात है, जब पहले-पहल जमनालाल-जी को देखा था। मेरी उम्र तब पंद्रह बरस की रही होगी। मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के अधिवेशन में भाग लेने वे इन्दौर आये थे। कोई दो-ढाई बरस पहले ही भाईसाहब 'हिन्दी नवजीवन' में काम करने चले गये। भाईसाहब ने चिट्ठी लिखकर हमें सूचित किया था कि सेठ श्री जमनालालजी बजाज इन्दौर आ रहे हैं। उनसे मिलने का प्रयत्न करना। भाईसाहब ने बता रखा था कि सेठजी की प्रेरणा से महात्माजी ने 'हिन्दी नवजीवन' निकाला था। बहुत बड़े और पैसेवाले आदमी हैं और गांधीजी के आन्दोलन के बहुत बड़े सहायक हैं। वह असहयोग का जमाना था। सरकार का आतंक था। इन्दौर एक देशी रियासत थी। अतः उनसे कैसे और कहां मिला जाय, यह कुछ समझ में नहीं आ रहा था। तभी एक दिन घर का पता खोजता हुआ अग्रवाल महा-सभा का एक स्वयंसेवक आया और कह गया कि जमनालालजी बजाज ने हरिभाऊजी के पिताजी और छोटे भाई को मिलने बुलाया है। पिताजी शायद बाहर गये थे। मैं अपने एक पड़ौसी को साथ लेकर बताये हुए स्थान पर मिलने गया। किसी बड़े आदमी से मिलने का मेरा यह पहला ही मौका था। अंदर से मन में धुकधुकी हो रही थी कि कैसे मिलेंगे—कैसे बात करेंगे ? कहीं बोलने में—अदब-कायदे में—गलती होगई तो वे क्या कहेंगे ? और भाईसाहब को किसी गलती का पता चल गया तो बहुत डांटेंगे। इसी असमंजस में उनके निवास-स्थान पर पहुंचा।

सुबह के कोई आठ-नौ बजे का समय होगा। बरामदे में वे एक चटाई

पर पलथी मारे बैठे थे और अपने हाथ से डाढ़ी बना रहे थे। गौर वर्ण, लंबा-तगड़ा डील-डौल, खादी की मोटी धोती और कुरता पहने। सूचना भिजवाई गई तो फौरन उन्होंने अपने पास बुला लिया। मैंने बड़े अदब और कायदे से झुककर सलाम किया। रियासती स्कूल में बड़े-बड़े सरकारी अफसरों से इसी तरह सलाम करते देखा था। सोचा, बड़े आदमी हैं, इसी तरह सलाम करना ठीक रहेगा। उन्होंने देखा, मुस्कराकर पास बुलाया और सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। पूछा—

"तुम हरिभाऊजी के भाई हो ?"

"जीहां।"

"कौन-सी क्लास में पढ़ते हो ?"

"आठवीं की परीक्षा इसी गरमी में दूंगा।"

"कहांतक पढ़ने का इरादा है ?"

"बी. ए. करूंगा।"

"उसके बाद ?"

"आगे क्या करने का विचार है ?"

"मैंने तो कुछ सोचा नहीं है। भाईसाहब जानें।"

"सरकारी स्कूल में पढ़ना अच्छा लगता है ?"

इस प्रकार कोई दस-पंद्रह मिनट तक वे बातें करते रहे। कईएक बातें पूछीं—घर की, स्वास्थ्य की, खर्चे की, मकान की, आदि-आदि। लेकिन उनकी बातचीत, उनके व्यवहार में इतनी आत्मीयता और घरेलूपन था कि यह मालूम ही नहीं पड़ रहा था कि किसी बहुत बड़े आदमी से बात कर रहा हूं। मेरा डर भाग गया। ऐसा लगने लगा, मानों वह कोई अपने घर के ही बुजुर्ग हैं।

.. ..

इसके बाद ही मेरी सरकारी स्कूल की पढ़ाई खत्म होगई और साबर-

मती-आश्रम में भाईसाहब के पास पढ़ने और रहने चला गया। वहां दूर से उन्हें कई बार देखा, लेकिन फिर भी अधिक संपर्क नहीं आया। बाद में जब भाईसाहब खादी व रचनात्मक कार्य करने अजमेर चले गये तब कुछ संपर्क आया। अक्सर वे जब वर्धा से आते तो अपने बंगले पर मिलने बुला लेते। बातचीत करते, पढ़ाई-लिखाई के हाल पूछते, तकलीफ या कोई कमी-जरूरत तो नहीं है, यह पूछते।

एक बार पूरा हुलिया बताकर श्री हीरालालजी शास्त्री को लेने के लिए अहमदाबाद स्टेशन भेजा। बिना किसी गलती के ठीक से उनको लेकर आश्रम आगया तो पीठ ठोंककर शाबासी दी और कहा कि तुम ठीक काम करते हो।

लेकिन इसके बाद ही उनके एक दूसरे रूप के दर्शन हुए।

नए सत्र के प्रारंभ में आश्रम के विद्यार्थियों के खेलों आदि के प्रदर्शन हो रहे थे। महात्माजी के साथ वे भी खेल देखने आये। मैं 'पोल जंप'—बांस के सहारे ऊंची कूद—में भाग ले रहा था। खेल खत्म होने पर उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और बोले—"तुम्हारी आंखें कमजोर मालूम होती हैं। जाकर डाक्टर को दिखा आओ।" यह कहकर उन्होंने अपने हाथ से डा. देसाई के नाम पत्र लिखकर दे दिया। मैं जाकर आंख दिखा आया। डाक्टर ने आंखें काफी कमजोर बताईं और चश्मा लेने को कहा। दूसरे दिन चश्मा लेने जाने लगा तो मेरे एक सहपाठी ने, जो जमनालालजी का रिश्तेदार भी था, मुझसे कहा कि आंख तो मेरी भी खराब है। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलकर दिखा आता हूं। मैं उसे साथ ले गया और डाक्टर से उसका परिचय करा दिया। आंख दिखाकर तथा चश्मा लेकर दोनों चले आये। चश्मे के मेरे जितने दाम उस सहपाठी ने भी दिये।

तीन-चार दिन के बाद हम दोनों को जमनालालजी ने बुलाया। सदा के-जैसा उनका चेहरा प्रसन्न नहीं दीख रहा था। मैं ठिठका। कुछ डर-सा लगा। आते ही पूछा—"तुम गुलाब (साथी का नाम यही था) को लेकर डाक्टर के यहां आंख दिखाने गये थे?"

"जीहां।"

"किसके कहने से तुम उसे ले गये ?"

"गुलाबभाई ने कहा कि मेरी आंख भी खराब है, तो चलकर दिखा आते हैं।"

"यह तो ठीक, लेकिन डाक्टर को आंख दिखाने की फीस क्या दी ?"

"जी, आपने चिट्ठी दी थी, सो उन्होंने फीस नहीं ली।"

"चिट्ठी तो मैंने तुम्हारे लिए दी थी। गुलाब के लिए थोड़े दी थी ! गुलाब ने आंख दिखाई तो उसकी फीस तो देनी चाहिए थी !"

"मैंने गुलाबभाई का परिचय दिया, तो डाक्टर ने फीस मांगी ही नहीं।"

"यह दूसरी गलती है। तब तो डाक्टर को पैसा देना और जरूरी हो जाता है। तुम मेरे नाम का उपयोग किसी गरीब विद्यार्थी के लिए कर लेते तो भी कोई बात नहीं थी। गुलाब तो वैसे भी फीस के पैसे दे सकता है। और मेरा संबंध आ जाने पर तो और भी देना जरूरी हो जाता है। गुलाब को या मुझे बिना फीस दिये डाक्टर से काम लेने का क्या हक है ? तुमने यह नहीं सोचा ?" झिड़की-भरे स्वर में उन्होंने पूछा।

"मैंने इतना ज्यादा नहीं सोचा था।" मैंने डरते-डरते जवाब दिया, बल्कि मुझे रुलाई-सी आगई। मुझे उदास देखकर उन्होंने अपने पास बैठा लिया और बातचीत का विषय बदल दिया। कुछ नाश्ता करवाया और फिर जाने दिया।

उनकी लताड़ और प्यार का यह पहला अनुभव था। कई दिनों तक मन में बड़ी बेचैनी रही।

इसके बाद बहुत दिन बीत गये। अधिक संपर्क का मौका जल्दी नहीं आया, यों मालूम होता रहता था कि वह मेरी पढ़ाई-लिखाई में दिलचस्पी लेते रहते हैं।

इन्हीं दिनों (सन् १९२५ में) श्री जमनालालजी की प्रेरणा से अजमेर में 'सस्ता साहित्य मंडल' की स्थापना हो चुकी थी। उसके संचालन का काम

भाईसाहब के जिम्मे रहा था। अजमेर में रहते हुए मैं 'मंडल' की किताबों की तैयारी और छपाई में दिलचस्पी लेने लगा। अजमेर की जलवायु अनुकूल होने के कारण मैं अजमेर में ही भाई सा० के साथ रहकर निजी तौर पर अपनी पढ़ाई करने लगा था। जमनालालजी बीच-बीच में अजमेर आते, 'मंडल' का काम-काज देखते और मुझे भी पढ़ने और समय निकालकर 'मंडल' के काम में दिलचस्पी लेने को ललचाते रहते।

इसी बीच धूमधाम के साथ 'मंडल' से 'त्यागभूमि' मासिक पत्रिका निकली, जिसे पंडित जवाहरलालजी नेहरू ने 'हिन्दी की सबसे अच्छी पत्रिका' बताया। मैं पढ़ता था और 'मंडल' की पुस्तकों की छपाई, पत्रिका के विज्ञापन-प्रचार तथा पुस्तकों के प्रूफ देखने आदि में अपना समय देता रहता था।

.. .. ..

फिर सन् १९३० का आंदोलन आया। सब लोग जेल चले गये। अजमेर में सरकारी आतंक और दमन अधिक था। 'मंडल' के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं के व संचालकों के जेल चले जाने के कारण उसका काम मुझे देखने को कहा गया। इतनी बड़ी जिम्मेदारी के योग्य तो मैं उस समय नहीं था, लेकिन परिस्थिति और जिम्मेदारी सबको योग्य बना देती है। सन् १९३० के अंत में ऐसी स्थिति आगई कि 'मंडल' के मामले में जमनालालजी से सलाह लेना जरूरी होगया। वे नासिक-जेल में थे। श्री जाजूजी व श्री केशवदेवजी नेवटिया के साथ मैंने नासिक-जेल में उनके दर्शन किये। वहां और सब तो उनसे बातों में लग गये, मैं पीछे चुपचाप खड़ा होगया। उन सबको मेरी अपेक्षा और बहुत जरूरी बातें करनी थीं। पर एकदम उनकी ओर से ध्यान हटाकर जमनालालजी ने मुझे आगे बुलाया। अजमेर के सब लोगों के हाल-चाल और आने का कारण पूछा। मैं अपने प्रश्न पहले से ही लिखकर ले गया था। कागज मैंने उनके हाथ में रख दिये। वे बोले—"यह तूने अच्छा किया। अपना और मेरा दोनों का वक्त बचा लिया। ऐसा लगता है, तू अब काम सीखने लगा है। अच्छी तरह मन लगाकर काम करना।

सबको वन्दे कहना। तेरे सवालों के जवाब में लिखकर भिजवा दूंगा।"

इतने बड़े लोगों की चल रही चर्चा के बीच में मुझे बुलाकर इतनी बात-चीत उन्होंने कर ली। मैं उनके समय के महत्व को और लोगों के काम के महत्व को भली प्रकार जानता था। श्री केशवदेवजी ने कह दिया था कि हमें बातें बहुत ज्यादा करनी हैं। तुम इस तैयारी से आना कि समय न मिले तो बिना मिले ही लौटना पड़ेगा। सो मैं तो निराश वापस लौटने को तैयार था, लेकिन उन्होंने अकल्पित रूप से जिस प्रकार बातें कर लीं उससे मैं बहुत ही प्रभावित हुआ।

.. .. ..

इसके बाद दो-तीन साल और बीत गये। सन् १९३४ में 'मंडल' के दिल्ली स्थानांतरित होने का प्रश्न उपस्थित हुआ। इसी सिलसिले में यह बात सामने आई कि 'मंडल' के कार्य में अपना जीवन देनेवाला कोई आदमी तैयार हो तभी स्थानांतरित करना ठीक होगा। पारिवारिक तथा अन्य कठिनाइयों के कारण दिल्ली जाने को मेरा मन नहीं हो रहा था। मैंने अपनी उलझन भाईजी (अब जमनालालजी को सब इसी नाम से पुकारने लगे थे) के सामने रखी। उन्होंने लिखा :

"मंडल के लिए एक ऐसे सेवक की, जो अपना सारा जीवन उसमें लगा दे, आवश्यकता तो है ही। यदि तुम्हें यह काम पसंद हो और तुम्हें इस काम में उत्साह भी हो और तुम यह निश्चय कर लो कि अपना जीवन इसमें लगा दोगे तो मुझे तो पूरा संतोष होगा। तुम 'मंडल' द्वारा भी देश और समाज की काफी सेवा कर सकते हो। इसमें मुझे कोई शंका नहीं है।

इस प्रकार उनका उत्साह व लालच दिलाना व्यर्थ नहीं गया। मैं एक बरस के लिए दिल्ली आया, लेकिन फिर दिल्ली का ही होगया।

.. .. ..

मैं 'मंडल' के काम से कलकत्ते गया हुआ था। जमनालालजी भी अपने कान का इलाज कराने वहां गये हुए थे। मुझे मालूम हुआ था कि वे वहां हैं, पर संकोच के मारे उनसे मिलने नहीं गया। लेकिन उनको पता चल गया तो

जहां वे ठहरते थे वहां बुलाया। दो दिन अपने साथ ठहराया। घर के, मंडल के, परिवार के हालचाल पूछे। शाम को अपनी डाक लिखाने व निपटाने को बैठाया। कोई दो घंटे उनके सेक्रेटरी का काम किया। मन में डर बना रहा कि चिट्ठी में कोई गलत बात न लिख जाऊं। एक-एक पत्र वे मुझे देते और संक्षेप में बता देते कि यह उत्तर देना है। मैंने बहुत डरते-डरते सारे पत्र लिखे। तीन-चार पत्रों में उन्होंने सुधार किये। एक-दो जगह भाषा व भावों की गलतियां बताईं। उस रोज रात को अपनी डायरी में उन्होंने लिखा—"आज मार्तण्ड आया। उसे पत्र लिखाये। ठीक लिखता है।"

ऐसी थी उनकी काम सिखाने की पद्धति।

जब दिल्ली आते तो पिताजी को व मुझे मिलने बुलाते, घर-गिरिस्ती के हालचाल पूछते—"कहां रहते हो ? मकान कैसा है ? कितना मिलता है ? खर्च चल जाता है ? कुछ बचाते हो ? कर्ज तो नहीं है ?"

थोड़ा ही समय इन बातों में लगता। लेकिन मिलने के बाद यह अनुभव होता कि एक सरपरस्त हमारी फिक्र करने को है। अपना काम तो कर्तव्य करना है। खोज-खबर लेनेवाले भाईजी मौजूद हैं। तब घर-गिरिस्ती की चिंता क्या करनी ?

... ...

एक बार की बात है। मैं वर्धा गया था। अपने बारे में उनसे जरूरी बातें करनी थीं, लेकिन उनके कान में दर्द था। महात्माजी ने उनको इलाज के लिए बंबई जाने को कहा और वे गाड़ी में बैठकर स्टेशन रवाना हो रहे थे। मैं मिलने पहुंचा तो बस नमस्कार ही कर पाया।

मैं समझा कि अब तो भाईजी के बंबई से लौटने पर ही उनसे बातें हो सकेंगी, लेकिन तीसरे दिन ही बंबई से उनका पत्र मिला। लिखा था—"तेरे बारे में मैंने दिल्ली में पारसनाथजी से बातें कर ली हैं। काम तेरे को खूब मन लगाकर करना ही पड़ेगा। तेरे काम से उनको संतोष मालूम हुआ।"

इससे मेरा पूरा समाधान तो नहीं हुआ, पर इतनी जल्दी, इतने जरूरी काम और बीमारी के समय भी एक छोटे-से कार्यकर्ता के दुःख-दर्द और घरू

बातों का उनको कितना खयाल रहता था, इसका यह नमूना है।

. . . . . .

इस प्रकार जब कभी किसी काम में उनकी मदद की जरूरत होती तो उनको लिख देता या मिलने पर कहता तो तुरंत उस काम को करते। 'मंडल' से 'कांग्रेस का इतिहास' को हिन्दी में प्रकाशित कराने के लिए पूज्य राजेंद्र-बाबू से उन्होंने मेरा परिचय कराया। पंडित जवाहरलालजी की 'मेरी कहानी' मंडल से प्रकाशित करने के लिए उन्होंने पंडितजी से मिलाया। श्री नेताजी सुभाष बोस की आत्मकथा के बारे में भी उनसे उन्होंने बातचीत चलाई थी। उसके बाद एक पत्र में उन्होंने लिखा—

"श्री सुभाषबाबू से वर्धा में बातें हुई थीं। अभी तक आत्मकथा वे पूरी लिख नहीं पाये हैं। हिन्दी के लिए वे 'सस्ता साहित्य मंडल' का ध्यान रखेंगे। तुम अब इस संबंध में उनको सीधे लिख सकते हो।"

अंतिम दिनों में वे सारी सार्वजनिक संस्थाओं से अलग होगये थे। मुझे उनकी इस मानसिक वृत्ति का पता नहीं था। मैं 'मंडल' के ही अपने काम में लगा रहता था। वही मेरी छोटी-सी दुनिया थी। उन्होंने 'मंडल' का कार्यालय दिल्ली से वर्धा लाने का सुझाव दिया। मैंने कई कारणों से उसका विरोध किया। उसके बाद ही 'मंडल' से भी उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। मैंने समझा कि उन्होंने मेरे विरोध से असंतुष्ट होकर त्यागपत्र दिया है। मैंने उनको लिखा कि इस वजह से आपको त्यागपत्र नहीं देना चाहिए। मैं वर्धा आने को तैयार हूं। लेकिन उन्होंने लिखा—

"मेरे त्यागपत्र का तुमने जो मतलब निकाला, वह बिल्कुल गलत है। वर्तमान हालत में 'मंडल' का कार्यालय दिल्ली से वर्धा लाने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मैं इस बात को पसंद भी नहीं करता। 'मंडल' का कुल काम जब वहांपर सुचारु रूप से चल रहा है, तब उसको वहां से हटाकर और जगह स्थापित करना उचित नहीं होगा। मेरा नाम 'मंडल' में नहीं भी रहे तो भी तुम समय-समय पर जैसे वर्तमान में पूछते रहते हो वैसे पूछ सकते हो।

मुझे अपनी भूल का बड़ा पछतावा रहा कि उनके मन को मैंने गलत समझा।"

• • • • • •

इस प्रकार बराबर उनसे उत्साह और प्रोत्साहन मिलता रहा। उन्होंने यह महसूस नहीं होने दिया कि वे स्वयं तो बहुत बड़े और बुजुर्ग हैं और मैं एक छोटा-सा कार्यकर्त्ता हूं। अपने बड़े परिवार का एक सदस्य मानकर उसी प्रकार काम सिखाते और आगे बढ़ाते गये। मिलने पर भी और पत्रों में भी कामकाज की छोटी-छोटी-सी बात पर ध्यान रखते, गलतियां बताते और सुधरवाते। मन में यह निश्चितता रहती कि गलतियां सुधारनेवाली, रास्ता दिखानेवाली, दुःख-दर्द सुननेवाली और उनको दूर करनेवाली एक हस्ती मौजूद है।

११ फरवरी को दफ्तर में काम कर रहा था। 'हिन्दुस्तान' अखबार से श्रीशंकरलालजी वर्मा आये और बोले, "टैलीप्रिंटर पर खबर आई है कि जमनालालजी का देहांत होगया।"

सुनकर बड़ा धक्का लगा। थोड़ी देर तक तो समझ में नहीं आया कि क्या होगया। वे बीमार नहीं थे। अचानक ऐसा कैसे होगया ? जब कुछ समय बीता तो पहला खयाल मन में यह आया—"भाईजी के चले जाने से अब मेरी और मेरे काम की ऐसी खैर-खबर कौन लेगा ? दुःख-दर्द की कौन पूछेगा ? मैं तो अनाथ होगया !"

और पंद्रह बरस बाद आज भी वही विचार मन में रह-रहकर उठते रहते हैं।

: १६ :

चलते-फिरते विश्व-विद्यालय

मदालसा अग्रवाल

हम भाई-बहन छोटे थे। एक बार मामाजी ने बहुत आग्रह से हमारे लिए जरी-मखमल के खूब बढ़िया-बढ़िया कपड़े बनवाये। जिन्हें देख-पहनकर हम बड़े खुश होने लगे। कुछ ही दिनों बाद वर्धा के गांधी चौक में विदेशी वस्त्रों की होली का बड़ा भारी आयोजन हुआ।

पू. काकाजी के स्वदेश-हित के विचारों से उस समय पहली बार मां ने हमें परिचित कराया, ऐसी याद आती है। तब काकाजी तो घर पर थे नहीं। महात्मा गांधीजी को साथ लेकर आनेवाले थे शायद। और उनके आने के पहले घर से विदेशी वस्त्रों की जड़-मूल से सफाई हो जाने की मां ने कोशिश की। न जाने किस प्रकार क्या-क्या बातें समझाकर हम बच्चों को भी अपने बढ़िया नए-नए कपड़े उतारकर, ढूंढ़कर 'होली' में होम देने को मां ने हमें इतना उत्साहित कर दिया कि विदेशी वस्त्रों की जलती हुई गगनचुम्बी ज्वालाओं को देखना ही मानों हमारे लिए बड़े आनन्द-मंगल का अवसर बन गया। पू. काकाजी का प्रथम प्रभाव पू. मां की 'निष्ठा' के द्वारा हमें प्राप्त हुआ। 'काकाजी' याने अपने देश की भलाई का विचार करनेवाले कोई बहुत भले बड़े आदमी हों, ऐसा उनका परिचय मन में प्रतिष्ठित होता गया। तबसे सदा काकाजी को को हमने 'चलता मुसाफिर ही पाता है मंजिल और मुकाम रे'... के रूप में ही क्रमशः अधिक पहचाना।

काकाजी बच्चों को बहुत प्यार करते थे। बौद्धिक व्यायाम के कई खेल हमारे साथ खेलते थे। परिवार के सब लोगों के गुण-दोषों के लिए कई बार बच्चों से भी अलग-अलग मार्क लगवाया करते थे।

काकाजी के साथ रेलगाड़ी में मुसाफिरी करना हमें खूब अच्छा लगता

था। उस वक्त थर्ड क्लास के लम्बे डिब्बों में सामान्य जनों के साथ अपनी मां, काकाजी, भाई-बहन, मेहमान, मंत्री, सेवक आदि सबको अनेक घंटों तक एकसाथ खाते-पीते हँसते-खेलते, सोते-बैठते, और बातचीत करते देखकर बड़ा ही आनन्द आता था, मानों सारे देश और दुनिया का राज ही हमें मिल जाता था। जब काकाजी घर पर होते तब तो मां भी हमें उनके साथ ज्यादा बोलने-बैठने नहीं देती थीं। कहतीं कि उनको काम करने दो, आराम करने दो, उनका समय न बिगाड़ो, तंग न करो, आदि आदि, पर सफर में वे भी ज्यादा रोकती-टोकती न थीं। बल्कि हमें काकाजी के साथ खेलते-बोलते देखकर उन्हें भी मन-ही-मन बहुत सुख-संतोष मिलता होगा !

काकाजी के साथ सफर में हमें बहुत-सी जीवनोपयोगी बातें सीखने-देखने को मिल जाया करती थीं। नए-नए मुसाफिरों से कैसे बात करना, परिचय करना, सबके साथ पारिवारिक रूप से घुल-मिलकर कैसे खेलना, जाना, अदब रखना, थोड़ी-सी जगह में सामान कैसे लगाना, ये सब बातें वे हमें समझाते थे। दिन-रात सतत मुश्किल-भरी थर्ड क्लास की मुसाफिरी करते हुए भी सफाई का काकाजी बहुत ध्यान रखते थे। हाथ धोने तथा बरतन साफ करने के लिए रेलवे के नियमों का कठोरता से पालन करते और करवाते थे। रेलवे अधिकारियों से भी पालन करवाने की सावधानी रखते थे। कहीं कोई अन्याय होते देखते तो तुरन्त सावधान हो जाते और सांकल खींचना, या स्टेशन-मास्टर से कुछ कहना, या केन्द्रीय विभाग से कुछ लिखा-पढ़ी करनी होती तो तत्काल कार्रवाई करते या करवाते थे।

टाइम टेबल देखना, कुली तथा टिकट आदि के नम्बर नोट करना, आदि कितनी ही बातें काकाजी हमसे करवाया करते थे। कोई मधुर कंठ से गानेवाला, छोटी-सी बीन या सितार बजाकर गीत सुनानेवाला बालक या वृद्ध दीख पड़ता तो बड़े प्रेम से उसे पास बुलाकर बिठा लेते थे, उसके गीत हमें सुनवाते, उसका सुख-दुख खुद सुनते और फिर उसके सच्चे शुभ-चिन्तक या पथदर्शक बनकर उसे जो कुछ सलाह या सहायता देनी होती, सो चुपचाप दे दिया करते थे। उसका नाम-पता नोट करना होता तो कर लेते थे।

गर्मियों में अक्सर कहीं ठंडे पहाड़ों पर या समुद्र-किनारों पर जाया करते, तब परिवार और सुपरिचितों में से काफी छोटे-बड़े साथी-मित्रों को साथ ले लिया करते थे। हँसी-खुशी की मुसाफिरी पूरी कर, मुकाम पर पहुँचते ही, सबके ठहरने-रहने का बन्दोबस्त करवाकर स्वयं हाथ में लाठी थामकर, कभी किसीको साथ लेकर, या अकेले ही 'पूछताछ' करने निकल पड़ते थे। सबसे पहले पोस्ट आफिस का पता लगाते, तार-चिट्ठी और अखबारों के आने-जाने का समय जान लेते। दूधवालों के घर जाकर ग्वालों की और गायों की पहचान कर लेते। घोड़ेवाला, फलवाला कौन अच्छा ईमानदार है, यह पता लगाते, सब्जी का बाजार देखने जाते, भाव पूछ-पूछकर नमूने की सब्जियां खरीदवा लाते। नाज-पात की दूकान और दूकानदारों से पहचान कर लेते। किराये के मकान देख लेने के बाद बिकाऊ जमीन और बंगलों को देखना और उनकी उपयोगिता को सोचना काकाजी को बहुत पसंद था। इसीलिए शायद हमें हर साल नई-नई जगह जाने-देखने का सुअवसर सदा मिलता रहा।

आबू, शिमला, नैनीताल, भुवाली, अल्मोड़ा, सिंहगढ़, चिंचवड़, पूना, चिकल्दा, जुहु, वर्सोवा आदि स्थानों में काकाजी के साथ गर्मियों के दिनों में रहने और नित-नए कार्यक्रम जमाने के संस्मरण मन को सदा बहुत प्रसन्नता और प्रोत्साहन देते रहते हैं।

काकाजी के जीवन का अधिकांश समय समूचे देश में बार-बार भ्रमण करते हुए ही बीता। सफर से लौटकर आने के समान ही घर से काकाजी का जाना भी हम बच्चों के लिए आनंद और उत्कंठा का विषय होता था, क्योंकि 'अब आ तो गये ही हैं, वह बात तो पूरी होगई, उनका प्यार, आशीर्वाद, जानकारी जो मिलनी थी वह तो मिल ही चुकी है, अब तो दो-चार दिन में फिर, कहां जावेंगे, कब जावेंगे, वह कैसी जगह होगी, वहां क्या होगा, वहां से या तो पत्र लिखेंगे, या फिर कब आवेंगे', ऐसी अनेक उत्कंठाएं काकाजी के जाने के साथ जुड़ी हुई होती थीं। इसलिए काकाजी के आते ही हम पूछने लग जाते थे कि अब आप कब जावेंगे, कहां जावेंगे आदि। इस तरह नित-नए अनुभवों की कल्पना का आनंद हम लेने लगते थे और काकाजी

के साथ मुसाफिरी करने की आतुरता मन में जुड़ती जाती थी।

सन् १९३४-३५ की बात है। पू० कमला नेहरू भुवाली में स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए गई हुई थीं। पू० पंडितजी उस समय अल्मोड़ा-जेल में थे। पू० काकाजी के साथ उन दिनों हम सबको भुवाली जाकर रहने का मौका मिला। पू० पंतजी का घर देखा। नौकुचिया ताल तक जाकर आये, खूब सैर हुई। वहां से अल्मोड़ा करीब ८०-८५ मील होगा। काकाजी ने पैदल जाना तय किया । २०-२५ लोगों का संघ जुड़ गया । श्री काटजूसाहब, श्री रामनरेशजी त्रिपाठी, श्री सुशीला नैयर आदि भी टोली में थे। सोने, खाने, खेलने आदि का आवश्यक सामान साथ था। घोड़े-खच्चर आदि का प्रबंध किया हुआ था।

हिमालय की घटादार घाटियों के हरे-भरे वनों में से छायादार पथों पर उतरते-चढ़ते, दौड़ते-बैठते, चलना-खेलना बहुत याद आता है। काकाजी एक हाथ में लाठी थामे आहिस्ते-आहिस्ते सुदृढ़ गति से सदा एक-सी चाल चला करते थे, पर हम शरारती बच्चों को इतना धीरज कहां ? हम सोचते-चलो, दौड़कर आगे निकल जायं; फिर कहीं पेड़ों की छांह में बैठकर कुछ खेलेंगे, पढ़ेंगे या सुन्दर सुहावने झरने के किनारे पानी में पैर लटकाकर बैठेंगे और मजे से गप्प लड़ायंगे, या कुछ शरारत करने की सोचेंगे। यों योजना बनाकर हम आगे चल पड़ते। रास्ते में तरह-तरह के छोटे-बड़े घाट-घाटी के पेड़ों के साथ लुकते-छिपते, आंख-मिचौनी खेलते, आगे बढ़ते जाने में हमारा बड़ा ही मन-बहलाव होता था। कभी बुजुर्गों के आगे, कभी पीछे, कभी छिपकर, कभी शर्त्त लगाकर चलने चलाने में ऐसा मन लगता, मानों दिनभर के लिए सारे जंगल का राज ही हमें मिल गया हो। पर शाम को जब मुकाम पर पहुंचते तो मालूम होता कि काकाजी सबसे पहले वहां पहुंच चुके हैं और एक-एक बालक, युवक, सेवक और साथियों की आराम से राह देख रहे हैं। यह देखकर मन-ही-मन हम बड़े शर्मिन्दा होते। रोम-रोम में समाई हुई भूख में जो कुछ खाने-पीने को मिल जाता, खा-पीकर बुजुर्गों से कविता, कथा, कहानी सुनते-सुनते नींद की गोद में मस्त होकर सो जाया करते थे।

इस तरह काकाजी के साथ किसी भी प्रकार की यात्रा करना याने मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास का एक चलता-फिरता विश्वविद्यालय ही होता था, जहां पृथ्वी और आकाश के बीच फैली हुई प्रकृति की गोद में, फूलते-फलते हुए मानव-जीवन के सौंदर्य का आनंद लूटने को हमें मिलता था।

काकाजी का गृह-जीवन तो मानों एक नित-नए अतिथि-सत्कार की सुखद प्रयोगशाला की हुआ करती थी, जहां देशहित के विविध विचार, प्रचार, योजना आदि की चर्चाएं और देशव्यापी कार्यक्रमों की मनोहर मालाएं गूंथी जाती थीं और मानव-मंदिर की सजावट के साधन जुटाये जाते थे। गंगा-जमना के पावन तट पर प्रतिष्ठित प्रयाग के प्रसिद्ध पुनीत संगम की तरह गांधी-जमनालाल के स्नेहमय संगम के पवित्र मनोहर संस्मरण आज 'गांधी-ज्ञान-मंदिर' के रूप में वर्धा के बजाजवाड़ी के बंगले (विश्व के अतिथिगृह) के सामने सुशोभित होते देख मन प्रसन्न होता है और यही अभिलाषा जागृत होती है कि यह 'गांधी-ज्ञान-मंदिर' गंगा-माता के परम पावन निर्मल जल-प्रवाह की तरह, वर्धा आने-जानेवाले मानवों के लिए, सर्वजनों के सर्वोदयकारी संस्मरणों द्वारा नित-नई प्रेरणा देनेवाला 'मंगल-मंदिर' बना रहे।

बापूजी के प्रति काकाजी का आत्मसमर्पण बड़ा अनोखा और अनुपम था। कौन किसपर अधिक श्रद्धा या प्रेम करता है, इसकी मानों पिता-पुत्र में होड़-सी लगी रहती थी।

सन् १९४२ फरवरी ११ तारीख को काकाजी ने अपने थके हुए जर्जर शरीर को सांप की केंचुली की तरह त्याग दिया। जीवन-काल में सतत प्रवास करनेवाले ने मृत्यु के पूर्व ६ महीने सब तरह के वाहनों और मुसाफिरी को तिलांजलि दे दी थी, वह उनकी चिर प्रवास की पूर्व तैयारी ही सिद्ध हो गई।

सन् १९४६-४७ में, विभाजन के कुछ दिन पूर्व, पटना में पू० बापूजी की निकट सेवा में १० दिन रहने का मुझे अचानक सुअवसर मिला था।

तब एक दिन बगीचे में टहलते हुए मैंने बापूजी से पूछा, "बापूजी, मुझे समझाइए कि व्यवहार की सत्यता का स्वरूप क्या है ? काकाजी जीवन-काल में जब कहीं से आते या कहीं दो-चार दिनों के लिए भी जाते थे तो एक-एक परिचित, बूढ़े, बुजुर्ग, बराबरीवाले और बालकों की याद करके उनसे मिलते, प्यार करते और सब तरह की जानकारी ले देकर, कुशल-मंगल पूछकर, आया-जाया करते थे, पर जब चिर-प्रवास के लिए जाना पड़ा तो आपतक से मिले बगैर चुपचाप कैसे चले गये ?"

बापू ने जो विचार मुझे समझाया, उसका सार इस प्रकार मेरे ध्यान में रहा है—

"भौतिक जीवन मनुष्य के लिए सतत प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने के लिए पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न करने का कर्मक्षेत्र है । इसमें व्यक्ति को सदा सावधान होकर अपनी साधना को सफल करना होता है, जबकि 'मरण' जीवन-साधना का एक फलित या परिणाम है । वह बाह्य प्रयत्न या व्यवहार के लिए मानो एक पूर्ण-विराम है । या समझो कि जीवन-व्यवहार, यह आत्मिक गुणों के विकास की साधना है और 'मरण' उस साधना का समर्पण है तथा हमारे लिए चिर विश्राम पानेवाले व्यक्ति के सद्गुणों का सतत स्मरण करने का सुअवसर है ।" आदि-आदि ।

किन्तु हम सगुण के स्नेहियों के लिए बड़ी कठिन है यह निर्गुण-अव्यक्त के गुणों की उपासना और समाधान ।

.. .. ..

परमधाम (वर्धा) में बापू के पावन-स्मरणों की प्रेरणा देनेवाला स्मृति-स्तंभ आज सुशोभित है और काकाजी के गो-सेवा-कार्य व योजनाओं का स्मरण दिलानेवाला गोमुखी-कुंड गो-सेवा के प्रति प्रेम और श्रद्धा जागृत करता है ।

इस प्रकार इन दो महान सहयोगियों की सेवामय जीवन-यात्रा से मरण-यात्रा अधिक समर्पण रूप और सहयोगिनी बन गई है ।

उनके संस्मरण से हम सब सदा आत्मिक श्रद्धा और प्रेरणा ग्रहण करते रहें ।

: १७ :

काकाजी की शीतल छाया

रामकृष्ण बजाज

छुटपन से ही जबसे मैंने होश संभाला, घर का वातावरण आश्रम का-सा था। बचपन के चार-पाच साल साबरमती-आश्रम में गुजरे। उसके बाद सब लोग वर्धा आगये। बापूजी का प्रभाव काकाजी पर तो पूरा-पूरा था ही, धीरे-धीरे सारे परिवार पर भी फैलता गया। काकाजी का आग्रह था कि बच्चों को अच्छे-से-अच्छे संस्कार व राष्ट्रीय वृत्ति की शिक्षा मिलनी चाहिए। ऐसी शिक्षा उस समय के कालेजों या स्कूलों में मिलनी संभव नहीं थी। इसलिए भाई कमलनयन को उन्होंने गुजरात विद्यापीठ में काकासाहब कालेलकर की संरक्षता में पढ़ने भेजा, बहन मदालसा को विनोबाजी को सौंपा और ओम् को पहले साबरमती, फिर कन्याश्रम वर्धा में रखा।

जब मेरी उम्र पढ़ने-लिखने योग्य हुई तब वही सवाल उठा कि मुझे कहां भेजा जाय। काकाजी की सबसे ज्यादा इच्छा यह थी कि मै विनोबाजी के पास पढ़ूं, लेकिन उसकी सुविधा नहीं हुई। काकासाहब आदि से वे बराबर पूछते रहे कि मेरी शिक्षा कहां हो। सबकी सलाह से वह जिम्मेदारी उन्होंने नाना आठवले को सौंपी। काकाजी भी मानते थे कि बच्चों की शिक्षा किसी संस्कारी गुरुजन के अधीन हो तो भविष्य में बच्चों और स्वयं परिवार के लिए हितकर होगा। सिर्फ स्कूली पढ़ाई में क्या धरा है!

सन १९३६-३७ में विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय सरकारें कायम हुई। काकाजी को अंग्रेज सरकार ने १७-१८ वर्ष की उम्र में ही 'रायबहादुरी' की पदवी दी थी और आनरेरी मेजिस्ट्रेट भी बनाया था। उस समय वर्धा में शहर से थोड़ी दूर पर काफी जमीन पड़ी हुई थी, वह सरकार ने शिक्षण-संस्थाओं के लिए उनको दे दी। काकाजी ने उस जमीन में मकान आदि बनवाये

और वहां राष्ट्रीय शिक्षा का काम होने लगा। सरकार को यह बात खटकी और उसने जोर दिया कि पिताजी उस जमीन पर किसी प्रकार की राष्ट्रीय संस्थाओं का काम न करें, पर पिताजी इस बात को कैसे मान सकते थे ! यद्यपि उस जमीन में मकानात बन गये थे तथापि पिताजी ने सरकार से साफ-साफ कह दिया कि वह चाहे तो जमीन वापस ले ले, वे तो उसपर इसी तरह की संस्थाएं चलायंगे। १९३०-३१ के आन्दोलन में सरकार ने सारे मकानात जब्त कर लिये और संस्थाएं बन्द कर दीं। धीरे-धीरे जब वे संस्थाएं मुक्त होने लगीं तो राष्ट्रीय विचारों के बालकों की पढ़ाई का सवाल फिर सामने आया। उसे सुलझाने के लिए उन्होंने 'मारवाड़ी शिक्षा मंडल' के अंतर्गत 'नवभारत विद्यालय' की स्थापना की और उसमें मुझे भरती करा दिया।

विद्यालय की ओर से एक विद्यार्थी-गृह चलता था। यद्यपि हम सब वर्धा में रहते थे, तथापि काकाजी चाहते थे कि बच्चों को सब तरह के अनुभव मिलें, वे स्वावलंबी हों और कड़े-से-कड़े जीवन के अभ्यस्त हों। इसलिए उन्होंने मुझे इस विद्यार्थी-गृह में भरती कर दिया। इस विद्यार्थी-गृह के व्यवस्थापक श्री भिड़े गुरुजी थे। भिड़े गुरुजी के विचार शुरू से ही कुछ हिन्दू महासभा के अनुकूल थे, लेकिन वे अपने कार्य में बड़े दक्ष थे। इसलिए यद्यपि यह संस्था पिताजी की देखरेख में थी, तथापि उन्होंने राजनैतिक मतभेद की परवा न करते हुए उनके अन्य गुणों का पूरा लाभ उठाया। हम लोगों को उनके बहुत कड़े अनुशासन में रहना पड़ा।

मुझे बचपन से ही खेल-कूद में बहुत रस था। हम लोगों ने फुटबाल, वाली-बॉल, हॉकी, क्रिकेट आदि खेलों के लिए एक छोटा-सा क्लब शुरू किया। बाद में यह क्लब काफी बढ़ गया और 'घनचक्कर क्लब' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। काकाजी को काम से बहुत कम फुरसत मिलती थी, फिर भी छोटे-छोटे बच्चों के प्रति स्वाभाविक प्रेम की वजह से वह इस क्लब के कार्य में भी बराबर रस लेते रहे। कई बार उन्होंने मुझसे कहा कि तुम्हारे साथ में कोई पढ़ने में बहुत होशियार लड़का हो या किसी भी खेल में बहुत उस्ताद

हो तो बताना। उसकी आगे की पढ़ाई की व्यवस्था करने तथा खेल-कूद में और अधिक दक्षता प्राप्त करने की सुविधा देने पर विचार करेंगे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि वर्धा के बच्चों में से कोई भी आगे चलकर दुनिया में किसी भी क्षेत्र में नाम कमावे। बच्चों के साथ वे जब भी खेलते, बराबरी का नाता रखते। हम लोगों पर न कोई अनुचित दबाव डालते, न किसी तरह की जबरदस्ती करते। हम लोगों के भविष्य का निर्णय हम लोगों की सलाह से करते। कभी दिल बहलाने के लिए मेहमानों के साथ हम लोगों को भी ताश, शतरंज आदि खेलने के लिए बुला लेते। एक दिन की बात है कि हम लोग ब्रिज खेल रहे थे। मैं उस समय बहुत छोटा था। खेलते-खेलते पिताजी ने कोई पत्ता भूल से चल दिया, बाद में वे उसे दुरुस्त करना चाहते थे। अपने बाल-स्वभाव के कारण मैं कह बैठा, "काकाजी तो रोते हैं!" मेरा आशय यह था कि वह चाल बदलते हैं, लेकिन मैंने जो भाषा इस्तेमाल की उसका अर्थ कुछ और ही होता है। काकाजी को बुरा लगा, फिर भी उन्होंने उस समय तो कुछ नहीं कहा, बाद में मुझे बुलाकर समझाया कि इस तरह से अपने बड़ों के साथ व्यवहार नहीं किया जाता। उनको शायद यह भी लगा होगा कि मेरी संगत स्कूल के कुछ ऐसे लड़कों के साथ है, जो अच्छे संस्कारवाले नहीं हैं। उन्होंने बड़ी बारीकी तथा सावधानी से इसकी तलाशी ली। अपनी व्यस्तता के कारण हम लोगों की तरफ ध्यान देने के लिए उन्हें कम ही समय मिल पाता था, फिर भी थोड़े समय में ही वे हम लोगों के लिए बहुत-कुछ करने का प्रयत्न करते थे।

स्कूल-कालेजी शिक्षा के साथ-साथ अन्य अनुभव भी मिलते रहें, इसका वे बराबर खयाल रखते थे। मैं मुश्किल से १५-१६ वर्ष का रहा होऊंगा कि दिवाली की छुट्टियों में मेरी ही उम्र के एक दोस्त के साथ उन्होंने मुझे दक्षिण में घूमने के लिए भेज दिया। हम लोग पन्द्रह दिन के भीतर सारे दक्षिण में करीब २० स्थानों में घूमे और बहुत कम खर्च में सैर करके लौट आये। इस तरह से घूमने में उस समय जो मजा आया और जो अनुभव मिले, उसकी याद आज भी ताजा है। अनुभव के साथ-साथ हौसला भी बढ़ा।

इसके बाद गर्मियों की लम्बी छुट्टी में उन्होंने एक शिक्षक के साथ मुझे लंका भेज दिया। वहां मेरी पढ़ाई चलती रही। साथ ही नई-नई जगहें देखने व घूमने से अनुभव भी प्राप्त होता रहा।

इसी बीच १९३४ में बंबई में कांग्रेस का सालाना अधिवेशन होना तय हुआ। राजेन्द्रबाबू उसके अध्यक्ष थे। वैसे तो काकाजी हर कांग्रेस के जलसे में नियमित रूप से जाया करते थे, लेकिन इस बार कान में बहुत पीड़ा होने के कारण डाक्टरों की सलाह से वे कांग्रेस में शामिल नहीं हो रहे थे। घर का और भी कोई नहीं जा रहा था। रात-दिन कांग्रेस की प्रवृत्तियों के बीच में रहने तथा राष्ट्रीय वातावरण एवं नेताओं से मिलने-जुलने के कारण हम लोगों का दिल उत्साह से भरा रहता था। मैं उस समय कुल ११ वर्ष का था। मैंने जिद पकड़ ली कि कोई जाय या न जाय, मैं तो कांग्रेस में जाऊंगा ही। लोगों ने समझाया कि तुम बहुत छोटे हो, बंबई की इतनी बड़ी भीड़ में कहां जाओगे, मगर मैं न माना। आखिर काकाजी ने स्कूल के एक दोस्त के साथ मुझे बंबई भेज दिया। हम दोनों के साथ न कोई बड़ी उम्र का आदमी भेजा, न नौकर और हमसे कहा कि तुम लोग बंबई में अपने मकान में न रहकर कांग्रेस के कैंप में रहना और नए-नए अनुभव प्राप्त करना।

व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन के सिलसिले में जब काकाजी को गिरफ्तार किया गया उस समय मैं मैट्रिक की परीक्षा देनेवाला था। सारे वातावरण में गर्मी थी और हम भी सत्याग्रह के काम में बड़े उत्साह से, जो कुछ कर सकते थे, करते थे। काकाजी को जब गिरफ्तार करके जेल ले जाया जा रहा था तो मैंने उनसे कहा कि आपसे अब न जाने कब मिलना होगा, लेकिन मेरे मन में सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लेकर जेल जाने की बात है। आपकी इजाजत चाहता हूं। उनके लिए यह अनपेक्षित बात थी, क्योंकि यह प्रस्ताव उनके पास पहली ही बार इस तरह से एकाएक रखा गया था। उस समय उनको गिरफ्तार करके ले जाया जा रहा था, शांति से बैठकर सोचने का तो समय ही कहां था! मेरी उम्र १६ वर्ष की रही होगी, इसलिए उनको चिंता तो हुई; लेकिन फिर भी मुझे लगा कि जैसे मेरी इस तैयारी से उनके दिल में

बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने एक सच्चे सिपाही की भांति कहा—"तुम्हारी उम्र छोटी है, फिर भी इस बारे में तुम्हें बापूजी से पूछना चाहिए। दो-तीन महीने में तुम मैट्रिक की परीक्षा दे लो। तब बापूजी तुमको इजाजत दें तो तुम जरूर जेल आ सकते हो। मेरी तरफ से तुम्हें इजाजत है।" अधिक बात करने का समय नहीं था; लेकिन उतने से में ही उन्होंने अपनी स्पष्ट राय दे दी।

घर के करीब-करीब और सब लोग तो जेल हो आये थे, मैं नहीं गया था। इसलिए मेरे मन में एक तरह का डर लगा रहता था कि कहीं ऐसा न हो कि मुझे जेल जाने का मोका ही न मिले और स्वराज मिल जाय। इसलिए मैट्रिक की परीक्षा खत्म होते ही मैं बापूजी के पास पहुंचा और अपनी बात कही। उन्होंने कहा—"अठारह वर्ष के नीचे मैं किसीको भी इजाजत नहीं देता हूं। तुमको भी कैसे दूं ?" मैंने दो-तीन दिन तक बहुत आग्रह किया तो उन्होंने सेवाग्राम में रोककर सब तरह से मेरी कड़ी परीक्षा ली और तब सत्याग्रह करने की अपवादस्वरूप इजाजत दी। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा।

सत्याग्रह करने पर एक विचित्र समस्या उठ खड़ी हुई। छोटी उम्र की वजह से पहले तो सरकार पकड़ती ही नहीं थी। यदि पकड़ती भी तो जुर्माना करके छोड़ देती। मुझे बड़ा बुरा लगता, क्योंकि मुझे तो किसी तरह से जेल जाना था। आखिर जब मैं बराबर सत्याग्रह करता रहा तो सरकार को सजा देनी पड़ी। यह मेरेलिए बड़े सद्भाग्य और खुशी की बात थी। गिरफ्तारी के बाद सरकार ने मुझे नागपुर-जेल में भेज दिया जहां पिताजी, और विनोबाजी आदि भी थे।

काकाजी अनुशासन कितना मानते थे, इसका मुझे जेल के अन्दर बराबर दर्शन होता रहा। वहां जाते ही उन्होंने मुझे समझाया कि तुमने सत्याग्रह किया है तो तुम्हारा अलग व्यक्तित्व शुरू हो रहा है। तुम्हारे लिए अब सिर्फ मेरे ही अनुशासन में रहना और मेरी ही बात के अनुसार चलना जरूरी नहीं है। जहांतक घरेलू, पारिवारिक व व्यापारिक बातों का संबंध है, तुम्हें

मेरी बात माननी चाहिए; लेकिन राजनैतिक बातों में तुम्हें बापूजी और विनोबाजी की सलाह से चलना चाहिए। विनोबाजी को तो पहला सत्याग्रही चुना गया है। इसलिए यदि उनकी और मेरी राय में अंतर हो जाय तो तुम्हें मेरी नहीं, बल्कि उनकी बात का अनुसरण करना चाहिए।

जेल में प्रथम श्रेणी के लोग बहुत कम थे। काकाजी को द्वितीय श्रेणी के लोगों के साथ रखा गया था। मुझे भी उन्हींके साथ एक अलग कमरे में रहने की इजाजत मिल गई थी।

एक बार एक प्रथम श्रेणी के कैदी के लिए बाहर से कुछ आम आये। उनमें से उन्होंने कुछ पिताजी तथा मेरेलिए भेज दिये। पिताजी प्रथम श्रेणी के कैदी थे, फिर भी द्वितीय श्रेणीवालों के साथ रहते थे। इसलिए द्वितीय श्रेणी के लोगों को जो सुविधाएं थीं, उन्हींको लेते थे। उन्होंने वे आम रखने से इन्कार कर दिया। उन भाई ने कहा—"आप न सही, राम तो खा सकता है।" पिताजी ने कहा, "राम कैसे खा सकता है ? वह तो द्वितीय श्रेणी का कैदी है। वह तो तभी खा सकता है जबकि जेलर की विशेष इजाजत ली जाय।" जब जेलर से उन सज्जन ने पूछा तो जेलर को ताज्जुब हुआ कि इसमें पूछने की बात ही क्या थी। जेल के नियमों का अधिक-से-अधिक ध्यानपूर्वक एवं आग्रहपूर्वक पालन करने की ओर उनका विशेष ध्यान रहता था। जेल-अधिकारियों,साथी राजनैतिक कैदियों तथा सामान्य कैदियों से उनका बड़ा मीठा संबंध होगया था।

वर्धा (बजाजवाड़ी) में, जहां हम लोग रहते थे, मेहमानों का तांता लगा रहता था। कभी वर्किंग कमेटी की मीटिंग, तो कभी चर्खा-संघ की, कभी एक कान्फ्रेंस तो कभी दूसरी। मीटिंग न होती तो भी बापूजी और काकाजी से मिलने के लिए आनेवाले बराबर आते रहते। जो लोग वर्धा आते, हमारे साथ ही ठहरते। हम लोगों के रहने के कमरे भी आवश्यकता पड़ने पर छिन जाते। उससे असुविधा तो होती ही, साथ ही पढ़ाई में दिक्कत होती। लेकिन चारा क्या था ? जब हम देखते कि काकाजी के खुद के रहने के कमरे में भी किसी अन्य व्यक्ति को ठहरा दिया गया है तो हम लोगों की जबान

अपने-आप बन्द हो जाती ।

काकाजी का विचार था कि मेहमानों के साथ रहने से हमको जो शिक्षा मिलेगी वह अन्य सब शिक्षाओं से ऊंची होगी। वे मेहमानों के आदर-सत्कार का पूरा खयाल रखते। अतिथि-सत्कार की भावना उनमें कूट-कूटकर भरी थी, यहांतक कि किसी भी छोटे या बड़े अतिथि को कुछ असुविधा होती तो उनके दिल को चोट लगती। घर के सारे लोगों को मेहमानों की देखभाल करते देखकर उनको हार्दिक खुशी होती थी। वे जब वर्धा रहते तो शायद ही कभी ऐसा होता कि २०-२५ आदमियों से छोटी पंगत जीमने बैठती। यदि कभी कोई बाहर का न होता तो उनको खाने में आनन्द ही न आता। बजाजवाड़ी में भोजन के लिए पंगत बैठती तो उसकी भी एक अजीब शान होती। खूब रौनक रहती। बड़े-से-बड़े नेता और छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता सब एक ही पंगत में बराबरी से बैठकर खाना खाते। क्या मजाल कि किसी तरह का भेदभाव होजाय। सारा वातावरण प्रेम और आत्मीयता से भरा रहता।

एक बार एक धनी-मानी सज्जन बजाजवाड़ी में आये। वहीं ठहरे। देश के बड़े-बड़े नेता वहां आते थे और बड़े प्रेम, नम्रता तथा सादगी से रहते थे। इसलिए इन महानुभाव की अकड़ तथा रोब और बातचीत में मुझे कुछ अभिमान दिखाई दिया, जो मुझे बहुत पसन्द न आया। मैंने काकाजी से कहा तो उन्होंने समझाया कि हरएक का अपना-अपना तरीका होता है। ये इतने धनी-मानी इस तरह से यहां आकर रहते हैं, यही इनके लिए काफी है। तुमको दूसरों के स्वभाव से क्या मतलब ? तुमको तो सबसे मीठा सम्बन्ध बनाना चाहिए। इनसे मीठा सम्बन्ध रहेगा तो तुम्हारे भविष्य की दृष्टि से भी अच्छा है। भावी जीवन में यदि तुम व्यापारिक क्षेत्र में जाओगे तो भी तुम्हें उनके संपर्क में आना होगा और सार्वजनिक काम करोगे तब भी सार्वजनिक कार्य के लिए धन-संग्रह में इनकी मदद मिलेगी। इस तरह से उनकी सलाह में नीतिमत्ता के साथ-साथ व्यावहारिक चतुराई भी समाविष्ट रहती थी।

उस जमाने में मध्य-प्रदेश में कामर्स कालेज की बड़ी कमी थी। काकाजी ने सोचा—वर्धा में कोई कालेज नहीं है, 'शिक्षा मंडल' के अन्तर्गत एक कामर्स कालेज खोल दिया जाय तो उससे आसपास के विद्यार्थियों को सुविधा हो जायगी। उन्होंने एक प्रतिष्ठित उद्योगपति से इसके लिए एक लाख रुपये देने का वादा करा लिया और कालेज खोलने की जोर-शोर से तैयारी होगई। पया आगया, किन्तु जब लिखा-पढ़ी का समय आया तो उन उद्योगपति ने कुछ शर्तें रखीं, जो काकाजी को पसन्द न आईं। वह सज्जन अपनी शर्तों पर अड़े रहे; परन्तु काकाजी ने कहा, "मैं इन शर्तों पर पैसा न लूंगा।" और उन्होंने उनको रुपये लौटा दिये। कालेज के उद्‌घाटन का समय नजदीक आ रहा था। संचालकों ने पूछा, "अब क्या होगा?"

काकाजी ने विश्वास के साथ उत्तर दिया—"तुम लोग निश्चिंत रहो। अपने कार्य और कालेज के उद्‌घाटन के कार्यक्रम में कुछ भी ढील न करो। पैसों का बन्दोबस्त कहीं-न-कहीं से हो जायगा।"

उन्हीं दिनों काकाजी का बंबई आना हुआ और वे इस सिलसिले में श्री गोविन्दरामजी सेक्सरिया से मिले, सारी परिस्थिति उन्हें समझाई और कहा कि इस काम के लिए एक लाख रुपये की अपेक्षा है। गोविन्दरामजी ने तुरन्त इस बात को स्वीकार कर लिया।

काकाजी को खुशी हुई कि उनका एक बोझा उतरा; लेकिन साथ ही उनको लगा कि उन्होंने जरा गलती कर दी। एक लाख के लिए ही क्यों कहा, अधिक के लिए कहते तो शायद अधिक भी मिल जाता। बनिये तो वे पूरे थे ही। उन्होंने बात पलटी और सेक्सरियाजी से कहा कि एक लाख तो शुरुआत का है। काम को बढ़ाने के लिए कुछ और रुपयों की जरूरत पड़ेगी।

सामनेवाला भी कम बनिया नहीं था। उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया—आप एक लाख के अलावा जितने रुपये इकट्ठे करेंगे उतने ही मैं और दे दूंगा। काकाजी ने अपनी तरफ से पच्चीस हजार देने को कहा, और यों उनसे २५ हजार और ले लिये। एक बनिये ने सोचा कि मैंने २५ हजार

देकर ५० हजार पा लिये और कालेज के लिए उतनी जिम्मेदारी कम हुई, दूसरे ने सोचा, कालेज तो मेरे नाम से होगा ही। मैंने सवा लाख देकर डेढ़ लाख पा लिये।

काकाजी के जीवन पर किसी विशेष कथन का प्रभाव था तो रामदास के इस कथन का—बोले तैसा चाले (त्याची बंदावें पाउलें)। मैं छोटा था, उस समय राष्ट्रीय नेताओं के संदेश और हस्ताक्षर लेने का मुझे बड़ा शौक था। सभी बड़े लोग वर्धा आते रहते थे, उनके तो मिल गये। एक बार काकाजी के पास भी पहुंचा। उन्होंने उपरोक्त सन्देश मुझे लिख दिया। उसका उनके दिल पर गहरा असर था। इसलिए वे जब कोई भी बात सार्वजनिक या व्यक्तिगत रूप में कहते तो खयाल करते कि पहले उसे अपने जीवन में और अपने कुटुंब के जीवन में अपना लें।

सार्वजनिक कामों में और लोगों की चिन्ताएं तथा कठिनाइयां सुलझाने में काकाजी रात-दिन व्यस्त रहते थे। उन दिनों मैं बच्चा ही था, इसलिए उनके काम का महत्व आंक नहीं पाता था। अब जबकि उनके पत्र-व्यवहार तथा डायरियों आदि के सम्पादन का काम करता हूं तो उनके कार्य की विशालता और व्यापकता का कुछ अंदाज होता है। उनका दिल हरएक व्यक्ति के लिए, जो उनके संपर्क में आता था, प्रेम से लबालब भरा रहता। सार्वजनिक काम में लगे व्यक्तियों की व्यक्तिगत चिन्ताएं दूर करने की उन्हें हमेशा फिक्र रहती। हम लोगों का कई बार पिताजी से मिलना व शांति से बात तक करना कठिन हो जाता। कई बार ऐसे मौके आते कि हमको पहले से समय निश्चित करके बातचीत का मौका मिलता। कई बार दो-दो, तीन-तीन दिन तक समय न मिल पाता।

काकाजी के देहान्त के समय मैं तो केवल १९ वर्ष का था और उनके रहते हर प्रकार की जिम्मेदारी या भार से मुक्त था। किसी भी पिता का इस तरह से जाना बच्चों के लिए दुःखदायी होता है, लेकिन उनके-जैसे पिता का इस तरह से एकाएक चले जाना हम सभीके लिए बहुत बड़ा आघात था।

काकाजी हमेशा मृत्यु का मजाक उड़ाया करते थे और बड़े ही हल्के

ढंग से उसकी चर्चा किया करते थे, जैसे कोई बहुत मामूली बात हो। कई बार लोगों को बुरा भी लगता, लेकिन वे इसी तरह से आसपास के लोगों का मृत्यु के प्रति डर दूर करने की कोशिश करते थे। "एक दिन मरना अवश्य है, मरना तो हैजा का अच्छा", यह बराबर कहते रहते थे। हैजा को वे इसलिए पसंद करते, क्योंकि उसमें तुरंत मृत्यु हो जाती है और आसपास के लोगों को तकलीफ नहीं होती। वे तो कहते थे कि यदि मुझे कोई पहले से बता दे तो मैं पहले से ही स्मशान में जा बैठूं, जिससे मेरे शरीर का भारी वजन उठाकर ले जाने की भी जरूरत न पड़े।

वे जो बात कहते, खुद करते, इसलिए उनके जीवन का सारे कुटुंब पर बड़ा असर था और अब भी है। हर बात में और हर काम में करते समय उनकी याद आ जाती है और उनके जीवन से बराबर प्रेरणा मिलती रहती है।

हम लोग उनके नाम और काम को यदि आगे नहीं बढ़ा सके, तब भी उसमें किसी तरह का धब्बा न लगने दें, यही हमारे लिए बड़े संतोष की बात होगी।

: ९८ :

उनका विशेष स्थान आज भी रिक्त

श्रीप्रकाश

मुझे आज इस बात से संतोष हो रहा है कि अन्य मित्रों और सहयोगियों के साथ-साथ मुझे भी सेठ जमनालालजी बजाज की पुण्य स्मृति में दो-चार शब्दों द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित करने का अवसर मिल रहा है। मुझे स्मरण है कि सेठ जमनालालजी की अकस्मात् और असामयिक मृत्यु से हम सब उनके साथियों और सहयोगियों को बड़ा धक्का पहुंचा था। इस दुर्घटना से हमारे सार्वजनिक जीवन की भयंकर क्षति हुई थी और उनका स्थान-विशेष आजतक खाली ही रह गया। मुझे उनको सबसे पहले देखने का अवसर दिसम्बर सन् १९२२ की कांग्रेस के समय गया में मिला था। उस समय महात्मा गांधी जेल में थे, और कांग्रेस में भयंकर आंतरिक संघर्ष चल रहा था। परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों में बड़ा झगड़ा उठा हुआ था। फल्गु नदी के किनारे, कांग्रेस-मण्डप के समीप, दिन-रात प्रतिद्वंदियों के भाषण होते रहे। सेठ जमनालालजी बजाज अपरिवर्तनवादी थे, और उन्होंने वहांपर श्री राजागोपालाचार्य (राजाजी) सरदार वल्लभाई पटेल और अन्य सहयोगियों के साथ-साथ कितने ही भाषण किये और आग्रह किया कि कांग्रेस के प्रतिनिधि-गण पंडित मोतीलाल नेहरू और देशबंधु चित्तरंजनदास के नये प्रस्तावों को अस्वीकृत करें और पुराने गांधीवाद पर ही अटल बने रहें।

उस समय मैंने उन्हें दूर से ही देखा था। वास्तव में मेरी उनकी पहली मुलाकात कुछ महीने पीछे हुई। १९२३ में नागपुर में झंडा-सत्याग्रह का वह नेतृत्व कर रहे थे और उसके कारण जेल पहुंच गये थे। अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी की बैठक के संबंध में मैं वहां गया था। उस समय काशी से

श्री शिवप्रसादजी गुप्त भी साथ में थे । सेठजी को वह पहले से जानते थे और उनकी इच्छा स्वभाविक थी कि जेल में उनसे मुलाकात की जाय। अपने साथी और मित्र श्री राघवेन्द्रराव भी वहीं थे। शिवप्रसादजी और मैं दोनों ही उनके अतिथि थे। किसी प्रकार से जेल-अधिकारियों से अनुमति पाकर हम सब सेठजी से मिलने गये । जेल-अधिकारियों ने वही प्रतिबंध रक्खा कि राजनीति की कोई बात हम न करेंगे। जेल-सुपरिंटेंडेंट श्री जठार भी मुलाकात के समय मौजूद थे।

अवश्य ही हम झंडा-सत्याग्रह की भीतरी बातें जानना चाहते थे, पर उस संबंध में बात करना संभव ही नहीं था। केवल कुशल-क्षेम पूछकर ही हमें संतुष्ट होना पड़ा। इतना अवश्य उनसे मिलकर मैंने अनुभव किया कि सेठजी किसी प्रकार से व्यग्र अथवा विचलित नहीं थे। आंदोलन के परिणाम की चिन्ता वह नहीं कर रहे थे, चाहे किसीका कुछ भी विचार क्यों न हो। चाहे कोई उस सत्याग्रह को मूर्खता समझे या न समझे, उनको इतने से संतोष था कि उन्होंने अपना कर्तव्य कर दिया।

उसके बाद तो उनसे बराबर साक्षात् होता रहा। जब-जब वह काशी आते थे, मुझसे अवश्य मिलने की कृपा करते थे। वह श्री शिवप्रसादजी गुप्त के यहां ठहरते थे। सभी मित्रों से मुलाकात वहां भी होती ही रहती थी। मुझे उनके संबंध में आरंभ में इतना बतलाया गया था कि वह बड़े धनी पुरुष हैं, पर महात्मा गांधी से आकर्षित होकर राजनीति में उनके साथ आगये हैं और सबकुछ त्यागकर बड़ी सादगी का जीवन व्यतीत करते हैं और हर तरह महात्माजी का साथ देते हैं। उनकी सादगी का उदाहरण मुझे एक दिन श्री शिवप्रसादजी गुप्त के मकान पर इस रूप में मिला कि वह अपने हाथ से ही कच्चे चने (अर्थात् बूट या काशी की भाषा में 'होरहा') आग में भून-भूनकर खा रहे थे। शिवप्रसादजी के विशाल उद्यान के एक कोने में जमीन पर आनन्द से बैठे थे और मेरी तरह जो भी वहां पहुंच जाते थे, उनके साथ 'भोजन' में सम्मिलित हो जाते थे।

मुझे उनकी सहृदयता और मैत्रीभाव का एक बार इस रूप से परिचय

हुआ कि वह दोपहर के समय घूमते हुए एक दिन एकाएक मेरे घर पर आये। भोजन का समय था और मैं भोजन के लिए उठ ही रहा था कि उनको देखकर बैठ गया। मैं संकोच कर रहा था, पर उन्होंने थोड़ी देर बाद स्वयं ही कहा कि यह आपके भोजन का समय होगा। मैं भी आपके साथ भोजन कर लूंगा। सभी गृहस्थों को ऐसी अवस्था में असमंजस होता है, क्योंकि जब कोई विशिष्ट अतिथि आता है तो उसके लिए कुछ विशेष प्रबंध किया ही जाता है, पर उनको इस सबका कोई विचार नहीं था, और जो कुछ बना था, उन्होंने बड़े प्रेम से खा लिया। इस संबंध में यह कह देना अनुचित न होगा कि महात्मा गांधी के बहुत-से अन्य अनुयायिओं की तरह सेठजी के भोजन-संबंधी कोई विशेष प्रतिबंध आदि नहीं थे। बहुत-से लोग उन दिनों नमक छोड़ रहे थे, बहुत-से लोग चीनी नहीं खाते थे। कोई केवल दूध या फल पर ही आश्रित थे। कितनों ने ही भोजन-संबंधी विशेष नियम बना लिये थे, जिसके कारण आतिथेय-गृहस्थों को अवश्य असुविधा होती थी। सेठजी ने कोई ऐसे बंधन नहीं लगा रक्खे थे, जिससे उनके आतिथ्य में किसीको कोई कठिनाई नहीं हो सकती थी।

जब गांधीजी ने नमक-सत्याग्रह के बाद यह प्रण किया कि जबतक स्वराज्य नहीं मिलेगा तबतक मैं साबरमती-आश्रम नहीं जाऊंगा, तब सेठ जमनालालजी बजाज ने ही वर्धा से कुछ दूरी पर सेवाग्राम में (जिसका नाम पहले सेगांव था) गांधीजी के रहने आदि का प्रबन्ध किया। मैं पहले-पहल सेवाग्राम सन् १९४० में गया था। उस समय वर्धा में अखिल भारतीय कांग्रेस-समिति की बैठक थी। उसी प्रसंग में मैं गया था। पीछे तो कई बार जाने का अवसर मिला। कुतूहलवश गांधीजी के आश्रम के पास में ही, जो पुराना सेगांव नाम का वास्तविक गांव था, उसमें मैं गया। गांधीजी की यूरोपीय शिष्या मीराबेन (मिस स्लेड) ने वहां अपने लिए कुटिया बनाई थी। आश्रम की तरफ से कुछ नवयुवक झाड़ू आदि देकर गांववालों को सफाई की शिक्षा देने का प्रयत्न कर रहे थे। एक के हाथ में झाड़ू देखकर मैं उनसे बात करने के लिए रुका। मालूम हुआ कि वे उत्तर प्रदेश के उन्नाव

जिले के हैं। वे बड़े दुखी होकर मुझे बतलाने लगे कि गांववाले केवल उन्हें तंग करने के लिए जहां-जहां वे सफाई करते हैं वहां-वहां अनायास गंदा कर देते हैं। गांव की बस्ती में जाकर मैंने बहुत-से लोगों से बातें भी कीं।

इस गांव के जमींदार सेठजी ही थे। गांववालों को उनसे बहुत शिकायत थी। साथ ही महात्मा गांधी से भी शिकायत थी। उनका कहना था कि जब सेठजी की शिकायत हम महात्माजी के पास ले जाते हैं तो वह कुछ नहीं सुनते। वह पक्षपात करते हैं। इस कारण हमारी कठिनाइयां दूर नहीं होतीं। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि गांववाले वास्तव में गांधीजी के सारे आयोजन से ही रुष्ट थे। एक दिन मैं गांधीजी के साथ शाम को वहां सड़क पर टहल रहा था। उस तरफ से कुछ गांववाले गुजरे, पर उन्होंने गांधीजी का अभिवादन भी नहीं किया। कहां तो दूर-दूर के लोग आकर इतनी श्रद्धा और भक्ति से उनके पैर छूते थे, कहां बगल के रहनेवाले उनसे इतने अप्रसन्न प्रतीत होते थे कि उनको नमस्कार भी करना नहीं पसंद करते थे। मैंने किसी समय ये सब बातें सेठजी को बताईं भी थीं। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने इस संबंध में क्या किया। फिर मुझे पूछने का मौका नहीं मिला। हां, इसमें कोई संदेह नहीं कि गांव की सेवा करना सहल नहीं है। जिनकी भलाई करने जाइए वे ही सशंक हो जाते हैं, और ऐसा समझते हैं कि ये हमारी हानि करने आये हैं और कुछ अपना ही लाभ करने की फिकर में हैं। गांववालों की मनोवृत्ति से कुछ मुझे भी परिचय है और मैं अच्छी तरह समझ सकता हूं कि सेठ जमनालालजी बजाज को भी अपने सेवाकार्य में कितनी दिक्कतें उठानी पड़ी होंगी।

जब महात्मा गांधी सेवाग्राम में रहते थे तब कांग्रेस की कार्य-समिति की बैठकें जमनालालजी के यहां ही हुआ करती थीं। कार्य-समिति के सदस्यों के लिए वर्धा में सेठ जमनालालजी बजाज ने अपना एक मकान दे रखा था और वहीं उनके अतिथि-सत्कार का सब प्रबन्ध भी कर दिया था। वह स्वयं ही सब अतिथियों की फिकर करते थे। एक-दो बार मुझे भी उनके यहां ठहरने का अवसर मिला है। जहांतक मैंने देखा, सेठजी का बातचीत करने

का कुछ ऐसा तरीका था जिससे कुछ गलतफहमी हो सकती थी। मेरा ऐसा अनुमान है कि वह स्पष्ट बात और मजाक को मिश्रित करते थे और जो उन्हें पास से नहीं जानते थे उनके मन में गलतफहमी पैदा होने की संभावना ो सकती थी। अपने अतिथिगृह में भी खाना खाते समय वह ऐसी बातें कह देते थे, जिसका अर्थ कुछ लोग यह अवश्य निकाल सकते थे कि हमारा यहांपर बार-बार ठहरना संभवतः इन्हें अच्छा नहीं लगता। ऐसा भाव किसी नये अतिथि के ही मन में आ सकता था। जो उनके मित्र और साथी थे, वे तो जानते थे कि वह कितने उदार प्रकृति के हैं और कितने प्रेम से सबको अपने पास आग्रहकर ठहराते हैं।

कांग्रेस के वह कोषाध्यक्ष बराबर रहते थे और उसके आय-व्यय पर कड़ी नजर रखते थे। सार्वजनिक संपत्ति के सम्बन्ध में प्रायः लोग लापरवाह होते हैं पर उसपर बड़ी तत्परता से बराबर ध्यान रखना अत्यावश्यक है। सेठजी इसमें बड़े ही कुशल थे, जिसके कारण कुछ लोग उनसे अधिक प्रसन्न नहीं रहते थे। हिसाब-किताब में वह ऐसे विशेषज्ञ थे कि मित्र-गण अपने निज के हिसाब भी उन्हें देखने को छोड़ देते थे, जिसमे सार्वजनिक कार्य करते हुए घर की तबाही न होजाय। इस प्रकार मे सेठजी ने कई बड़े घरों की रक्षा की। कोषाध्यक्ष होने के कारण वह कार्य-समिति के सदस्य भी रहे और वहां वह अपनी राय बहुत सफाई से देते थे। पर मैंने यह अवश्य देखा कि मत प्रकट करने का उनका कुछ ऐसा प्रकार था कि दूसरों को कुछ चोट भी लग सकती थी। दिल्ली की एक घटना मुझे याद आती है जब डाक्टर अंसारी के मकान पर कार्य-समिति की बैठक हो रही थी। श्री केलकर भी वहां थे। सेठजी की किसी बात से श्री केलकर को इतना बुरा लगा कि उस छोटे-से कमरे में उन्होंने बड़ी तेज आवाज से चिल्ला-चिल्लाकर बातें करनी शुरू कर दीं। उन्हें इतना अधिक क्रोध आ रहा था कि शीतकाल में भी वह पसीने-पसीने होगये। उनको ऐसा विचार हुआ कि सेठजी ने मेरे ऊपर कुछ व्यक्तिगत आघात किया है। श्री केलकर ने तो बहुत ही कड़े शब्दों में सेठजी पर उत्तर में आघात किये। महात्माजी ने शान्ति से दोनों पक्षों को

सुना, पर कुछ कहा नहीं। सेठजी ने धीरे-से यही कहा कि ऐसा व्यक्तिगत आक्षेप करना उचित नहीं है। बात यहां समाप्त हुई। संभवत: सेठजी असावधानी से बातें कह देते थे, पर उनका हृदय सदा शुद्ध रहता था। एक बार मुझे याद है कि उन्होंने ऐसी ही बैठक में सत्याग्रह करने न करने के सम्बन्ध में विचार-विनिमय होते समय कह दिया कि अमुक-अमुक ने तो बड़े-बड़े महल अपने रहने के लिए बना लिये हैं, वे अब जेल क्यों जायंगे। एक बार महात्मा गांधीजी के ही किसी सज्जन को अखिल भारतीय कांग्रेस-समिति के दफ्तर में सपुरस्कार कार्यकर्ता के पद पर रखने के लिए कहने पर सेठजी ने पूछा कि ये तो वही हैं न जो अमुक के अमुक लगते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि महात्मा गांधीजी को भी इसपर बुरा लगा, क्योंकि उन्होंने कहा कि 'क्या यह सम्बन्ध कोई गुण का सूचक है,' क्योंकि वह तो उन सज्जन को व्यक्तिगत विशिष्ट योग्यता के ही कारण उस स्थान पर रखना चाहते थे। इन्होंने पीछे सार्वजनिक जीवन में बड़ा यश पाया। महात्मा गांधी को मनुष्यों की बहुत अच्छी पहचान थी।

जब श्री जवाहरलाल नेहरू लाहौर में कांग्रेस के सभापति हुए और उन्होंने मुझे कांग्रेस का प्रधान मंत्री बनाया और मैं कार्य-समिति की बैठक में इस पद को लेने के लिए एकाएक अपने तंबू से बुलाया गया, तो मैंने इस ऊंचे पद के लिए अपनी अयोग्यता प्रकट की और क्षमा चाही। तीन वर्ष पहले मैं उस समय की केंद्रीय विधान-सभा के लिए बहुत बड़े संघर्ष में खड़ा होकर हार चुका था। उसे यादकर सेठजी ने कहा कि विधान-सभा में तो खड़े होने के लिए आप अपनेको योग्य समझते हैं और कांग्रेस के प्रधान मंत्री होने के लिए ऐसा नहीं समझते। मुझे याद है कि मुझे इन शब्दों से चोट लगी और मैंने कहा भी कि विधान-सभा का तो सदस्य कोई मूर्ख भी हो सकता है, क्योंकि वहां तो नेता के पीछे-पीछे केवल मत देने का ही काम रहता है, पर यहां तो बहुत महत्व का काम करना होगा। खैर, मैं प्रधान मंत्री तो होगया, पर यह घटना मुझे याद रही। पीछे जब एक बार सेठजी मेरे यहां काशी में आये तो मैंने बहुत क्षमा-याचना करते हुए

उनसे पूछा कि क्या आपको मेरा अमुक के विरुद्ध निर्वाचन में खड़ा होना बुरा लगा था। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि ऐसी बात नहीं है।

सभीमें गुण-दोष होते हैं। कोई भी पुरुष पूर्ण नहीं है, परन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि सेठजी में गुण बहुत थे, और यदि दोष थे तो कम। खेद है कि मुझे खुद उनके अधिक निकट रहने का अवसर नहीं मिला। यदि मैंने उनमें कोई त्रुटि देखी तो केवल इसमें कि वह अपना मत प्रकट करने में अत्यधिक सफाई रखते थे जिससे कि संभवतः दूसरों को बुरा लग जाता था, पर वास्तव में वह देश के विशिष्ट पुरुषों में होगये हैं। वह बिना अपने को बहुत प्रकट किये सब लोकोपकारी काम शान्ति के साथ गुप्त रूप से ही किया करते थे। उनपर सबको ही विश्वास था। उनकी उदारता अत्यधिक थी। वह दूसरों की व्यक्तिगत सहायता भी बहुत करते थे। वह समाज-सुधारक भी थे। विवाह-संबंधी बहुत-सी बातों में उन्होंने व्यावहारिक रूप से परिवर्तन कराये थे। वह अंतर्जातीय विवाह के पोषक थे और अपने पास उपयुक्त वर-कन्याओं की सूचि रखते थे, और उचित संबंध कराने में गृहस्थों की सदा सहायता करते थे। विवाह में दहेज आदि तो लेना दूर रहा, मित्रों द्वारा साधारण उपचार के रूप में जो उपहार वर-कन्या को दिया जाता है उसे भी वह नहीं लेते थे। मुझे स्मरण है कि उनकी कन्या के विवाह में जब मेरे मित्र श्री शिवप्रसादजी गुप्त ने निमंत्रण पाकर कुछ उपहार भेजा तो उन्होंने क्षमा-याचना करते हुए उसे वापस कर दिया। वह सिद्धांत के पक्के थे। उनके हृदय में सबके लिए बड़ा प्रेम था। वह सबकी सहायता करने के लिए तैयार रहते थे, और यदि महात्मा गांधी को उनके ऊपर हर प्रकार का विश्वास था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

सेठ जमनालालजी बजाज अपनी धुन के बड़े पक्के थे और जो कुछ काम वह उठा लेते थे उसमें बराबर लगे रहते थे। हार-जीत की चिन्ता वह नहीं करते थे। इसका मुझे एकबार सुन्दर उदाहरण मिला था। संभवतः बात १९३३ की होगी, क्योंकि उसीके पहले १९३२ का कर-बंदी-आंदोलन समाप्त हो चुका था। सभी लोग जेल की अपनी अवधि काट कर बाहर

आगये थे। मैं उस समय बड़ा ही हताश हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि अब कोई आशा नहीं रह गई है। बार-बार प्रयत्न होता है और बार-बार विफल हो जाता है। उसी समय सेठ जमनालालजी बजाज इत्तिफाक से मेरे यहां आये। अन्य बातों के प्रसंग में मैंने अपने हृदय के ये भाव भी उन्हें बतलाये और कहा कि अब तो मालूम पड़ता है कि इस सब आंदोलन में कोई तथ्य नहीं रह गया है। काम बंद ही करना होगा। सेठजी ने इसपर कहा कि मैं तो व्यापारी हूं और व्यापार की प्रथा की कसौटी पर ही अन्य सब बातों को कस सकता हूं। मेरे पास और कोई मापदंड नहीं है। व्यापारी चाहे सफल हो या विफल, चाहे उसको लाभ हो या हानि, वह अपनी दूकान पर जाता ही है। उसको समझ में ही नहीं आता कि और कोई काम भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ जब हड़ताल अथवा किसी अन्य कारण से दूकानदार अपनी दूकान बंद करता है, तो भी बाहर अपनी ताली लिये हुए बैठा रहता है, चाहे दूकान खोले या न खोले।

उन्होंने आगे चलकर कहा कि यही हम लोगों की दशा है। हमने राजनीति के काम को उठाया है। इसमें हमें सफलता मिले या न मिले, हम अब और क्या कर ही सकते हैं। हमें तो इसे करते ही जाना होगा। हम अपनी प्रकृति से विवश हैं। हम कोई दूसरा काम उठा ही नहीं सकते। बात उन्होंने बहुत सीधे प्रकार से कही। उदाहरण भी उन्होंने बड़ा साधारण-सा दिया, पर जो कुछ उन्होंने कहा, वह पूर्णतया सत्य है। मेरे ऊपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। मुझे यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि वह किसी प्रकार से भी विचलित नहीं हो रहे हैं, और न काम छोड़ने को ही तैयार हैं। इससे उनकी निष्ठा और श्रद्धा भी स्पष्ट रूप से प्रतीत हुई। मुझे भी इससे अपना कर्तव्य-पथ मालूम हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि बार-बार हारकर भी महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में हम सब राजनीतिक कार्य में लगे न रहते, तो आज हम अपनेको स्वतंत्र न पाते। खेद है, इस स्वतंत्रता को सेठजी स्वयं अपनी आंखों से न देख सके, पर उन्होंने हमारे ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व छोड़ा है, जिसे हमें पालन करते रहना चाहिए।

आज हम सब उन्हें प्रेम, श्रद्धा और सम्मान के साथ स्मरण करते हैं। सेठजी विशेष रूप से प्रशंसा के पात्र इस कारण भी हैं कि सार्वजनिक जीवन में अपना सब समय और शक्ति देते हुए भी उन्होंने व्यवहार-धर्म का पालन किया, और अपने कुलवालों को अपने से कोई शिकायत का मौका नहीं दिया। अपने जीविका-संबंधी व्यापारादि का सदा वह सुप्रबंध करते रहे। वह वास्तव में सार्वजनिक पुरुष होते हुए सद्-गृहस्थ भी थे। संसार का आदर पाते हुए अपने कुटुम्ब का भी सम्मान पाते रहे। ऐसे उदाहरण कम देख पड़ते हैं। सार्वजनिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए कितनों ने अपने कुटुम्बी-जनों की उपेक्षा की है, जिसका कटु परिणाम उन्हें पीछे सहन करना पड़ा है। सेठजी ने ऐसा नहीं किया, इस कारण वह विशेष रूप से आदर के पात्र हैं। हम सब उनको सदा स्मरण रक्खें और यदि हो सके तो उनका अनुकरण कर अपने देश की और अपने समाज की सेवा करने का प्रयत्न करते रहें।

: १८ अ :

उनका प्रेमल स्वभाव

विमला बजाज

मैं जब दस वर्ष की थी तब पिताजी (श्री जमनालालजी) से पहले-पहल मिली। उन्होंने बड़े स्नेह से मेरे सिर पर हाथ रखा, जैसे कि वर्षों से जानते हों। शायद सभीपर वह इसी प्रकार स्नेह की वर्षा करते थे, किंतु हरेक को यही लगता था कि उसीपर उनका अधिक स्नेह है। उस समय मुझे क्या मालूम था कि मैं इसी घर में आनेवाली हूं।[1] उनके मन में भी मेरे लिए कोई भावना थी या नहीं, यह आज भी नहीं मालूम। हां, एक बार जब कलकत्ते आये तो जाते समय बोले, "विमला तो मेरी बेटी बन गई है। उसे मैं अपने साथ ले जाऊंगा।"

काकाजी व मां को भला क्या एतराज हो सकता था। उन्होंने पिताजी से कहा कि अगर वह जाय तो अवश्य ले जाइए। किंतु उन दोनों को ही यह बिल्कुल विश्वास नहीं था कि मैं पिताजी के साथ अकेली चली जाऊंगी। पहले कभी भी मैं अकेली यानी मां के बिना कहीं भी नहीं गई थी। मुझसे पूछा गया तो पहले तो मैंने इंकार कर दिया, किंतु पिताजी के स्नेहभरे आग्रह के सामने मुझे हार माननी पड़ी। मैंने उनके साथ जाना स्वीकार कर लिया। किंतु ट्रेन छूटने तक सबको संशय हो रहा था कि न जाने यह कब ट्रेन से उतर पड़े। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

अगले रोज ट्रेन में पिताजी का सिर बहुत दर्द कर रहा था। वह लेटे हुए थे। मैं सिराहने जा बैठी और चुपचाप सिर दबाने लगी। यह पूछने की

---

[1] बाद में श्री रामकृष्ण बजाज से विवाह हुआ।

जरूरत ही महसूस न हुई कि सिर दबा दूं क्या। वह भी चुपचाप आंख बंद किए सिर दबवाते रहे।

कुछ देर बाद मैंने सिर दबाना बंद कर दिया। मुझे ऐसा लगा कि वह सो गए हैं। किंतु जैसे ही मैं उठी, उन्होंने आंख खोली और कहा—सिर तो बहुत अच्छा दबाती है। मुझे खुद की तबदीली पर बहुत आश्चर्य हो रहा था। मैंने सदा करवाना सीखा था, किसीके लिए करना नहीं। लेकिन इस छोटी-सी चीज के करने में भी जो संतोष और खुशी का अनुभव हुआ, वह मेरे लिए एक नई चीज थी। पिताजी का संपर्क ही प्रेरणाओं का जन्मदाता था। मेरा उनके साथ आना, और वह भी इस प्रकार, एक नया अनुभव था।

जब हम बंबई में घर पहुंचे तो पिताजी मेरी बहन[1] से बोले, "देखो, कलकत्ते से मैं तुम्हारे लिए क्या लाया हूं।" मुझे देखकर सबको बड़ा ही आश्चर्य हुआ।

पिताजी के स्नेह से किसीका बचना असंभव था। जो भी उनके संपर्क में आता, उसके दिल पर असर हुए बिना नहीं रहता था। आज सालों के बाद भी जब पिताजी के बारे में सोचती हूं तो उनका प्रेमल स्वभाव, जो विनोद से ओतप्रोत था, उनका हँसता चेहरा, जिसपर कभी शिकन न आई थी, उनकी तीखी आंखें, जो मन के अंतरतम को ताड़ लेती थीं, निगाह के सामने आ जाती हैं और उनकी भव्य मूर्ति के सामने अनायास नतमस्तक हो जाती हूं।

[1] श्रीमती सावित्री बजाज, श्री कमलनयन बजाज की पत्नी।

: ९९ :

ईश्वरी प्रेरणा

कमलनयन बजाज

उत्तरायण, बुधवार, ११ फरवरी १९४२, एकादशी का दिन। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद भीष्मपितामह अपने नाशवान शरीर को छोड़ने के लिए जिस दिन की राह देख रहे थे, वही यह पवित्र दिन था। पितामह के स्वर्गारोहण के दिन की सारी अनुकूलताएं उस दिन भी थीं। बुधवार विशेष में था। ऐसा था वह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और पौराणिक पावन पर्व !

मैं अपनी शक्कर मिल के आफिस में दोपहर के समय बैठा अपने मैनेजर श्री आनन्दकुमारजी नेवटिया के साथ मिल-संबंधी बातें कर रहा था। दूसरे रोज मेरा लाहौर जाना जरूरी था। वहां मैंने अपनी कंपनी के बोर्ड आफ डायरेक्टर्स की महत्वपूर्ण मीटिंग बुला रखी थी। लाहौर का रिजर्वेशन कराने के लिए कुछ रोज पहले कह रखा था। रिजर्वेशन मिल नहीं रहा था पर जाना तो अनिवार्य था।

मेरे मन में एक प्रकार की बेचैनी थी। घबराहट भी कहें तो गलत न होगा। कुछ महत्वपूर्ण कामों की बातों में हम दोनों लगे हुए थे। एक बड़े सवाल का हल चर्चा में से निकलता-सा दिखाई दिया। मेरे बड़े बहनोई रामेश्वरप्रसादजी नेवटिया ही शक्कर की मिल को शुरू से संभालते आये हैं। वे कलकत्ता किसी खास मीटिंग के लिए गये हुए थे। मीटिंग के पूर्व हमारी चर्चा का सार उन्हें बताना जरूरी मालूम दिया, जिससे उस नए दृष्टिकोण से भी वे सोच लें और उस महत्वपूर्ण मसले की बाबत अपनी राय, लोगों से मिलने और मीटिंग में जाने से पूर्व, कायम कर लें। आनंदकिशोरजी और मैं बातचीत में संलग्न थे कि इतने में मिल का कर्मचारी पूछने आया कि लाहौर का रिजर्वेशन मिल रहा है, उसको पक्का करा लिया जाय ?

आनन्दकिशोरजी पर कुछ ऐसा असर हुआ दिखाई दिया कि यह भी क्या पूछने की बात थी ? वह क्या जानता नहीं था कि जाना जरूरी है ? लेकिन वे तो कुछ बोले नहीं, मेरे मुंह से चट निकल गया, "रहने दो, पता नहीं किधर जाना पड़े ।" कर्मचारी तो चला गया, मैं स्वयं भी अचंभे से देखता रह गया कि मैंने क्या कह दिया । मनमें आया कि कर्मचारियों को रोककर रिजर्वेशन करने की कह दूं । लेकिन न जाने क्यों जबान नहीं खुली । वह चला गया और उसने रिजर्वेशन के लिए इन्कार कर दिया ।

मेरे मन की बेचैनी बढ़ रही थी । तरह-तरह के विचार मन में आ रहे थे । करीब दस रोज पहले मैंने वर्धा छोड़ा था । वहां से कलकत्ता, डालमियानगर, बनारस होता हुआ अपनी मिल पर गोला गोकरणनाथ आया था । वर्धा से निकलने के पहले दिन शाम को काकाजी (पिताजी) से बजाजवाड़ी में मिलने गया । मैं शहर के मकान में रहता था । करीब ५॥ महीने पहले उन्होंने गौ-सेवा का व्रत लिया था । उसीमें उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगाने का निश्चय करके छ: महीने के लिए रेल, मोटर आदि यंत्र-चालित साधनों का उपयोग न करने का नियम लिया था । उनका वह नियम १३-१४ फरवरी को पूरा हो रहा था और १५ फरवरी को उन्होंने बम्बई पहुंचने का कार्यक्रम बनाया था । व्यापार के हर काम से वे इस बीच पूरी तरह से निवृत्त हो चुके थे । इतना ही नहीं व्यापार-संबंधी जानकारी प्राप्त करना या कोई सलाह आदि देना भी उन्होंने बंद कर दिया था । गो-सेवा के प्रचार के वास्ते ही वे बाहर निकल रहे थे और उसीमें पहला मुकाम बम्बई था । मैंने भी अपना कार्यक्रम इस तरह से बनाया था, जिससे अपने व्यापारिक कार्य को पूरा कर मैं भी १५ तारीख तक काकाजी के पहुंचते-पहुंचते बम्बई पहुंच जाऊं और उनका मददरूप हो सकूं । मेरे इस कार्यक्रम की जानकारी उनको थी ।

काकाजी ने कभी किसी बात को जीवन में मुझसे 'ना' नहीं कहा था । अपनी राय वे दे देते थे अथवा कार्य होने के बाद में उसके अच्छे-बुरे की स्पष्ट चर्चा कर लेते थे । उनके प्रति मेरी भक्ति निर्मल और आदर अटूट रहा है ।

मैं उनसे मजाक कर लिया करता था, लेकिन जीवन में उनके आदेश की मैंने कभी अवहेलना नहीं की थी। उनका भी मुझपर असीम स्नेह और विश्वास था।

इन्हीं दिनों कुछ मेरी व्यापारिक नीति की वजह से, जिससे कि काकाजी सहमत नहीं थे, मेरे बारे में कुछ असंतोष रहने लगा था। साथ ही एक घटना ऐसी होगई थी, जिससे उनके मन में कुछ गलतफहमी पैदा होगई थी—कुछ अंश में उसमें मेरी गलती थी, जिसका उन्हें दुःख था। उस संबंध में हमारी थोड़ी बात हो चुकी थी। पूरी बात करने का मौका वर्धा में नहीं मिल रहा था। मैंने सोचा कि बम्बई में सारी बातें कर लेंगे। काकाजी ने भी शायद वही अधिक अनुकल समझा, क्योंकि वे वर्धा में बहुत अधिक व्यस्त रहते थे।

हर तरह की चर्चा वे मुझसे किया करते थे, सलाह भी लेते थे, अपने और मेरे गुण-दोषों की भी जानकारी मुझे देते थे और समय-समय पर चर्चा भी कर लेते थे। पिता-पुत्र का ऐसा निकट का संबंध मेरे देखने म नहीं आया। उनका बड़प्पन था कि इस संबंध को उन्होंने मित्रता के रूप में पूरी तरह से परिवर्तित कर दिया था। लेकिन इसके लिए मैं अपने को पात्र बिल्कुल नहीं समझता था।

फिर भी जब मैं उनसे मिला और दूसरे रोज सुबह ही कलकत्ता मेल से मुझे जाना था, इसलिए मैंने विदा-सूचक प्रणाम किया तो वह बोले, "कब जा रहे हो ?"

"सुबह मेल से।" मैंने उत्तर दिया,

"क्या करेगा जाकर?"

काकाजी के इस सवाल से मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि एक तो वे जानते थे कि काम बड़ा जरूरी है, दूसरे इस तरह से कहने की उनकी आदत नहीं थी।

मैंने कहा, "आप कहते हों तो न जाऊं।"

वह बोले, "तुम्हारा कार्यक्रम बन चुका है। तुम्हारा कर्तव्य जाने में ही है। हो सके तो सुबह मिलते हुए जाना। फिर भी मिलना शायद ही हो।"

दूसरे दिन मैं सुबह जल्दी ही तैयार होकर गया, लेकिन कोई अड़चन हो जाने से मिलना हो न सका। गाड़ी का समय हो चुका था। मुझे चला जाना पड़ा। मां से कह गया कि मेरा प्रणाम कह दें। काकाजी से इस तरह की बातचीत का मेरे मन पर गहरा असर था। कुछ महीनों से उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा होगया था। शायद वर्षों में ऐसा न रहा हो। चेहरे पर तेज था। मन की स्थिति भी बहुत उन्नत थी, शायद जीवन में वैसी पहले कभी न रही हो। हां, पू. बापूजी की तबीयत कमजोर थी। कुछ हफ्तों पहले चिन्ता का कारण होगया था, लेकिन अब वैसा भय नहीं रहा था।

ऐसी मनोदशा में मैंने वर्धा छोड़ा। कलकत्ते का काम करके मैं डालमिया-नगर गया। वहां श्री रामकृष्णजी डालमिया से बातचीत होते समय उन्होंने कहा कि 'भृगुसंहिता' के अनुसार इस साल जमनालालजी के जीवन को गहरा खतरा है। मैंने कहा कि यदि खतरा था तो वह जेल में पूरा हो चुका, वहां वे करीब-करीब चले ही गए थे। उनके खुद के शब्द थे कि जब उन्हें जीने की आशा नहीं रही तो उन्होंने बापूजी का स्मरण कर विनोबा को हृदय से प्रणाम किया और रामनाम लेते हुए मूर्च्छित होगए। उन्हें इस बात की तसल्ली थी कि आखिरी समय किसी प्रकार के मोह, लालच, भय आदि विकार ने उनको नहीं सताया और आनन्द से जाने की उनकी तैयारी होगई थी। मैंने रामकृष्णजी से यह सब कहा, लेकिन फिर भी उनको डर था कि खतरा टला नहीं है। खतरा उनका ५३ वर्ष की अवस्था तक है। अभी कई महीने बाकी हैं और इसकी उन्हें पूरी चिंता है।

यही विचार मेरे मन में घूमता रहा। 'भृगुसंहिता' पर मेरा विश्वास नहीं था। काकाजी को भी वे साल-दो-साल पहले कह आये थे। उन्हें तो ऐसी बात की चिन्ता ही नहीं होती थी। हमेशा कह दिया करते थे कि मरना तो एक दिन अवश्य है, उसके लिए हर वक्त तैयार रहना चाहिए। फिर भी मन की बेचैनी बढ़ती गई। ये सारे विचार दिमाग में उलट-पुलट आते रहे।

इतने में कलकत्ते से टेलीफोन आया। खयाल था कि वह रामेश्वरजी का ही होगा। आनन्दकिशोरजी नजदीक थे। उन्होंने ही उसे उठाया।

टलीफोन रामेश्वरजी का ही था। उन्होंने बहुत ही कांपती हुई आवाज में कहा, "वर्धा से बहुत ही खराब खबर है।" पास होने की वजह से मुझे भी उनकी आवाज सुनाई पड़ रही थी। मेरा दिल सन्न होगया, कंपकपी आगई।

मन में यही डर विचार हुआ कि कहीं बापू को कुछ न होगया हो। ऐसा हुआ तो अनर्थ हो जायगा। भगवान करे, इससे तो काकाजी को कुछ होगया हो तो चलेगा, लेकिन बापू को इस समय कुछ नहीं होना चाहिए। इस तरह के भाव मेरे मन में गुजरे कि तुरन्त रामेश्वरजी की आवाज़ फोन पर सुनाई दी कि जमनालालजी नहीं रहे। मेरी आंखों में अंधेरा छा गया। आसमान ही मुझपर टूट पड़ा। अंदर से एक आवाज कहने लगी कि तूने ही बापू के बदले काकाजी का जीवन दिया है। अब इसका दुख कैसा! उस अन्तर-आत्मा की आवाज को मैंने कई बार कोसा भी और कहा कि तेरी नीति ठीक नहीं, इसी तरह तूने हरिश्चन्द्र को दरिद्री बनाया, आदि-आदि, फिर भी मन में अजीब प्रकार का धर्म-संकट पैदा हो गया। बापू के न जाने की तसल्ली थी। काकाजी की छत्रछाया टूट चुकी थी, उसका क्लेश था। मन में इस विचार ने बल पकड़ा कि जो कुछ हुआ, इसमें दुःख मनाने का कोई कारण नहीं। काकाजी का जीवन उन्नत रहा और सफल रहा। उनके चले जाने में उनका भला हो सकता है। हमें दुःख हमारे मोह और स्वार्थ से होता है, आदि विचारों की शृंखला बन गई। आनन्द-किशोरजी ने पूछा, "मिल बन्द कर दें?" मैंने कहा, "काकाजी गए, पर उनके काम जैसे-के-तैसे चालू रहने चाहिए।" लेकिन यह उन्हें ठीक न लगा। मेरी भी आग्रह करने की वृत्ति नहीं थी। मिल बन्द कर दी गई।

लखनऊ से 'नेशनल हैरल्ड' द्वारा भी यही समाचार मिले। वर्धा, बम्बई, टलीफोन नहीं हो सके। मैंने तुरन्त वर्धा के लिए चल पड़ने का निश्चय किया। समय कम था, मोटर से रवाना हुआ। नहर का रास्ता सहूलियत का होने से उसी रास्ते जाने का तय किया। पूर्व-सूचना न दे सकने की वजह से रास्ते के दरवाजे बन्द मिलने की पूरी आशंका थी। पर उसी रास्ते जाने से ही समय

पर पहुंचने की संभावना हो सकती थी। संयोग से लगभग सभी दरवाजे खुले मिले। दो दरवाजे बन्द थे, उनके बगल से मोटर के निकल जाने की गुंजाइश थी। ड्राइवर ने गाड़ी बड़ी तेजी और सावधानी से चलाई और काफी पहले लखनऊ ले आया। रिजर्वेशन हो चुका था। थोड़ा समय होने से, 'नेशनल हैरल्ड' के आफिस में चला गया, पर वहां से अधिक जानकारी नहीं मिली।

स्टेशन पर मालूम हुआ कि माता आनन्दमयी भी उसी गाड़ी से जा रही हैं। काकाजी उनके पास रह गए थे और उनके अशांत मन को उनके पास रहने से शांति मिली थी। मैं उनके डिब्बे में गया। उन्हें प्रणाम कर काकाजी के चले जाने के समाचार दिये। उनके साथियों में भी दु:ख का वातावरण छा गया। माताजी को विशेष आश्चर्य या दु:ख नहीं हुआ। उन्हें शायद मालूम था कि वे जानेवाले थे। काकाजी के आग्रह पर इस तरह का इशारा भी उन्होंने काकाजी को किया था, यह काकाजी की डायरियों से बाद में पता चला। माताजी ने कानपुर की टिकटें मंगवाने का आदेशमात्र दिया था। कोई नहीं जानता था कि वे कहां जा रही हैं ? मैंने उनसे प्रार्थना की कि वर्धा चलें। उन्होंने इतना ही कहा कि जिधर मालिक की मरजी होगी, वहीं जाना होगा। लेकिन वर्धा फिर कभी आ जाने का वचन उन्होंने दिया। माताजी उस समय तो नहीं आईं, पर दो-चार रोज बाद वर्धा आगईं। उससे खासकर मां तथा हम सबको बड़ी तसल्ली रही और अच्छा रहा।

काकाजी के जानकार एक वयोवृद्ध सज्जन लखनऊ से ही उसी डिब्बे में सवार थे। भुसावल जा रहे थे। उन्हें तबतक कुछ भी पता नहीं था। मेरे मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प चल रहे थे। उनसे काफी बातचीत होती रही। मैंने उन्हें काकाजी के बारे में कुछ नहीं कहा।

दूसरे रोज अखबारों द्वारा उन्हें जानकारी मिली। वे रोने लगे। मुझे ही उन्हें तसल्ली देनी पड़ी। भुसावल से वे आगे चले गए, और गाड़ी बदलकर मैं वर्धा १३ तारीख की सुबह पहुंचा। एक रिश्तेदार भुसावल से साथ हो लिये थे। वे खबर सुनकर इंदौर से आ रहे थे। उन्होंने सिर के बाल दे दिये। मुझसे भी बाल देने का आग्रह किया। मैंने कहा, "बालों को देने से क्या होगा ?"

उसी तरह घर पहुंचा। सावित्री से मालूम हुआ कि सबकुछ हो चुका है। न तो उसे विशेष बोलने की हिम्मत थी, न मुझे ही कुछ पूछते बन पाता था। स्नान आदि करके सीधा गोपुरी गया। वहां माताजी तपस्विनी की तरह बैठी थीं। उनको प्रणाम किया और लिपट गया। मन में डर था कि मां से कैसे मिलूंगा? वहांका वातावरण देखकर मुझे बहुत अच्छा लगा और मेरा भी ढाढ़स बंधा। होम, हवन, प्रार्थना, गीतापाठ आदि रोजाना बारहवें दिन तक बराबर चलते रहे। कुछ स्वामी अचानक उन्हीं दिनों के लिए आगये थे। उन्होंने होम, हवन आदि का कार्यक्रम बहुत अच्छी तरह चलाया। उन्हें न तो पहले हमने कभी देखा था, न बाद में। पिताजी के फूल कैलास पर चढ़ाने और मानसरोवर में प्रवाहित करने के लिए लेकर वे अचानक चले गये। उसके बाद उनसे कभी मिलाप नहीं हुआ।

काकाजी चले गये। सारी वर्धा नगरी रो पड़ी। सारा देश विह्वल हो गया। बजाजवाड़ी के पीपल के बढ़ते हुए वृक्ष को कटवाकर उसकी लकड़ियां रखी हुई थीं। दादीजी के, जिनकी अवस्था उस समय अस्सी के ऊपर थी, तीनों लड़के उनके सामने ही चल बसे। काकाजी उनके दूसरे लड़के थे, पर जानेवालों में आखिरी थे। दादीजी से कहा करते थे कि तेरे लिए पीपल की लकड़ियां बटोर रखी हैं। तू निश्चिंत रह। वे लकड़ियां उन्हीं के काम आईं। बड़े दादा बच्छराजजी के समय के मंगवाये हुए गंगा-जल के कई हांडे थे, उन्हीं में से एक बचा रह गया था। वह काकाजी के काम आया।

काकाजी ने कुछ महीनों पूर्व गोपुरी में घूमते समय एक स्थान पर खड़े होकर अचानक मुझसे कहा था कि मेरी समाधि यहां होगी, और इशारा करते हुए कहा कि था कि यह बीच की और कुछ उठी हुई जगह है। इधर महिलाश्रम काकावाड़ी है, यह विनोबाजी की नालवाड़ी है, उधर बापू का सेवागांव है, उधर मगनवाड़ी है। बापू जब सेवाग्राम से वर्धा आते-जाते रहेंगे तो यहां से मुझे उनके दर्शन होते रहेंगे। चारों तरफ मेरी नजर रहेगी। मुझे दुख था कि काकाजी की इस इच्छा को मैंने किसी से व्यक्त नहीं किया था। मुझे क्या पता था कि मैं ऐसा अभागा होऊंगा कि उस आखिरी दिन उनके दर्शन मुझे

नसीब न होंगे। मैंने गोला से वर्धा का टेलीफोन मांगा था पर न मिला। समय जा रहा था, मैं अधिक ठहर नहीं सका। शाम होने आई थी। आनन्दकिशोर-जी से कहकर मुझे चला आना पड़ा। वर्धा आने पर पता चला कि दाग देने का जब सवाल खड़ा हुआ तो कई जगह सोची गईं। मदालसा ने फिर उसी स्थान की सूचना की जो बापू आदि सभीको सुहाई। मदालसा को काकाजी की ही आत्मा ने प्रेरणा दी होगी ? अन्यथा उसको जानकारी नहीं थी। यह जानकर कि उनका दाग वहीं हुआ, मेरे सिर से एक भारी बोझ हट गया। पवित्र आत्माओं की इच्छा-पूर्ति ईश्वरीय प्रेरणा से ही होती है। हम उसको पूरी करनेवाले कौन ? यह विचार मेरे मन में घर कर गया।

• • • • • •

पूज्य काकाजी के वियोग ने मुझे जितना सावधान किया है उतना अपने जीवन में मैं कभी नहीं था। मेरे जीवन पर सबसे ज्यादा असर भी उन्हींका था। उनकी उपस्थिति में मैं अपने निडर स्वभाव के कारण इतना निडर हो चुका था कि अपनी कमजोरियों से भी मैं निडर रहता था। उनके छत्र के नीचे हमारी कमजोरियां दबी-छिपी और फूलती-फलती भी रहीं। वे ही थे जो हमारी कमजोरियों को सहन कर सकते थे। अब वे कमजोरियां नागवार होती हैं।

गुरुजनों के प्रम और आशीर्वाद से यद्यपि हम लोग धीरज और शांति से इस महान् आपत्ति को निबाह लेगये, फिर भी अपने-आपको हम लोग अभी भी नहीं सम्भाल सके हैं। मां की हिम्मत को देखकर तो हम सभी दंग रह गये। यह उनकी हिम्मत थी कि जिससे हम लोग ही क्या, हरकोई कुछ समय के लिए भूल जाता था कि कुछ हुआ भी है। पू० काकाजी के बाद हममें भला कौन ऐसा है, जो उनकी कमाई हुई इज्जत को उसी मेहनत और चिंता के साथ बनाये रखे ? डर तो लगता ही है; परन्तु उन्होंने जो काम किये, वे पूरे ही किये और इस तरीके से कर गये कि उनके बाद भी वे आसानी से चलाये जा सकें। मुझे तो पूरा विश्वास है कि उनके सारे काम उसी तरह से चलते रहेंगे, जिस तरह कि वे करते आये।

: १०० :

उनके जीवन का अंतिम ध्येय

जानकीदेवी बजाज

व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेनेवाले का जेल से छूटने पर पुनः जेल जाना आवश्यक था, लेकिन बीमार आदमी सत्याग्रह में भाग नहीं ले सकता था। इस सत्याग्रह के प्रथम सत्याग्रही विनोबाजी चुने गये थे। इसके बाद तो एक-एक करके अनेक लोग जेल जाने लगे।

जमनालालजी का स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उनको एक महीना पूर्व ही जेलवालों ने छोड़ दिया। बापूजी ने आराम करने को कहा, लेकिन उन्होंने कहा कि मैं बिना काम किये कैसे रह सकता हूं ? मुझे तो किसी-न-किसी काम में लग ही जाना चाहिए। बापूजी ने कहा कि कम-से-कम जेल की अन्तिम अवधि तक तो यह मानकर आराम करो कि अभी जेल में ही हो, मुद्दत पूरी होने के बाद काम के बारे में सोचेंगे। इसके बाद बापू ने उन्हें राजकुमारी अमृतकौर के यहां शिमला भेजा। उनकी बड़ी भारी कोठी है। राजकुमारीजी जमनालालजी का बहुत खयाल रखतीं। उनको आराम मिले, इसलिए उन्होंने जरूरत से ज्यादा व्यवस्था की, लेकिन जमनालालजी को संकोच होता कि राजकुमारीजी पर मेरा बोझ पड़ रहा है। बड़ी मुश्किल से किसी तरह पंद्रह रोज निकाले। लेकिन जेल की अवधि समाप्त होने में तो अभी पंद्रह दिन और बाकी थे।

जमनालालजी ने वहींसे बापू पर अपनी इच्छा प्रकट की, मुझे ऐसी आध्यात्मिक मां मिलनी चाहिए जो मुझे अपनी गोद में सुला सके। बात बड़ी विचित्र थी ! और तो सबकुछ मिल सकता है, परन्तु मां कहां मिल सकती है ? बापू ने कहा, "पहाड़-जैसे लड़के को गोद में सुलानेवाली मां कहां मिलेगी ?" फिर भी बापू ने उनको लिखा कि शिमले से लौटते समय

देहरादून म कमला नेहरू की गुरु-मां आनन्दमयी से मिलते हुए आना। जमनालालजी लौटते हुए वहां गये। गये तो थे केवल दो घंटे के लिए, पर रह गए दो दिन। वहां उनका मन लग गया। वहां के वातावरण से वह बहुत प्रभावित हुए। माता आनन्दमयी के पास उन्हें शांति और प्रसन्नता का अनुभव हुआ। उनकी चर्चा अत्यन्त सात्विक, प्रसन्न और तेजस्वी थी। वहां के धार्मिक और भक्तिपूर्ण वातावरण में जमनालालजी ने अपनी वृत्ति के अनुसार कर्मयोग का कार्य शुरू करवा दिया। माता आनन्दमयी से उन्होंने चर्चा की कि धार्मिक कार्यों के साथ गांधीजी के विधायक काम चलें तो बहुत अच्छा। माताजी ने इसे स्वीकार कर लिया। अब क्या था! वहां अब हिन्दी की कक्षाएं, खादी का काम, चरखा आदि शुरू करवा दिये गए।

माता आनन्दमयी के पास हरएक भक्त एकांत समय में आत्म-निवेदन करता था। एक दिन जमनालालजी ने भी समय मांगा। उन्होंने कहा, "मां, क्या मैं आपकी गोद में सो सकता हूं?" माता आनन्दमयी ने कहा, "मां की गोद में सोने में क्या हर्ज है?" बस जमनालालजी आंखें मूंदकर माताजी की गोद में ऐसे सो गये, मानों कोई प्रेत पड़ा हो। थोड़ी देर बाद आंखें खोलकर उन्होंने कहा, "अगर इस समय मेरे प्राण भी छूट जायं तो कोई बात नहीं। मेरा अब किसी भी बात में मन नहीं रहा।" उनकी आध्यात्मिक मां की भूख आनन्दमयी की गोद में सोने से पूरी होगई। जमनालालजी ने माता से तीन बातों की मांग की:

१. मेरी इच्छा है कि आश्रम के निकट जमीन लेकर मकान बनवाऊं, ताकि कोई कार्यकर्त्ता आराम तथा मानसिक शांति प्राप्त करना चाहे तो उसे भेजा जा सके।

२. मुझे 'सेठजी' के नाम से संबोधित न किया जाय, कोई छोटा-सा नाम हो।

३. मैं तभी जलपान करूंगा जब आप बताओगी कि मेरी मृत्यु कब होगी।

पहली बात की स्वीकृति आसान थी, दूसरी बात की मांग में माताजी

ने 'भैया' शब्द चुन लिया ; लेकिन तीसरी मांग बड़ी कठिन थी। माताजी ने कहा, "यों मृत्यु का समय तो किसीको बताया नहीं जाता। हां, आदमी को यह समझना चाहिए कि हर क्षण उसके सिर पर उसकी मौत खड़ी है।" इससे जमनालालजी का समाधान नहीं हुआ। बोले, "यह तो ठीक है, पर समय बताओ।" आखिर माताजी ने कहा, "छह महीने की तैयारी से काम करो।" इस वचन पर जमनालालजी को दृढ़ श्रद्धा होगई, ऐसा लगता है। उनकी डायरियों में मिलता है कि छह महीने तक वर्धा छोड़कर नहीं जाना, रेल या मोटर में नहीं बैठना। यह निर्णय उन्होंने १५ अगस्त १९४१ से १५ फरवरी तक के लिए किया।

इन दिनों उनका आत्म-मन्थन बड़ी तेजी से चल रहा था। वह व्यापारिक तथा अन्य कार्यों से निवृत्त होगए और अपनी व्यापारी बुद्धि के अनुसार ऐसा हिसाब बैठाया कि यदि इन छह महीनों में जाना पड़ा तो उसकी तैयार रहे। ऐसी साधना करें कि अधिक-से-अधिक समय पारमार्थिक कामों और चित्त-शुद्धि में लगे और यदि आगे रहना पड़े तो आदतें सुधर जायं। इसलिए घर-बार से निवृत्ति लेकर जीवन को ऐसे कामों में लगाया, जिससे उनका आत्मीय भाव मूक प्राणियों तक बढ़े। इसीलिए उन्होंने गो-सेवा को चुना। मानव-सेवा में कहीं-न-कहीं कुछ संघर्ष होना संभव है। जमनालालजी संपूर्ण चित्त-शुद्धि में लग गए। हर क्षण का सदुपयोग करने के प्रयत्न में रहे।

जब उनकी जन्म-तिथि आती तब वह अपने पिछले साल का लेखा लेते और नए साल में पदार्पण करते समय अच्छे संकल्प करते। वे संकल्प पूरे हों, इसलिए प्रातःकाल की प्रार्थना के बाद गुरुजन के आशीर्वाद लेते। उसके बाद ही जलपान करते।

बापूजी की सलाह से जमनालालजी ने गो-सेवा का कार्य अपने लिए पसन्द किया और 'गो-सेवा-संघ' की स्थापना करके वह उस काम में लग गए। उन्होंने अपने-आपको इस काम में इतना तल्लीन कर लिया कि उन्हें गो-सेवा के सिवा दूसरे काम की बात ही नहीं सूझती थी। यों गो-सेवा-संघ की स्थापना अक्तूबर १९४१ में हुई थी और उसके वह अध्यक्ष

बने थे, पर उसकी तयारी तो उन्होंने इसके पहले ही कर ली थी।

वे चाहते थे कि अपना बचा हुआ जीवन प्राचीन ऋषियों की तरह कुटिया में बितावें। इसलिए एक कुटिया गोपुरी के पास बनाकर रहना चाहते थे, जहां रहकर वे गो-सेवा और आत्मचिंतन में समय बितावें। उन्होंने कुटिया बनाना शुरू करा दिया था और ताकीद कर दी थी कि वह जल्दी-से-जल्दी बन जाय।

रात को उनको जल्दी उठने की आदत थी। एक रोज वह ३ बजे उठे और लालटेन लेकर शौच गए। उनके हाथ से लालटेन गिर गई और उसका कांच टूट गया। इसपर उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उस रोज अपनी डायरी में लिखा—"मैं कैसा आदमी हूं कि मेरे द्वारा दूसरे को कष्ट होता है, मेरा बोझ दूसरे पर होता है!" जमनालालजी को इन दिनों दूसरों का भी बहुत खयाल रहता था। वह किसीका जरा भी नुकसान बरदाश्त नहीं कर सकते थे। जरा भी भूल होती तो उसका उनके मन पर बहुत असर रहता था।

जैसी-तैसी अधूरी बनी झोपड़ी में दूसरे दिन ही वे रहने चले गए। उन्हें पूरा एकान्त चाहिए था। इसलिए मैं भी डरती हुई वहां उनके पास रहने नहीं गई, क्योंकि मैं उनके खाने-पीने की या आराम की चिंता करूं, यह उनको बरदाश्त नहीं होता था। वहां उन्होंने अपने पास 'कौसल्या' नाम की एक गाय रक्खी थी। हाथ-मुंह धोकर वे उसकी सेवा करते, उसके बदन को सहलाते। फिर वह अपनी मां के पास चले जाते और उनकी गोद में अपना सिर रखकर भजन सुनते और डायरी लिखते। उसके बाद प्रार्थना करके घूमने जाते। घूमते हुए सबसे मिलते, सुख-दुःख की बात पूछते और जिससे खास बात करनी होती, उसे साथ ले लेते। इस प्रकार रात-दिन जमनालालजी का चिन्तन गो-सेवा-संबंधी कामों का ही चलता। कोई व्यापार की बात करता तो कहते—"मेरे साथ व्यापार की बात मत करो।"

कुटिया का नाम 'जानकी-कुटीर' रखा था।

इसी बीच राधाकृष्ण खादी के काम से सीकर जाने लगा तो मैं भी उसके साथ चली गई। वर्धा में जमनालालजी का नया जीवन-क्रम देखकर

मन कुछ खिन्न रहन लगा था। मैं उनके काम में सहयोग तो दे नहीं पाती थी, इस कारण मन के बहलाने के विचार से ही सीकर गई थी।

कुछ दिन बाद रामकृष्ण (सबसे छोटा पुत्र) लेने आया। मैं वापस वर्धा पहुंची।

मेरे लौटने पर जमनालालजी बड़े खुश हुए और हंसकर बोले, "जानकी-जी, आगईं !" उन दिनों जमनालालजी नेत्र-यज्ञ तथा गो-सेवा-सम्मेलन के कामों में व्यस्त थे। मैं बंगले पर रहने लगी। एक दिन वह बोले—"तेरा क्या मन है ? सेवाग्राम बापू के पास जाना हो तो वहां जा सकती हो। कुटिया पर आना हो तो कुटिया चलो।" मैंने कहा, "मैं तो कुटिया में चलूंगी।" जमना-लालजी बोले, "ला, अपना बिस्तर टमटम में रख।" मेरी तो मनभाती बात होगई। जल्दी-जल्दी बिस्तर लपेटकर मैंने टमटम में रखा और गोपुरी पहुंच गई। हम दोनों वहां पांच रोज ही साथ रह पाये।

कुटिया में पहुंचने पर जमनालालजी को किसी तरह कष्ट न हो या अशांति न हो, इसका मैं पूरा ध्यान रखने लगी। वह जल्दी उठते थे, मेरी आदत कुछ देर से उठने की थी। वह उठ जायं और मैं सोती रहूं, यह अच्छा नहीं, इसलिए मुझे ठीक से नींद न आती। हमेशा यही खयाल बना रहता कि कहीं वह उठ तो नहीं गए। इसलिए मैंने उनसे कहा कि आप उठ जाया करें तो मुझे भी उठा दिया करें। तबसे वह उठने पर मुझे जगा देते। मैं भी उठ-कर जैसा वह करते, करने लगती। मेरा मन किसी काम में लगा रहे, इस खयाल से गो-सेवा के लिए आये हुए एक साधु से उन्होंने कहा कि जानकी-देवी को सितार सिखा दो। मैं सीखने लगी, लेकिन जमनालालजी रात-दिन गो-सेवा के काम में ही लगे रहते थे।

गो-सेवा के कार्य को और बढ़ाने की दृष्टि से जमनालालजी ने बापूजी की सलाह से एक 'गो-सेवा-सम्मेलन' का आयोजन किया। सम्मेलन सफ-लतापूर्वक हुआ। उसमें सारे हिंदुस्तान से लोग भाग लेने आये।

इस सम्मेलन के तीसरे दिन ही उनकी जीवन-लीला समाप्त होगई।

: १०१ :

अंतिम झांकी

मातादीन भगेरिया

वर्धा में ३१ जनवरी को मिलते ही मुंह और कंधे पर दो-चार दुलार के चपत लगाकर वे बोले—"अकेला ही आगया न ! केसर (लेखक की पत्नी) को नहीं लाया ! अब सजा मिलेगी । जितना अवकाश निकालकर आया है उससे दुगुने दिन यहां खदेड़ूंगा । अच्छा, हाथ-मुंह धो लिया, पेट साफ होगया ? दूध ले चुके ? ठीक, तो आज नालवाड़ी, मगनवाड़ी, महिलाश्रम वगैरा सब जगह घूम लो । शाम को मेरे साथ कुटिया तक घूमने चलना है ।"

उन दिनों वे वर्धा के बाहर नालवाड़ी के पास एक झोंपड़े में कर्मशील वानप्रस्थ की जिन्दगी बिता रहे थे। रात के ९ बजे सोकर सुबह अढ़ाई-तीन बजे उठ जाते । शौचादि से निवृत्त होकर नियमित प्रार्थना और गीता-पाठ द्वारा भक्ति की भीख से अन्तर की झोली भर लेते । ब्राह्म वेला में, प्रभु के लीलाजिर नीलाम्बर पर अरुण उषा के आने के पहले ही, जब मुक्त-केशा मायारानी की सहेली रात, कलामंजूषा के मोतियों से चौक पूरकर, हरि-चरणों में बैठी मन्द मलयानिल का पंखा झलती है, ऐसे पुण्यकाल में वह भगत सेठ प्रार्थनाभरे हृदय के अरघे से विनय-अर्घ्य देता हुआ, सुधा-संचय करता था । सुबह चार बजे जब मैं उनको छोटे-से काठ के तख्ते पर छोटी-सी लालटेन के क्षीण प्रकाश में ध्यानस्थ पाठ करते देखता तो सोचता—लाखों की मिल्कियतवाला सेठ क्या यही सीधा गरीब आदमी है ? किन्तु अपने सरल, सरस और अकिंचन हृदय के सहारे ही वह लाखों के धन का ट्रस्टी अपने संग्रह-भार को कर्त्तव्य-दृढ़ कंधों पर झेल रहा था । पर बोझा तो था ही और मन भी जैसे दबा रहता था । निर्बलता भी थी, पर विनीत स्वीकार की उर्वरा भूमि को पाकर वह पोषक धान की हरियाली

के हरे-भरे खेत का प्राणद बल बनने में गतिमय थी। कई बार वैराग्यमयी अध्यात्म-भावनापूर्ण त्याग के प्रेरणात्मक संदेश दे जाती थी।

.. .. ..

मृत्यु के पहले दिन की संध्या को मैं उनके साथ घूम रहा था। उस दिन, दिनभर रात के नौ बजे तक मैं उनके साथ रहा था। शाम को घूमते हुए मेरी कुछ घरेलू बातचीत के सिलसिले में अपरिग्रह की चर्चा चल पड़ी। सहसा मैंने एक कठोर सवाल कर डाला। उन्होंने दृढ़ता से पर तनिक वेदना-भरे स्वर में जो कहा, उसे मैं क्या, शायद ही कोई आजीवन भूल सके। वे बोले—"मैं सोचता हूं, तुम्हारे मन में यह पुराना सवाल रहा है, तुमने जयपुर में ही क्यों न पूछा? पर आज तुम्हें सब बताऊंगा। महाबीरप्रसाद पोद्दार तो इस संबंध में बहुत जानते हैं। तुमने कभी जानना चाहा ही नहीं। एक-दो बार कामकाज के बारे में तुमसे बात हुई भी, पर तुमने विशेष उत्साह नहीं दिखाया। आज तुमने पूछा, मुझे खुशी हुई। किस युक्ति के आधार पर मेरा मन संग्रह को झेल रहा है? पूरी तरह तो मुझे खुद भी नहीं मालूम है, लेकिन तुम विश्वास मानो, मुझे धन से मोह तो कभी नहीं रहा, आंशिक निर्बलता तो रही है। मुझे कई लाख सालाना की आय भी रही है। जहांतक बना मैंने खुले-दिल से दिया है।" मुझे खुद अब अपने सवाल से तकलीफ होने लगी थी। अतः बीच में ही मैं बोल उठा—"बस अब रहने दीजिए। मुझे आपकी लगभग सब बातें मालूम हैं।" वे बोले—"नहीं, तुम्हें पूरा नहीं मालूम हो सकता। अखबारों या सुनी-सुनाई बात से तुम्हारी जानकारी है। यह समझ लो तुम्हारी जानकारी के अलावा भी बहुत-सी बातें हैं। फिर किसी दिन मुझसे या महाबीरप्रसाद से तुम्हें जान लेना है। जब तुम मेरे इतना नजदीक आगये हो तो मेरा बुरा-भला सब तुम्हें मालूम होना चाहिए। इन दिनों संग्रह का सवाल मुझे भी कुछ तंग करने लगा था। पिछले दिनों मैंने जायदाद का एक सेटिलमेंट किया है। कानूनी कठिनाई बहुत थी, वरना मेरी इच्छा तो उसे और भी काफी उदार करने की थी।" और फिर उन्होंने संक्षेप में अपनी जायदाद की व्यवस्था का ब्यौरा बताया और

जैसे कुछ अपने ही से कह रहे हों, कुछ और भी बोले। मैंने कभी पहले किसी भी विषय की बातचीत में उनको अबकी तरह जरा-सा कम व्यावहारिक नहीं पाया था। इस व्यवहार-कला के आचार्य की शील-पटुता तो इसके सभी परिचितों में एक कहावत की चीज है। पिता की-जैसी उनकी हार्दिक व्यावहारिकता, उनकी स्पष्टवादिता, सरलतामयी तेजस्विता, तो उनकी अपनी विशेष निधि थी। पर मेरे सवाल ने जैसे उनके मर्म-स्थल को छू दिया हो। जैसे सोच रहे हों, इस मायात्मक अर्थ की उलझन-भरी परिस्थितियों में अध्यात्म को—परमार्थ को—किसी भी तरह मन में फिट करने की तुष्टि पा सकूं। पर जनक का राजघराने में पैदा होना और पैदा होकर राज-काज चलाना उसका अपराध था या कसौटी? धन-बल-वैभव से दुराचरण की क्षमता और सुविधा पाकर भी जो मनीषी, प्रवृत्ति के इति पक्ष का दमन करता रहकर, नेति पक्ष के शून्य अंक तक जीवन को ले जाने के प्रयत्न में अनवरत गतिशील रह सके तो वह सबके साधुवाद का पात्र क्यों न होगा? जिस युवक सेठ को व्यवहार-कुशलता, प्रतिभा, प्रभुता और यौवन के रहते हुए भी गांधी-शरण भली लगे और जो इस भक्ति के निजत्व को भूलना सीख सके, वह भक्त के अलावा और क्या चीज है? और अनवरत लोक-कार्य एक भयंकर कसौटी है, ऐसी कि जो महामनीषी को भी कभी-कभी विचलित कर दे। जमनालालजी के धन ने उनको कम कष्ट नहीं दिया। अनेक आजतक उनपर शंकाशील रहे हैं। भले ही सारा अर्थ ट्रस्ट रहा, पर जनता तो औषध-रूप में शोधित जहर को भी त्याग-मार्ग पर 'जहर' की ही संज्ञा देती है। मानो इस रास्ते पर माफी उसके कोष में ही नहीं। पर लगता है, जैसे भक्त की चरम शुद्धि के लिए कल्याणमयी भगवद्-इच्छा जनता की इस दोष-दर्शन-भावना में प्रतिबिम्बित है। आखिर धोबी राम के सीता-जैसे महात्याग का कारण बना, मानो विधि की भाव-भीख की झोली, राज-त्याग और वनवास-जैसे हीरों को पाकर भी भरी नहीं।

जरा देर में तार से पता चला कि श्री चांग काई शेक पूज्य बापूजी से मिलने सेवाग्राम आयंगे। वे बोले—"इसी सिलसिले में नेहरूजी का संदेश

लेकर डाक्टर लोहिया आ रहे हैं। वे भी तुम्हारे 'गांधी-मानस' की चौपाइयां सुनेंगे। चलो, सबको न्योता दे आयें। आज महिलाश्रम में सब लोग तुम्हारी गांधी-रामायण सुनेंगे।" फिर तो वे खुद जाकर शांतिबाई, मदालसाबाई आदि को 'गांधी-मानस' सुनने का न्यौता दे आये और अपने इहजीवन की उस अंतिम रात को नौ बजे तक 'गांधी-मानस' सुनते रहे। उनको इस 'मानस' से अगाध प्रेम था। पहले दिन श्री विनोबाजी से मेरे लिए 'मानस' सुनाने को एक घंटे का वक्त मांग लाये थे। उस अंतिम रात को मुझसे बोले—"कल तुम गेस्ट हाउस से मेरे पास शिफ्ट कर लेना।" पर कहां! हमारे दुर्भाग्य से वे अकेले ही न जाने कहां शिफ्ट कर गये! निधन के पहले दिन तीसरे पहर उनके कहने से मैंने श्रीमती जानकीदेवी को 'गांधी-मानस' सुनाना आरंभ किया था, पर 'मानस' की पाण्डुलिपि को खोलते ही ऐसा प्रसंग निकला, जिसे याद करके अब हृदय स्तब्ध रह जाता है। देखा, पूज्य गांधीजी सद्यः विधवा बासंती को चित्तरंजनदास के निधन पर सान्त्वना में कह रहे हैं—"बहन, तुम्हें क्या सान्त्वना दूं? पर पति-पद-चिन्हों पर चलती हुई सुधन्वा-सी आजीवन सत के तप्त कड़ाह में तपती हुई सती होती रहो। पतिव्रते, तुम्हें शाश्वत सतीत्व की योगाग्नि का चिर सौभाग्य मिले।" किसने सोचा था, काकी (जानकीदेवी) जैसी स्नेह-विनोदमयी गंगा-सी निर्मल पतिपरायणा को कल बापू उन्हीं सत के झलमल जलते अंगारों पर अपने हाथों बिठाने आयंगे—सती-धर्म का सहज अर्थ बताने आयंगे!

मेरी इन्हीं आंखों ने उन पतिपथानुगामिनी अनुरागमयी गुणाभरणा अर्द्धांगिनी को उस ब्राह्ममुहूर्त में पतिदेव की चरण-धूलि लेते देखा था। उनके साथ बैलगाड़ी में, कुटिया में, सभा में, प्रार्थना में, घूमने-फिरने में, अति दुख-सुख में आनन्द और तुष्टिपूर्वक विचरते देखा था। परम तोष की निश्च्छल हँसी हँसते, सरल विनोद करते और खेलते-डोलते देखा था, और पति की दिन-रात की अथक कर्मशीलता, कठिन कार्यव्यग्रता तथा इसी कारण होनेवाली स्वास्थ्य की थोड़ी-सी उपेक्षा के कारण भी प्रेम-कातर हृदय से अति दुःखित होते देखा था। इनका पति के लिए अपार स्नेह अबाध बहता रहता

था। उनके स्वास्थ्य और आराम की वे सतत जागरूक पहरेदार रहीं और दूसरे दिन इन्हींको प्राणाधिक पति के शव के पास बैठे भी और चिता से चरण-धूलि की जगह भस्म उठाकर माथे पर लगाते भी मेरी इन्हीं आंखों ने देखा ! इन जानकी और उस कीमती शव को देखकर मुझे भवभूति के राम-जानकी याद आगये। जो सीता राजमहल में पति-चरणों में बैठीं भी, सास कौशल्या आदि के शृंगी ऋषि के आश्रम में एक-दो दिन के लिए जाने मात्र पर उनकी विरह-कातरता से राम की सन्निधि में भी विकल हो रही थीं; सहसा उन्हींको दूसरे दिन लक्ष्मण एकाकी, बीहड़, विजन विपिन में राघव के आदेश से छोड़ आये !

मैं सेठजी की वृद्धा माता को नालवाड़ी से चीत्कार करते शव के पास लाया था। मैंने देखा, सेठजी (अब भी मुझे प्रत्यय नहीं कि वह उनका शव था) गाढ़ी नींद में सफेद खादी की चादर ओढ़े सो रहे थे। सिरहाने स्तब्ध महोदधि से गौरवगिरि बापू बैठे थे। बापू के दाएं, शव की बगल में सहज गंभीर तपस्वी विनोबा, मानो अपने हृदय से किसी भांति जूझ-जीतकर अवतरित गांभीर्य से बैठे थे। बाएं, विकृता-विवरणा अस्त-व्यस्त बुत-सी जानकीदेवी बैठी थीं। जैसे उनका रोदन, हृदय, इहलोक-परलोक सब सूख चुका था। मानो परिस्थिति की असलियत को उनकी इन्द्रिय ग्रहण न कर पाकर शून्य-बिन्दु तक पहुंच चुकी हों। वह कलवाली विनोदिनी नारी गाय की-सी करुण-कातर वाणी में कह रही थी—"बापूजी, मैं क्या करूं ?" पर्वत-से बापू का हृदय तो विदीर्ण-सा होगया था। पर इस एकाकी, महाप्राण, प्रभुपथ के बटोही ने अपनी वज्रनिष्ठा की लाठी के सहारे ही चलना पाया था। द्वन्द्वान्दोलित भयावह भव-नीरधि में श्रद्धा-शतदल के एक पल्लवमात्र पर प्राणों की पलथी मारकर निश्चिन्त बैठा हुआ, यह महाधीर वृद्ध, सहस्र फनों के कालिया नाग को देखकर भी प्रेमावेश में नम्र मुस्करा देता है। वेदना के हलाहल को अमृत-रागिनी में बदलकर, सत के इकतारे से अविराम संजीवन लय ढरकाता रहता है। इस भैरव ने शव के पास ही विधवा जानकीदेवी का सर्वस्व दान स्वीकार कर लिया।

महादरिद्र और कई अबोध बच्चों की मां विधवा कत्तिन के कौड़ी-पैसे के अग्नि-दान को भी यह पचा जाता है !

फिर जरा देर पीछे शव नीचे लाया गया। बापू सेठजी की वृद्धा मां का हाथ और कलेजा थामे आधे घंटे तक बैठे रहे। बाहर जनता की भीड़ आंसू बहा रही थी। भीतर बजाज-परिवार की महिलाएं, बालक, युवक, वृद्ध, परिचित, मित्र और रिश्तेदार आंसू बहा रहे थे। बिड़लाजी, किशोरलालभाई गंभीर चिन्ता-व्यस्त थे। कमरे के दरवाजे के पास खड़े महादेवभाई की आंखों से रह-रह आंसू निकल रहे थे। शव चला, फूल बरसे, दल-बादल पुरुष, महिला, बालक, नंगे पांव पीछे भाग रहे थे। रास्ते में छतों पर दोनों ओर दर्शनार्थी भीड़ की कतार लगी थी। तिरंगे झण्डे की छाया में अरथी चल रही थी। स्नेही बारी-बारी से कन्धा लगा रहे थे। सारा वर्धा सजल सरिता-सा साथ-साथ बढ़ रहा था। महिलाश्रम की छात्राएं अन्तर्भेदी राग में 'राम धुन लागी, गोपाल धुन लागी' गा रही थीं।

आखिर गोपुरी में सेठजी की प्यारी कुटिया के सामने दाह-संस्कार हुआ। चिता के चारों ओर भीड़ से बचाने के लिए चक्राकार बांस बंधे थे। उस व्यूह में महारथी का अवशिष्ट पंच-भूतों में मिलाया जा रहा था। सेठजी की मां को बेहोशी की शांतिप्रद गोद में सुलाकर बापू जानकीदेवी को हाथ से थामे, चिता के सामने निश्चल चित्त से दाह के अंत तक खड़े रहे थे। एक प्रेम की चिता बापू के हृदय में धू-धू करके जल रही थी। एक चिता क्या, सहस्र हृदयों में सहस्र चिताएं थीं। उस पावन चिता की लपटों से न जाने कितने हृदयों का कलुष स्वाहा हो रहा था। अपना लोहे-सा एक हाथ पीठ पर धरे और दूसरा हृदय पर धरे, वेद-मंत्र से तपःपूत विनोबा खड़े हुए, शांत स्थिर और मधुरवाणी से उपनिषद् और गीता गान कर रहे थे। आखिर सबको वहां से जाना पड़ा। झलझल करते चिता के अंगारे, पता नहीं किस लोक का पावनकारी अग्नि-सन्देश देते हुए आकाश की ओर देख रहे थे। स्थितप्रज्ञ बापू प्राणोपम बेटे को जलाकर सेवाग्राम गये। जानकीजी वहीं कुटिया में, उसी तख्त पर जिसपर कि आज सवेरे उन्होंने पति-चरणों में

प्रणति की थी, पड़ रहीं। मित्र, रिश्तेदार, बेटियां, बेटे वहीं पड़े कलपते-बिलखते रहे। गीता से शांति-शोध की—सान्त्वना की—व्यर्थ कोशिश होती रही। रात को विनोबा फिर आये, पर सामने चिता के अंगारे थे।

वही सुबहवाली कुटिया तो थी। सब परिचित चीजें—वह लम्बी-सी लुटिया, किताबें, कपड़े, तिपाई, कुर्सी, मेज ज्यों-के-त्यों जंचे थे। विश्वास आता ही नहीं था कि जमनालाल अब सामने के अंगारों के अवशिष्ट-जैसी चीज ही रहे थे। कैसे मान लें कि वह छः फुट लम्बा, शांत, पुष्ट, गंभीर राजर्षि-सा निर्मल देह, जो इस मसनद के सहारे, इस तख्ते पर, इस कुर्सी पर ऐसे प्रार्थना करता, ऐसे बैठता था, अब सामने की राख-मात्र रह गया है! वह तो नयनों में, कुटिया में, गलियों में, इधर-उधर, यह बैठा, वह चला, सभी जगह तो दिखाई दे रहा है। नहीं, वह गया नहीं है, यहीं कहीं आंखों से ओझल होगया होगा !

उस रात को कुटिया में क्या, वर्धा में कौन सोया ? नहीं, कौन सोया की गिनती शायद आसानी से हो सके, पर प्रातःकाल तो हुआ ही। पर वह सुबह वर्धा में किसकी रात का था ? कौन जानें ? उस स्नेह-प्राण का कौन शत्रु होगा ? कोई हो भी तो, उस काल को प्रभात अपना उसने नहीं माना।

आज भी सदा की तरह वह नन्दिनी गाय आई, जिसकी सेवा-चाकरी, मालिश प्रतिदिन वह अपने हाथों किया करते थे, गरीब गाय की आंखें कुछ खोजती रह गईं—दूसरी मुमूर्षु-सी पतिपरायणा गाय जानकी पति का काम करने गो-माता के पास आई, मालिश का ब्रश उठाकर साहसमयी ने एक-दो हाथ चलाने की कोशिश की और धड़ाम-से नीचे गिर पड़ी। सेठजी का फूलचयन और यह सब इन आंखों ने देखा; पर विश्वास अब भी नहीं कि काका चल बसे हैं।

जानकीजी को वे सदेह गोपुरी का वास दे गये! ज्ञानी कहते हैं—वे गये नहीं, पर प्रतिमा-पुजारी मन सन्तोष नहीं पाता; उसे राम चाहिए, राम-चरित-सौरभ नहीं।

: १०२ :

महाप्रस्थान के बाद

प्यारेलाल

बुधवार, ११ फरवरी को दोपहर बाद करीब तीन बजे यकायक फोन पर गांधीजी से कहा गया कि जमनालालजी को खून के दबाव का दौरा हुआ है और ११० व २५० डिग्री दबाव के बीच वे बेहोश पड़े हैं। खून के दौरे को उतारने के लिए जो दवा गांधीजी लिया करते हैं, वह डाक्टरों ने तुरन्त मंगाई थी और उसके लिए एक मोटर भी रवाना की थी। मोटर के आते ही गांधीजी दवा के साथ उसपर सवार होकर वर्धा रवाना हुए। सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला भी, जो कार्यवश उन दिनों यहीं थे, उनके साथ गये। मोटर में बैठते-बैठते गांधीजी के मुंह से अचानक यह उद्गार निकला, "अगर वे जिन्दा न मिले तो बड़ा ही दुर्दैव होगा।" परन्तु उनके सहज आशावाद ने यहां भी उनका साथ न छोड़ा। उन्होंने इसी सिल-सिले में फौरन कहा, "मगर मुमकिन है कि हम उन्हें वहां हमेशा की तरह हँसते-खेलते ही देखें।"

लेकिन जमनालालजी तो उनके वर्धा पहुंचने से पहले ही गोलोकवासी बन चुके थे। जिसने सुना, वही स्तब्ध रह गया। किसीको विश्वास ही न होता था; क्योंकि न तो उनकी उम्र ही अभी इस लायक थी और न तन्दुरुस्ती ही इतनी खराब थी कि वे अचानक चले जाते। उस दिन दोपहर को बारह बजे तो वे फोन पर हमसे बातें कर रहे थे। वही हँसी, वही मीठा मजाक। सेवा की अभी उन्हें बड़ी-बड़ी उमंगें थीं। पिछले दिनों जब नागपुर-जेल में हम सब साथ थे वे अक्सर बातचीत के दौरान में मुझसे कहा करते थे, "ऐसा कोई काम या प्रवृत्ति मुझे चाहिए, जिसमें मैं सारी शक्ति और समय लगाकर देश की सेवा कर सकूं।" इसी दरमियान एकाएक तबीयत खराब

हो जाने की वजह से वे अपनी मियाद के कोई पांच-छः हफ्ते पहले ही जेल से रिहा कर दिये गए। रिहा होते ही वे एक सत्याग्रही सिपाही के नाते सीधे गांधीजी के सामने हाजिर हुए। हुक्म मिला कि जबतक सजा की मुद्दत पूरी न हो, दुबारा सत्याग्रह करना मुनासिब न होगा। यह वक्त तन्दुरुस्ती को संभालने में खर्च होना चाहिए। अतएव स्वास्थ्य-सुधार के विचार से वे करीब एक महीने शिमला रह आये और जिस दिन उनकी नौ महीने की सजा की मुद्दत पूरी होती थी, ठीक उसी दिन वापस गांधीजी के पास आ पहुंचे। बहुत सोच-विचार के बाद गांधीजी ने तय किया कि उनके शरीर की जर्जरित अवस्था देखते हुए उन्हें फिर से जेल जाने की इजाजत तो वे न दे सकेंगे। चुनांचे उन्होंने जमनालालजी को गोसेवा का काम उठा लेने की सलाह दी, और जमनालालजी किसी काम को आधे दिल से तो कभी करते ही न थे। जिस चीज को हाथ में लेते थे, उसके पीछे अपना सर्वस्व लगा देते थे। वे तुरन्त गोसेवा के व्रतधारी बन गये। वर्धा और नालवाड़ी के दरमियान उन्होंने अपने रुपयों से बहुत-सी खुली जमीन खरीद ली और उसपर अपने लिए घास-फूस की एक कुटिया बनाकर उसीमें रहने लगे। फिर क्या था? जमनालालजी थे और उनकी गोसेवा थी। रात-दिन उसीकी लगन, उसीकी धुन! सचमुच गोसेवा को उन्होंने अपने लिए 'मोक्ष का साधन' ही मान लिया था। ऐसा मालूम होता था मानो वसिष्ठ की नन्दिनी के इस वरदान को उन्होंने अपने जीवन का सूत्र बना लिया हो—"न केवलानां पयसः प्रसूतिमवेहि मां कामदुधां प्रसन्नाम्।" अर्थात्—यह न सोचो कि मैं केवल दूध ही दे सकती हूं; मैं कामधेनु हूं, प्रसन्न हो जाऊं तो जो चाहूं, दे सकती हूं।

इसलिए जब उनके अग्निदाह का प्रश्न उठा तो गांधीजी ने उसके लिए गोपुरी की भूमि ही पसन्द की। वहीं उनकी अर्थी पहुंचाई गई। वर्धा की अधिकांश जनता तो उन्हें अपने पिता के रूप में देखती थी। शाम के वक्त उनकी शव-यात्रा के साथ सारा शहर गोपुरी में उमड़ पड़ा। वहीं गांधीजी भी जमनालालजी की अस्सी वर्ष की वयोवृद्ध माता, पत्नी जानकीदेवी और अन्य कुटुम्बीजनों के साथ आये। अतिशय स्नेह और आदर के

साथ उन्होंने जमनालालजी की सूनी कुटिया के कोने-कोने की यात्रा की।

गांधीजी के लिए यह कोई साधारण अवसर न था। जमनालालजी के कुटम्बियों के लिए तो यह अग्निपरीक्षा का समय था ही, किन्तु स्वयं गांधीजी के लिए भी यह एक कड़ी कसौटी का समय था। गांधीजी का अपना यह जीवन-सिद्धान्त रहा कि आदमी खुद जो कहता या करता है, उससे उसकी इतनी जांच नहीं होती, जितनी उसके कहने या करने से उसके अपने निकट के साथियों और कुटुम्बियों के आचरण पर पड़नेवाले प्रभाव से होती है। इसलिए जमनालालजी के स्वर्गवास के बाद, ईश्वर के भेजे हुए इस वज्रपात का जवाब उनके कुटुम्बीजन किस तरह देते हैं, इसीमें उन्होंने उनकी और अपनी परीक्षा समझी। एक ओर उन्होंने जमनालालजी की माता को दिलासा दे-देकर शान्त किया, दूसरी ओर जानकीदेवी को, जो 'सती' होने के विचार से चिता पर बैठने को तैयार थीं, 'सती' का सच्चा अर्थ समझाया और उनसे चिताग्नि की साक्षी में पति के अपूर्ण कार्य को पूरा करने के लिए अपना सर्वस्व दे देने और शेष जीवन यज्ञ-बुद्धि से बिताने का संकल्प करवाया। श्री विनोबा तो वहां थे ही। कुष्ठ-रोग से पीड़ित श्री परचुरे शास्त्री भी अपनी रोगशय्या छोड़कर सेवाग्राम से पैदल गोपुरी आये थे और वहां मौजूद थे। विनोबाजी के और शास्त्रीजी के मंत्रोच्चार की ध्वनि से सारी गोपुरी गूंज उठी। श्रीमती अम्तुल सलाम ने 'फातेहा' पढ़ा, कुरान की कुछ आयतें पढ़ीं। इतने में काफी अंधेरा होगया। चिता धू-धू जल रही थी। थोड़े ही समय में जमनालालजी का भौतिक शरीर जलकर भस्म-स्वरूप बन गया, किन्तु चिताग्नि की लाल-नीली लपटों के उस प्रकाश में जब सब लोग विसर्जित होकर अपने-अपने घर लौटे तो बजाय शोक या रुदन के सबके चेहरों पर सती के पुण्य संकल्प की झलक ही नजर आई। ऐसा प्रतीत होता था मानो सब अपने किसी महानुभाव साथी को किसी लम्बी पुण्य-यात्रा के लिए विदा करके उसके पदचिह्नों पर चलने का निश्चय लिए लौट रहे हों।

.. .. ..

उस दिन सेवाग्राम लौटने पर शाम की प्रार्थना के बाद गांधीजी ने

आश्रमवासियों के सामने सारी घटना का वर्णन करते हुए अपने हृदय के जो उद्‌गार प्रकट किये, श्री महादेवभाई के शब्दों में उनका सार इस प्रकार है—

"सवाल यह था कि अग्निदाह कहां किया जाय—सेवाग्राम के पास टीले पर, सार्वजनिक स्मशान-भूमि में या गोपुरी में ? आखिर यह तय हुआ कि जिस गोपुरी को उन्होंने अपना घर बनाया था, जहां अपने जीवन के अंतिम कार्य के लिए अपना सर्वार्पण करके उन्होंने फकीरी को अपनाने का निश्चय किया था, अग्निदाह भी वहीं किया जाय। मैं इस बारे में तटस्थ था, लेकिन मुझे यह निर्णय अच्छा लगा।

"उनके शव के साथ हजारों लोग गोपुरी तक आये। अग्निदाह के बाद विनोबा ने अपने मधुर कण्ठ से सारे-का-सारा ईशोपनिषद् सुनाया। फिर मैंने उनसे 'गीताई' का बारहवां अध्याय सुनाने को कहा, ताकि वहां उपस्थित सब लोग उसे समझ सकें। बारहवां अध्याय मैंने इसलिए सुझाया था कि वह छोटा है, किन्तु उन्हें तो अठारहों अध्याय जबानी याद हैं, इसलिए उन्होंने नवां सुनाया। मगर उतने से मुझे तृप्ति नहीं हुई। मैंने कहा, "कोई अभंग सुनाओ।" इसपर उन्होंने तुकाराम का एक अभंग भी सुनाया। अन्त में मैंने कहा, "अब 'वैष्णव जन तो तेने कहीये' भी सुना दो।" उन्होंने वह भी सुनाया। श्री परचुरे शास्त्री वहां पहले से ही पहुंच चुके थे। उन्होंने वेद-मंत्र पढ़े और मेरे कहने पर लोगों को उन मंत्रों का अर्थ भी सुनाया। मंत्र बड़े अर्थ-गंभीर और सामयिक थे। थोड़े में उनका सार यह था—'जो ज्योति जमनालालजी में सीमित थी, वह अब सीमारहित विश्व ज्योति में समा गई है, यानी हम सबमें आ मिली है। शरीर तो मिट्टी का था, मिट्टी में मिल गया। परन्तु उसमें जो शाश्वत था, मगर एक सीमा में बंधा हुआ था, वह अब हम सबका होगया है। जबतक जीवित थे, जमनालालजी कुछ ही लोगों के थे; किन्तु अब वे सारे विश्व के बन गये हैं। उनके शरीर का अन्त हुआ है, किन्तु उनके व्रत, उनकी प्रतिज्ञाएं, उनकी गोसेवा, उनकी खादी-सेवा, सत्य और अहिंसा की उनकी लगन, ये सब तो अब हममें आकर

हमारी विरासत बन गई हैं। उन्होंने इन सब व्रतों को सिद्ध करने के लिए जो कुछ भी किया, सो सब तो अब हमारा है ही, लेकिन जितना कुछ वह अधूरा छोड़ गये हैं, उसे पूरा करने का जिम्मा भी हमारा है। अपनी मृत्यु द्वारा वे आज हमें यही सिखा गये हैं।

"आज हमें विचार तो यह करना है कि हम उनकी जमीन पर बैठे हैं। सेवाग्राम के लिए उनके मन में कितना अनुराग था, सो मैं जानता हूं। यहां एक-एक कौड़ी उन्हींकी खर्च होती है। उन्हें इस बात की चिन्ता रहती थी कि यहां खर्च होनेवाली एक-एक पाई का ठीक-ठीक हिसाब रहता है या नहीं; क्योंकि वे खुद अपनी कौड़ी-कौड़ी का हिसाब रखते थे। वे हमेशा इस बात का आग्रह रखते थे कि सेवाग्राम का कोई आदमी बाहर जाय तो उसका बर्ताव और उसकी रहन-सहन सेवाग्राम को शोभित करनेवाले होने चाहिए।....

"जानकीदेवी के दुःख की तो सब कल्पना कर सकते हैं। वे तो पागल ही होगई थीं। कहती थीं, 'बस, मुझे तो इनके साथ सती होना है। इनके बिना मैं जी ही नहीं सकती।' मैंने कहा, 'यह न समझो कि इस तरह सती होने से लोग तुम्हारी पूजा करेंगे। इससे तो उल्टे निन्दा होगी। हां, अगर कर सको तो योगाग्नि पैदा करो और उसमें भस्म होकर सती हो जाओ। न मैं तुम्हें रोकूंगा और न दूसरा ही कोई तुम्हें रोक सकेगा, लेकिन वह तो संभव नहीं। इसलिए मैं तुमसे कहता हूं कि अब तो उनके पीछे जोगिन बनकर ही तुम्हें सती बनना होगा!' घनश्यामदासजी पास ही थे। उन्होंने कहा, 'हमारे यहां तो ऐसे मौकों पर कोई शुभ संकल्प करने का रिवाज है। जानकीदेवी से ऐसा कोई संकल्प कराइए।' जानकी बाई ने खुद ही कहा, 'मेरा संकल्प तो यही है कि वे मेरेलिए जो कुछ छोड़ गये हैं, सो सब मैं उनके काम के लिए अर्पण करती हूं।' उन्होंने मुझे अपना हिसाब भी बताया, दो-ढाई लाख की रकम थी। यह सब उन्होंने गोसेवा के लिए अर्पण कर दी। इसके बाद जब वह चिताग्नि के प्रकाश में खड़ी थीं, मैंने एक और बात भी उनसे कही। मैंने कहा, 'सिर्फ इससे काम न चलेगा।

अपना सारा धन कृष्णार्पण करके तुम भिखारिन बन गई हो। अब लड़के तुम्हें खिलायंगे तो तुम खाओगी, और नहीं खिलायंगे तो मेरे पास आ जाओगी और मेरे भिक्षान्न में शरीक हो जाओगी। लेकिन इसके साथ ही अब तुम्हें इस चिता की साक्षी में अपने-आपको भी इसी काम के लिए समर्पित कर देना है। अब तुम्हें अपने लिए नहीं, बल्कि जमनालालजी के इस गोसेवा-कार्य के लिए ही जीना है। अब न तो लड़कों का घर तुम्हारे लिए है, न लड़कियों का। तुम्हें या तो गोपुरी में रहना है, या मेरे पास सेवाग्राम में। तीसरी जगह तुम्हारे लिए नहीं। और चूंकि तुम अपना सर्वस्व इस कार्य के लिए दे रही हो, इसलिए अब शोक करने का भी कोई अधिकार तुम्हें नहीं रह जाता।' जानकीदेवी ने इसे भी स्वीकार किया और स्वयं जमनालालजी की गोपुरी में गड़ जाने का निश्चय कर लिया। इस तरह वे सच्चे अर्थ में सती बनीं। यह सब शुद्ध वैराग्य से हुआ है, या श्मशान-वैराग्य ही है, सो तो समय ही बतायगा। वह खुद पूछती थीं, 'क्या ईश्वर मुझे यह सब करने की शक्ति देगा ?' विनोबा वहीं थे। उन्होंने कहा, 'जहां शुभेच्छा होती है, वहां ईश्वर उसको पूर्ण करने की शक्ति भी देता ही है।' इस-पर मुझे महारानी विक्टोरिया की याद हो आई। राजगद्दी पर बैठते समय उनकी उम्र सिर्फ १९ बरस की थी। जब उनका प्रधान मंत्री रानी के रूप में उनको सलाम करने आया तो वह अपने सिंहासन से नीचे उतर आईं और बूढ़े प्रधान के आगे सिर झुकाकर खड़ी होगईं। जब उनके राज्याभिषेक की घोषणा की गई तो उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की और प्रतिज्ञा ली—'आई विल बी गुड'—अर्थात् मैं भली बनूंगी। बस, यह उनका एक शुद्ध संकल्प था, जो उनके मंत्रियों की सहायता से चमक उठा ! हिन्दुस्तान की वह सम्राज्ञी थीं। यह मैं नहीं कहता कि उनके राज्य में हमें कोई तकलीफ ही नहीं हुई, फिर भी इतिहास इस बात का साक्षी है कि वह अपने उस शुभ संकल्प के अनुसार अपनी प्रजा की सेवा करना चाहती थीं। जो काम उन्होंने किया, वही जानकीदेवी भी कर सकती हैं। वे गोसेवा का सारा काम अपने हाथ में लेकर उसे पूरी तरह सफल बना सकती हैं।

"मैं फिर कहता हूं कि हमें हमेशा यह याद रखना होगा कि हम जमनालालजी की भूमि पर बैठे हैं। हमें उनके नाम को सुशोभित करना है। ऐसा कोई काम हमारे हाथों न हो, जिससे उनकी कीर्ति में बट्टा लगे। उनकी शुद्ध कमाई को हमें खूब सोच-विचार कर खर्च करना चाहिए और एक-एक पाई का हिसाब रखकर हमेशा अपव्यय से बचना चाहिए। उनका संयम हमारे लिए मार्ग-दर्शक हो!"

किन्तु गांधीजी को इससे भी संतोष नहीं हुआ। उस रात वे एक मिनट भी नहीं सो पाये। मुझे याद नहीं पड़ता कि इससे पहले कभी किसी प्रियजन की मृत्यु पर उन्होंने इस तरह सारी रात आंखों में काटी हो।

सत्यशोधक को तो हर बात में अपना रास्ता दुनिया से न्यारा ही निकालना पड़ता है, और जमनालालजी ने तो गांधीजी से सत्यशोधक बनना ही सीखा था। गांधीजी ने सत्य की ही तलाश में अपने परिवार का त्याग किया और सारी दुनिया को अपना परिवार माना। जमनालालजी ने जगत की सेवा को अपना जीवन-कार्य बनाया। यही वह अमर गांठ थी, जो दोनों को एक-दूसरे से जोड़े रही। इसलिए गांधीजी ने बड़ी ख़ूबी के साथ जमनालालजी की मृत्यु के शोक को एक नया ही रूप दे दिया।

जमनालालजी अकेले एक व्यक्ति ही नहीं थे, वे सच्चे अर्थ में देश की एक संस्था थे। उनके आकस्मिक स्वर्गवास के बाद गांधीजी ने तय किया कि उनकी तमाम सार्वजनिक प्रवृत्तियों को पहले की तरह अखण्ड रूप से चलाते रहना ही उनका सच्चा स्मारक हो सकता है। इस हेतु को सफल बनाने के लिए उन्होंने जमनालालजी के करीब दो सौ ऐसे मित्रों को, जिन्हें उनके जीवन-कार्य से सहानुभूति थी, अपनी सही से निमंत्रण भेजकर सलाह-मशविरे के लिए वर्धा बुलाया। जमनालालजी के राष्ट्र-भाषा-प्रचार के सिद्धांत को ध्यान में रखकर निमंत्रण-पत्र हिन्दी और उर्दू दोनों लिपियों में छापा गया। वर्धा के नवभारत विद्यालय में २० और २२ फरवरी को दोपहर बाद इस निमित्त आये हुई भाई-बहनों की दो सभाएं हुईं। इस अवसर पर गांधीजी ने जो भाषण दिया, वह अपनी मिसाल आप ही है। उनके मुंह से

ऐसे वचन, इस प्रकार के अवसर पर शायद पहले कभी सुनने में नहीं आये। रुपये-पैसे द्वारा ईंट-पत्थर का स्मारक बनाने की बात को छोड़कर जमनालालजी की मृत्यु को आत्मोन्नति का और उनके जीवन-कार्यों को आगे बढ़ाने का एक साधन बना लेने की सलाह देते हुए उन्होंने वहां एकत्र मित्र-मंडली से कहा, "आज का-सा अवसर मेरे जीवन में इससे पहले कभी नहीं आया था और जहांतक मैं सोच पाता हूं, आगे भी कभी नहीं आवेगा।

"अपना भिक्षा-पात्र लेकर मैं आपके सामने खड़ा तो हूं, लेकिन मैं धन-दौलत की भीख नहीं चाहता। वैसी भीख भी मैंने अपने जीवन में खूब मांगी है। गरीबों की कौड़ी और अमीर के करोड़ों की मुझे जरूरत रही है। लेकिन आज जो काम मुझे करना है, उसमें रुपये-पैसे की कम ही जरूरत है। अगर मैं चाहता तो आज के दिन जमनालालजी के सब धनिक मित्रों को यहां इकट्ठा करके उनपर दबाव डाल सकता था, उनकी खुशामद कर सकता था और उनकी भावनाओं को द्रवित करके थैलियों के मुंह खुलवा सकता था। यह धंधा भी मैंने अपने जीवन में जीभरकर किया है, और वह मुझे अच्छी तरह आता भी है। लेकिन अगर वही सब आज मैं यहां करने बैठता तो उस व्यक्ति के नाम को बड़ा धब्बा लगता, जो मुझे अपना सर्वस्व देकर चल बसा है—जो मेरे पास आया तो मेरी परीक्षा लेने था, मगर पुत्र बनकर बैठ गया, और मेरा सारा बोझ उठाता रहा। मुझे जो भिक्षा आज आपसे मांगनी है, वह तो यह है कि जमनालालजी के उठ जाने से आज जो बोझ बढ़ गया है उसको उठाने में कौन-कौन मेरी मदद करेंगे। अकेले एक आदमी की मदद से नहीं चलेगा, मदद तो सबको मिलकर देनी होगी और काम बांट लेना होगा।

"जमनालालजी की आंख बन्द होते ही मैंने उनके बोझ का बंटवारा शुरू कर दिया है। आप देखेंगे कि जमनालालजी के कामों की जो फहरिस्त आपको भेजी गई है, उसमें उनके आखिरी काम को पहला स्थान मिला है। यह काम स्वराज्य-प्राप्ति के काम से भी कठिन है। स्वराज्य मिलने से यह अपने-आप नहीं हो जायगा। यह सिर्फ पैसे से होनेवाला काम नहीं।

मैं इस बात का साक्षी हूं कि आजीवन अलौकिक निष्ठा से काम करनेवाले उस व्यक्ति ने किस अपूर्व निष्ठा से इस काम को शुरू किया था। उन्हें इस तरह काम करते देखकर एक दिन सहज ही मेरे मुंह से यह निकल गया था कि जिस वेग से वे इस काम को कर रहे हैं, उसको उनका शरीर सह सकेगा या नहीं ? कहीं बीच ही में वह धोखा तो न दे जायगा ? आज मेरा यह कथन भविष्यवाणी साबित हुआ है—मानो उस समय भगवान् ही मेरे मुंह से बोल रहे थे। सारांश यह कि यह काम पैसे से नहीं, एकनिष्ठा से ही होनेवाला है।"

दूसरे दिन सभा की कार्रवाई शुरू करते हुए गांधीजी ने कहा—

"अगर जमनालालजी की मृत्यु से हम फायदा उठाना चाहते हैं तो हमें बहुत ज्यादा सावधान बनना होगा, बहुत ज्यादा संयम और त्याग सीखना होगा।

.. .. ..

"मैं अक्सर सोचता हूं कि अगर हममें से हरएक को एक साल के फौजी अनुशासन का तजरबा रहता तो आज हमारी हालत कुछ और होती। जमनालालजी किसी फौजी विद्यालय में तालीम लेने नहीं गये थे। मगर उन्होंने खुद अपनी कोशिश से अपने अन्दर फौजी अनुशासन के गुण पैदा कर लिये थे। वैसी ही तालीम हममें से हरएक को खुद ले लेनी होगी।

.. .. ..

"इसलिए कल मैंने अपने से यह तय कर लिया था कि अगर इस मौके पर पैसा इकट्ठा करने के बजाय मैं आपको सावधान कर पाऊं तो वही मेरा सच्चा व्यापार होगा। मैं फिर आपसे कहता हूं कि आप अपने दिल को खूब टटोलकर देखिए और जहां-कहीं जड़ता नजर आये, उसे उखाड़ फेंकिए। और भविष्य के लिए यहां से यही संकल्प करके उठिए कि जो अच्छी सलाह आपको मिलेगी या अन्तर से जो प्रेरणा उठेगी, उसके अनुसार आप तुरन्त काम में जुट जाया करेंगे। जमनालालजी के स्मारक की सच्ची स्थापना का इससे अच्छा या महत्वपूर्ण आरंभ और क्या हो सकता है ?"

●

अमृत-पुत्र

सोहनलाल द्विवेदी

एक ओर तन में जंजीरें, हाथों में हैं हथकड़ियां!
पावों में बेड़ियां, दूसरी ओर जलन की हैं घड़ियां!
घाव न भर पाते हैं पहले, और घाव होते जाते,
चले जा रहे गोद छोड़ते लाल, तोड़ते ही नाते,

गंगा रोती और त्रिवेणी,
रोता सारा राष्ट्र विशाल !
यमुना रोती यहीं पास में
खोकर अपना जमनालाल !

आज बनी जननी भिखारिणी, जिसका प्राण समक्ष चला,
कसी जंजीरों से रियासतों के जन-गण का पक्ष चला,
चला आज अपना सेनानी, गढ़ का प्रहरी दक्ष चला,
क्यों न कांग्रेस हो गरीबिनी ? जिसका कोषाध्यक्ष चला !

बापू दुखी, जवाहर व्याकुल,
राष्ट्र-ध्वजा है झुकी हुई;
वेणी लुंठित, वाणी कुंठित,
चरणों की गति रुकी हुई,

किंतु अमर हम, अमृत-पुत्र हम, मर-मर जीनेवाले हैं,
एक जन्म क्या ? जन्म-जन्म, शिव बन विष पीनेवाले हैं,
जबतक राष्ट्र बना है बंदी, बनी बंदिनी है माता,
टूट नहीं सकता रे तबतक, उस सेनानी का नाता,

उसका नाता, जो कि देश की आजादी का बना फकीर,
राजमहल को छोड़ जा बसा, जहां दलित की दीन कुटीर!
उसका नाता, जो कि राष्ट्र की लोहे की जंजीरों में
बंधा स्वयं भी जाकर, लख मां बंधन की प्राचीरों में
उसका नाता, लिया न जिसने सेवा का कोई सम्मान,
पद को माना विपद्, होगया मातृभूमि पर बढ़ बलिदान!

है विश्वास हमें आवेगा,
आवेगा माई का लाल
यमुना दुखी न हो रो-रोकर
आवेगा फिर जमनालाल।

●

परिशिष्ट

मेरी आकांक्षा

विवाह-अनुष्ठान

[अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर जमनालालजी ने समय-समय पर अपने जो विचार प्रकट किये थे, उनके चुने हुए अंश उन्हींके शब्दों में नीचे दिये जा रहे हैं। —सम्पादक]

'बाई कमला के नेगचार में तथा विवाह-मकलावे में फिजूल खर्च बिल्कुल नहीं होना चाहिए। कमला के विवाह में भंडारा (पत्तल) नहीं करना चाहिए। जिनके साथ सम्बन्ध किया जावे उन्हें पहले से निवेदन कर देना चाहिए। अगर योग्य लड़का धनिक घर का नहीं ही मिले तो अपने विचार से मिलते हुए साधारण स्थिति के खानदानी कुल के लड़के के साथ संबंध कर दिया जावे।' (मृत्युपत्र, १८ अप्रैल १९१६ ई०)

'बालकों के विवाह, सगाई आदि में बन सके वहांतक पू० महात्माजी के ध्येय का विचार किया जावे। अगर कई कारणों से असंभव मालूम हो तो फिर योग्य वर या कन्या देखकर बहुत ही सादगी के साथ किये जावें। . . . अगर पुत्र पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन कर आजन्म देश-सेवा करनेवाला हो तो फिर देखना ही क्या है।' (मृत्युपत्र, १५ मार्च १९२१ ई०)

'अगर परमात्मा की दया से लड़के आजन्म ब्रह्मचारी रहना पसन्द करें तो मेरे घर के व ट्रस्टी मित्र उन्हें अवश्य उत्साहित कर आजन्म ब्रह्मचारी रह सकें, ऐसा प्रबंध शिक्षण व संगत का कर दें। लड़कियों में से भी अगर कोई आजन्म कुमारिका (ब्रह्मचारिणी) रहना चाहे तो अवश्य उसका उत्साह बढ़ाया जावे तथा उसके मुताबिक प्रबंध कर दिया जावे।'

(मृत्युपत्र, कार्तिक शु० ११, १९८९ वि०)

सामाजिक विचार

'मेरे धार्मिक तथा सामाजिक विचार नीचे लिखे मुताबिक आज हैं। मेरी प्रबल इच्छा है कि इन विचारों का हो सके तहांतक मेरे घर में काम पड़ने पर अमल किया जावे।

धार्मिक व सामाजिक—पू. महात्माजी के विचार मुझे पसन्द हैं। मैं तथा मेरे घर के बालक अगर उन्हें अपने जीवन में ला सकेंगे तो अवश्य लाभ (कल्याण) होवेगा, ऐसा विश्वास है। खासकर सत्य, अहिंसा, अन्त्यजों के साथ व्यवहार तथा सेवा, विधवा-विवाह (जो लड़की ब्रह्मचर्य-पालन में असमर्थ हो)।

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'यह सामने रखकर व्यापार तथा अन्य कार्य करने का प्रयत्न करना चाहिए।

'मृत्यु का खर्च, बिरादरी-ब्रह्मपुरी न की जावे। घर-शुद्धि हवन आदि से कर ली जावे। पंचायत कम की जावे। विवाह में धार्मिक क्रिया आदि करने का खयाल रखा जावे।' (मृत्युपत्र, कार्तिक शुक्ल ११, १९८९ वि०)

'ऊंच-नीच का भेद हिन्दू-धर्म और संस्कृति के विपरीत है। हिन्दूधर्म तो सबमें एक ही आत्मा के निवास का—"घट-घट में वह राम रमैया" का सिद्धान्त सिखाता है। नीच वह है जो कुकर्म करता है—ऊंच वह है जो सुकर्म करता है। कोई ऊंच या नीच किसीके बनाये नहीं बनता। अपने कर्मों से अपने-आप बनता रहता है। हम मनुष्यों को चाहिए कि हम कोई ऐसी रीतियां व प्रणालियां न चलायें, न कायम रहने दें, जिनसे कोई मनुष्य कृत्रिम रूप से ऊंच या नीच ठहराया जाता हो।'

वाणिज्य-व्यवसाय

'मेरे बाद व्यवसाय-कार्य बन्द कर दिया जावे। अगर व्यवसाय-कार्य

किया ही जावे तो वह सत्यता के साथ व जिस व्यवसाय से देश को पूरा लाभ पहुंचता हो वही करना चाहिए। बाकी बन सके वहांतक व्यवसाय के झगड़े में न पड़कर आत्म-शुद्धि के व्यवसाय में ही जीवन बिताने की चेष्टा करना, मेरे पीछे रहनेवालों को मेरी सलाह है। साधारण खर्च-निबाह पूरता व्यवसाय-उद्योग उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार करते रहने से वैश्य-धर्म का पालन भी हो सकेगा तथा आत्मोन्नति करते निःस्वार्थ भाव से देशकार्य भी हो सकेगा।' (मृत्युपत्र, १५ मार्च, १९२१ ई०)

शिक्षा

'मेरे बालकों की शिक्षा का प्रबंध महात्मा गांधीजी का आदर्श रखते हुए जिससे कि भविष्य में निःस्वार्थ भाव से देशसेवा करें, आदर्श सत्याग्रही तथा त्याग के साथ इस मायावी संसार में सानन्द बिचर सकें इस तरह के बनाने में, मेरे ट्रस्टी, खासकर मेरी धर्मपत्नी, करे। मेरी राय में सत्याग्रह-आश्रम-सरीखी संस्था में रखकर ही शिक्षण की व्यवस्था की जावे तो ठीक। मेरे इस भारत देश में, खासकर मेरे कुटुम्ब के सच्चे सत्याग्रही जितने ज्यादा हो सकेंगे उतने ज्यादा बनाने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।'

'बालकों का शिक्षण सत्याग्रह-आश्रम, साबरमती, वर्धा या इसी प्रकार के कोई उच्च ध्येय तथा चरित्र-बलवाले तपस्वी सज्जन कार्य करते हों वहां रखकर देने का प्रबन्ध करें।' (मृत्युपत्र, कार्तिक शु० ११, १९८९ वि०)

दान

'मेरी जीवन-बीमा पालिसी की रकम १४-४-१९०९ ई० को, वसूल होने पर मारवाड़ी विद्यार्थियों के व्यवसाय-संबंधी शिक्षण-कार्य में अथवा उक्त समय पर और कोई अधिक जाति-हित का कार्य हो उसमें स्थायी रूप से लगाया जावे।' (मृत्युपत्र, २९ अगस्त १९१४ ई०)

'मेरे स्मारक के लिए मारवाड़ी शिक्षा-मंडल-कमेटी, वर्धा को रुपये एक लाख नगद या स्थावर-जंगम स्टेट ट्रस्टी लोग समझें उस तरह दे दें। इमारत अथवा स्कालरशिप के कार्य के लिए कमेटी जैसा उचित समझे वह कार्य करें। मेरी इच्छा तो उससे अधिक रुपये मंडल को देने की है। सो ट्रस्टी लोग उस वक्त का मौका सब तरह से देखकर अगर ज्यादा दे सकें तो ठीक ही है, नहीं तो इतनी रकम तो अवश्य दें।'

(मृत्युपत्र, १८ अप्रैल, १९१६)

'मेरे बाद मेरे हिस्से के रुपये या स्टेट में से कम-से-कम बारह आना हिस्सा महात्मा गांधी के सिद्धान्त के अनुसार सत्याग्रहाश्रम, साबरमती, वर्धा तथा अन्य जो जगह अगर सीकर राज्य में संभव हो तो वहांपर उपरोक्त प्रकार का आश्रम खोलकर खर्च किया जावे; अथवा मासिक सालाना के तौर पर भी जिस तरह करने में आदर्श सत्याग्रह-आश्रमों को विशेष लाभ पहुंचे, वैसा किया जावे।' (मृत्युपत्र, १५ मार्च, १९२१ ई०)

'मेरे बाद जो कुछ स्थावर-जंगम जायदाद रहे वह मेरे अधूरे रहे हुए काम में उचित समझें वह रकम या स्टेट लगावें। मुझे सबसे प्रिय काम तो खादी-प्रचार का है, दूसरा अन्त्यज-उद्धार का है तथा हिन्दी-प्रचार है, परन्तु हिन्दी-प्रचार में तो और भी सहायता मिलना संभव है, इसलिए खादी-प्रचार व अन्त्यज-उद्धार में ही जो कुछ लगाना हो वह लगाया जावे (बहुमत के अनुसार)।' (मृत्युपत्र, कार्तिक शुक्ल ११, १९८९ वि०)

राजनीति

उत्तरदायित्व

'हमारे स्वराज्य पाने के ये सब प्रयत्न इसीलिए जरूरी हैं कि हम अपने वर्तमान जीवन से ऊब उठे हैं और नवीन जीवन के सुन्दर स्वप्न देख रहे हैं। उस भव्य और दिव्य जीवन का निर्माण सर्वथा हमारे हाथ में है। हम जैसे

होंगे वैसा ही हम समाज और जीवन बनायंगे। इसलिए हमारी—चाहे हम अधिकारी या राजवर्ग में आते हों, चाहे शासक या जनता के वर्ग में—जिम्मेदारी सबसे बढ़कर है। ईश्वर हमें उसके योग्य बनने का बल दे और अवसर दे।'

राजाओं से

'हमारे राजा-महाराजाओं से मैं निवेदन करूंगा कि वे दिल से भी सचमुच ही राजा-महाराजा की तरह ऊंचे और महान् बनें। अपनी प्रजा की मांगों पर विचार करें, साहस के साथ और बिना किसी बात को दिल में रखे शासन-सुधार की दिशा में आगे बढ़ें और उन्हें स्वराज्य (Self-Government) वास्तविक रूप में दें, न कि उसकी छाया। यह अक्लमन्दी है कि वे स्वेच्छापूर्वक झुकें और प्रजा के वास्तविक अधिकार और मांग क्या हैं, इसको समझने की स्पिरिट से उन्हें सौंपें, बजाय इसके कि वे इस मामले में अपनी अनिच्छा बतायें और आखिर में हालात से मजबूर होकर ही कुछ दें।'

प्रजामण्डल

'मेरी यह शुरू से राय रही है कि देशी राज्यों में यदि कुछ भी राजनैतिक सुधार या अधिकार पाने हों तो उसका अच्छा उपाय स्थानिक प्रजा-मण्डल स्थापित करना है। जबतक प्रजा या जनता का बल अन्दर से नहीं बढ़ाया जावेगा तबतक बाहर की या ऊपर की सहानुभूति और सहायता एक हदतक ही काम दे सकती है, बल्कि कई बार तो उल्टा साधक की बजाय बाधक भी बन जाती है।

.. .. ..

हम शासन की व समाज की त्रुटियां जरूर बतायें और उन्हें दूर भी करें। लेकिन उनसे ज्यादा जरूरी है कि खुद अपनी त्रुटियों को भी देखें और उन्हें दूर करते रहें।

साहित्य

हिन्दी-साहित्य

'हमारा साहित्य हमारे लोक-जीवन की झांकी है, हमारी सभ्यता और

संस्कृति का शीशा है। जीवन परिवर्तनशील है। साहित्य अमर है। हमने अभी ऐसा अमर और मौलिक साहित्य बहुत कम रचा है। आज बंगाल अपने साहित्य पर गर्व कर सकता है, परन्तु राष्ट्रभाषा के हिमायती भी संसार को कुछ मौलिक विचार भेंट करने के अरमान तो रखते हैं। हमारे लेखकों और साहित्यकारों की इज्जत न केवल भारत में बल्कि तमाम मुल्कों में हो और हमारे साहित्य से संसार में हमारा सर ऊंचा रहे, यह हमारी पवित्र अभिलाषा है।'

भाषा

हिन्दी-उर्दू

'संस्कृति के संगठन की बात कहते समय मुझे हिन्दी और उर्दू के मेल-मिलाप की बात भी याद आ जाती है। हमें अपनी अलग-अलग संस्कृतियों का एकीकरण करना होगा और उन सबके अमृत-मंथन से हमारी एक आदर्श संस्कृति का निर्माण होगा। इसलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है हिन्दी और उर्दू का ऐक्य। दोनों पक्ष के विद्वानों से मेरी दरखास्त है कि वे एक दूसरे के नजदीक आने की कोशिश करें। अपने भीतरी मतभेदों और विचारों की खाई और चौड़ी न करें। जरा-सी समझदारी से हम अपने बीच के मतभेदों की खाई को पाट सकते हैं और हमारे इत्तिफाक का असर सिर्फ हमारी सामाजिक और राजनैतिक कठिनाइयों को हल करने पर भी नहीं होगा, बल्कि एक ऐसी संस्कृति बनाने में भी सहायक होगा, जो मनुष्य-जाति के लिए आदर्श हो सकती है।'

राष्ट्रभाषा

'देश की शक्ति बढ़ाने में साहित्य और शिक्षा का स्थान कितना महत्व-पूर्ण है, इसका मुझे खयाल है। इसलिए शिक्षा-शास्त्री और साहित्य-सेवियों के साथ प्रेम और मित्रता का संबंध जोड़ने की मैं हमेशा से कोशिश करता आया हूं। लेकिन साहित्य न तो मेरा क्षेत्र है, और न साहित्य-सम्मान हासिल करने की मुझे कभी इच्छा या आशा ही रही है। हां, मुझे बचपन से हिन्दुस्तान के लिए एक राष्ट्रभाषा की तो आवश्यकता जरूर मालूम होती है—खासकर

१९०६ की ऐतिहासिक कलकत्ता-कांग्रेस के समय से। मैं इस कांग्रेस में शरीक हुआ था। स्व० दादाभाई नौरोजी की सदारत में उस कांग्रेस का सारा काम अक्सर अंग्रेजी में ही हुआ, जो मैं बहुत कम समझ पाया था। उस समय मन में ये विचार आये कि यह कितने दुःख और चिंता की बात है कि हिन्दुस्तानी होते हुए भी अपने ही देश में हमें आपस में एक विदेशी भाषा द्वारा काम-काज करना पड़ता है।'

.. .. ..

'जनता की सेवा करते-करते आज २५-३० साल के तजुरबे से मैं यह साफ देखता हूं कि बिना राष्ट्रभाषा के प्रचार के हमारा लोक-संगठन हो ही नहीं सकता। हमारी संस्कृति का रक्षण और विकास रुक जाता है।'

.. .. ..

'हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दी ईमान की भाषा है, प्रेम की भाषा है, राष्ट्रीय एकता की भाषा है और आजादी की भाषा है। यह सब ताकत हिन्दी में प्रकट करने को जिम्मेदारी हम सभीकी है।'

.. .. ..

'भारत के कोने-कोने में राजस्थानी, गुजराती कच्छी और मुसलमान लोग व्यापार करने के इरादे से जाकर बस गये हैं। इनकी बोल-चाल की भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी होने के कारण ` जहां-जहां गये, वहां जान या अन-जान में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रभाषा का कुछ-न-कुछ प्रचार हुआ ही है। अफसोस तो इस बात का है कि आज भी हमारे प्रांतीय और अन्त-र्प्रांतीय तिजारती कारोबार में हमें अंग्रेजी का सहारा लेना पड़ता है। अगर हमारे व्यापारी मित्र विदेशी भाषा की गुलामी से ऊपर उठकर राष्ट्रभाषा में अपने कारोबार चलाने का इरादा कर लेंगे तो उनको सहूलियत होगी और राष्ट्रभाषा के प्रचार का पुण्य भी वे हासिल कर सकेंगे।'

लिपि

'भाषा के साथ-साथ लिपि के बारे में भी हमें एक-दूसरे के प्रति उदारता और सहिष्णुता से काम लेना होगा। माना कि देवनागरी लिपि ही वैज्ञानिक

है, फिर भी हिन्दू विद्वानों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अरबी लिपि का अध्ययन करें और मुसलमान आलिमों का भी यह फर्ज हो जाता है कि वे देवनागरी को अपनावें। इसमें कोई बड़ी मुसीबत या दिक्कत पेश आनेवाली नहीं है।'

पत्रकारिता

'अखबारवालों का स्मरण होते ही मुझे एक खयाल आता है। हमारे लोगों ने बड़ी योग्यता से अंग्रेजी में अखबार चलाकर देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा बहुत-कुछ घटा दी है। आज अगर जनता की भाषा को कोई अधिक-से-अधिक अपमानित करते हैं तो वे हमारे ही देशी अखबारवाले हैं, जो भाषा में करीब-करीब अंग्रेज ही बन गये हैं। अब तो नन्हे-नन्हे बालकों के लिए भी अंग्रेजी में पत्र निकालने तक की नौबत आ पहुंची है।

'इससे भी ज्यादा खेद की बात तो है हिन्दी के अखबारों में पाया जाने वाला सुरुचि का अभाव। बहुत-से अखबार ऐसे हैं, जिनके विज्ञापन इतने गन्दे होते हैं कि हम अपनी बहिन-बेटियों के हाथ में उन्हें देने में हिचकिचाते हैं। इस बहते हुए गन्दे प्रवाह को रोकना होगा। मेरी प्रार्थना है कि देशभर के देशी भाषाओं के अखबारवालों को अपना एक जबरदस्त संगठन बनाना चाहिए और देशी समाचार-पत्रों की योग्यता बढ़ानी चाहिए।'

.. .. ..

'मुझे पूरा विश्वास है कि निस्स्वार्थ भाव से जन-सेवा करते रहने से ही शीघ्र मोक्ष प्राप्ति हो सकती है। अगर मुझे कोई यह कहे कि इस तरह देश-सेवा करनेवालों को सौ जन्म में भी मोक्ष प्राप्ति नहीं होगी, तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं होती। एक प्रकार से आनन्द ही होता है। पवित्रता के साथ जन-सेवा करते-करते कई जन्म भी हो जावें तो क्या फिक्र? केवल विचार मनुष्य को इस बात का ही रखना चाहिए कि कहीं वह माया-जाल में फंसकर मनुष्य-जन्म के आदर्श को न भूल जाय और अभिमान में प्रवृत्त होकर इस नर-देह का पतन न करे।'

'जिन कर्मचारियों व कुटुम्बियों ने ईमानदारी और स्वार्थ-त्याग से मेरी

सेवा तथा व्यवहार किया है . . . . उनसे नम्रतापूर्वक यही निवेदन करूंगा कि अब वे अपना भविष्य का जीवन इस मायावी संसार में आजतक जैसे बिताते आये, वैसे बितावें। और यह नर-देह बहुत ही पुण्य कर्म से प्राप्त होता है, ऐसा जानकर सत्य को ही मुख्य धर्म और जन-सेवा को ही मुख्य कर्म समझकर अपने जीवन का परिवर्तन कर दें। . . . इस तरह अगर वे चलेंगे तो एक दिन अवश्य जीवन-मरण से छूट जावेंगे और परमात्मा की ज्योति में मिल जावेंगे। महात्मा गांधीजी के जीवन को आदर्श मानें इतना निवेदन कर फिर उनकी आत्माओं से क्षमा प्रार्थना करता हुआ परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि उन सबको अवश्य सद्‌बुद्धि प्रदान करे।

'मेरे पूज्य व परम स्नेही मित्रों से अब मैं ज्यादा नहीं कहना चाहता। कारण, मेरे कई मित्रों के कारण ही अगर मैं थोड़ा-बहुत मनुष्य कर्त्तव्य समझ सका हूं तो समझा हूं। उन्हें कोई बात कहना विनय का खून करने के समान है। मैं केवल उनसे नम्रतापूर्वक माफी चाहूंगा और उनकी संगति से जो लाभ मुझे पहुंचा है उसके लिए परमपिता से यही प्रार्थना करता हूं कि उसका प्रतिदान उन्हें मिले।

'मेरे भारत के होनहार बालको तथा नवयुवको! तुम्हारी बालकपन की व जवानी की उम्र बहुत ही जोखम से भरी हुई है, इसलिए उस उम्र को आदर्श, सच्चरित्र महानभावों के संग से व उपदेश से बिताना अपना धर्म समझो।'

दो स्मरण

(विनोबा)

आज जमनालालजी का सातवां पुण्यदिन है और गांधीजी की मृत्यु का तेरहवां दिन है। ऐसा यह एक योग श्रद्धालु मनुष्य के ध्यान में आता है। जानकीदेवी ने याद दिलाई कि जमनालालजी से अंतिम बार मिलने के लिए आज के दिन और इसी समय गांधीजी यहां आये थे। उसी तरह गांधीजी के देह की रक्षा सेवाग्राम से आज यहां पहुंच गई है। मतलब इतना ही है कि उन दोनों महापुरुषों के जीवन एक दूसरे में समरस होगये थे। आज के इस योग से यह सिद्ध करने की जरूरत नहीं है। उनके जीवन ही यह बताते हैं।

गांधीजी यहां—वर्धा—आकर पंद्रह साल रहे। उन्हें लाने का श्रेय जमनालालजी को ही है। जहां-जहां से जो-जो पवित्रता वर्धा में लाई जा सकी, जमनालालजी लाये। वे भगीरथ की तरह यहांपर गंगा लाये और वर्धा को एक क्षेत्र बनाया। यहां जो अनेक संस्थाएं दिखाई देती हैं वे सब जमनालालजी की ही कृति हैं। गांधीजी विचार करें और जमनालालजी उसे अमल में लायें, ऐसा उनका रिश्ता था। आज जमनालालजी के कुछ पत्र देख रहा था। एक पत्र में उन्होंने लिखा है, 'गांधीजी का मार्ग-दर्शन हमें उत्तम मिला है। उनके बताये मार्ग से यदि निष्काम जन-सेवा की तो इसी जन्म में मोक्ष को पा सकेंगे। इसी जन्म में मोक्ष न प्राप्त हुआ तो भी कोई चिंता की बात नहीं। अनेक जन्म लेकर सेवा करते रहने में भी आनंद है। बुद्धि शुद्ध रहे तो बस है।" अपनी दैनंदिनी में उन्होंने यह लिखा है।

वर्धा की सेवा उन्होंने कितने प्रेम से की! केवल स्वदेशी-धर्म के लिए उन्होंने वर्धा पर प्रेम किया। तुलसी-रामायण में से भरत का चरित्र उन्हें बहुत अच्छा लगता था। गांधीजी को भी वह बहुत प्रिय था। अपने देश का 'भारतवर्ष' नाम भी भरत से संबद्ध है। राम के पास रहने को न मिला,

फिर भी भरत राम का नाम लेकर उनका काम करता रहा । यह राज्य राम का है, ऐसा मानकर वह उसे चलाता था । कवि ने वर्णन किया है— रामचंद्र वन में गये । तपश्चर्या करके कृश बने । भरत अयोध्या में रहकर ही तपश्चर्या से कृश बना । एक की तपश्चर्या वन में हुई, दूसरे की नगर में । "रामचन्द्र वनवास पूरा करके अयोध्या लौट आये । भरत से मिले । तब यह नहीं पहचाना गया कि वन से आया हुआ कौन है और नगर से आया हुआ कौन है ।" ऐसा यह भरत का चरित्र उन दोनों ने अपने सामने आदर्शरूप रखा था । अब जमनालालजी गये और गांधीजी भी गये हैं । वर्धा के हम और आप नागरिक, जिनकी उन्होंने निरंतर सेवा की, उनके पीछे उनकी पुण्य-तिथि का दिन मना रहे हैं । इसमें उनके लिए हम कुछ भी नहीं करते । वे तो अपने उत्तम कर्मों से ही पुण्यगति को पा गये हैं । हम अपनी चित्तशुद्धि के लिए यह सब करते हैं ।

जमनालालजी और गांधीजी दोनों ने जाति, धर्म आदि किसी प्रकार के भेद न रखते हुए मनुष्य-मात्र सब एक हैं, ऐसा समझकर सेवा की । गरीबों से एकरूप होने का निरंतर यत्न किया । "परहित बस जिनके मन माहीं, तिन कहं जग दुर्लभ कछु नाहीं ।"—तुलसीदासजी के इस वचन के अनुसार परहित का आचरण करके दुनिया का सबकुछ उन्होंने साध्य किया । ऐसे ये दो आदर्श पुरुष हमारे सामने ही होगये ।

हम अपना स्वार्थ सम्हालें, ऐसी साधारण मनुष्य की भावना होती है । लेकिन कौन-सा स्वार्थ तुम सम्हालोगे ? शरीर एक दिन छोड़कर जाना ही है तो वह लोक-सेवा में चंदन की तरह घिसवाना चाहिए । जबतक चंदन घिसता नहीं तबतक सुगंध नहीं निकलती । चंदन यदि घिसेगा ही नहीं तो फिर सुगंध कहां ? तब दूसरे पेड़ और चंदन में अंतर ही क्या ? हमने यदि सेवा न की तो मनुष्य-जन्म में आकर क्या साधा ? खाने-पीने और मजा करने में ही यदि सार्थकता मान ली तो फिर जानवर और मनुष्य में क्या फर्क रहा ? महापुरुषों के नाम हम लेते हैं ? वह क्यों ? इसीलिए कि वे अपनी देह की चिंता छोड़कर सारी दुनिया के हित की चिंता करते थे । हर रोज शाम

को सोने से पहले विचार करना चाहिए कि आज मैंने अपनी देह के लिए तो कई काम किये हैं, पर दुनिया के लिए क्या किया है ? क्या किसी बीमार की सेवा की है ? या कहींकी गंदगी साफ की है ? या किसी दुःखी को सुख दिया है ? या किसीको कुछ मदद दी है ? इस तरह का विचार छोटे लड़कों, को बूढ़ों को, युवकों को, स्त्री-पुरुष सबको करना चाहिए ? दिनभर में परोपकार का कुछ काम न किया होगा तो वह दिन बेकार गया, ऐसा समझना चाहिए और कुछ-न-कुछ सेवा करके ही सोना चाहिए।

मेरी आप सब लोगों से प्रार्थना है सब अपना जीवन परोपकार में लगा दें और लोगों से यह कहलवाएं कि "यह तो मर गया, लेकिन हमारे लिए घिसकर मर गया।"

जमनालालजी-श्राद्ध-दिन,
गोपुरी : ११ फरवरी, १९४८

'गांधीजी को श्रद्धांजलि' से—

●

देह आत्मा के विकास के लिए है, परन्तु जिनका आत्मा विशेष उन्नत हो जाता है, उनके विकास के लिए देह में पर्याप्त गुंजाइश नहीं होती। उनका वह विशाल आत्मा देह के माप में समाता ही नहीं। तब देह को फेंककर देह-रहित अवस्था में ऐसे आत्मा अधिक सेवा करते हैं। ऐसी स्थिति जमनालालजी की हुई है। कम-से-कम मैं तो देख रहा हूं कि उन्होंने आप-की और मेरी देह में प्रवेश किया है। ऐसी मृत्यु जीवित मृत्यु है। मृत्यु भी जीवित हो सकती है और जीवन भी मृत हो सकता है। जीवित मृत्यु बहुत थोड़ों की ही होती है। वैसी यह जमनालाल की मृत्यु है।

—विनोबा